पुस्तक माला की भूमिका

(मुख्य संपादक की ओर से)

१९१४–१८ के महायुद्ध के शीघ्र बाद अर्थशास्त्र की ऐसी प्रास्ताविक हस्तपुस्तकों (hand books) की एक माला (series) की आवश्यकता अनुभव होती थी जो "साधारण पाठक को और अदीक्षित (uninitiated) विद्यार्थी को उन सामान्य वैचारिक सिद्धान्तों का कुछ बोध करा दें जिन्हें अर्थशास्त्री आज आर्थिक समस्याओं पर चरितार्थ करते हैं।"

इस माला की योजना 'केम्ब्रिज अर्थशास्त्र-हस्तपुस्तकें' इस शीर्षक के नीचे स्वर्गीय लार्ड कीन्स ने बनाई थी, और उन्होंने इसके लिए एक सामान्य सम्पादकीय प्रस्तावना लिखी थी जिसका ऊपर उद्धृत शब्द एक भाग थे। १९३६ में लार्ड कीन्स ने माला का सम्पादकत्व श्री डी० एच० रॉबर्टसन को सौंप दिया, जिन्होंने लंदन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर बनने तक इसे संभाला।[१]

माला का जो भव्य स्वागत हुआ है उसने इसके जन्मदाताओं की कल्पना का औचित्य सिद्ध कर दिया है। ब्रिटिश साम्राज्य में इसके परिचलन के अतिरिक्त, यह प्रारम्भ से ही संयुक्त राज्य अमरीका में प्रकाशित होती रही है और इसके मुख्य ग्रन्थों के अनुवाद अब तक जर्मन, स्पेनिश, इटालियन, स्वीडिश, जापानी, पोलिश और लिथुआनियन भाषाओं में प्रसिद्ध हो चुके हैं।

निकट काल में आर्थिक विज्ञान में जो परिवर्त्तन आते रहे हैं, जिन परिवर्त्तनों के साथ स्वयं लार्ड कीन्स के कार्य और प्रभाव का गहन सम्बन्ध है, उनका यह लाक्षणिक है कि १५ वर्ष की अल्पावधि में ही मूल संपादकीय प्रस्तावना के भाग के पुनरीक्षण की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है। मूल संस्करण में माला की प्रस्तावना का अन्तिम पैरा इस प्रकार था—

"सिद्धान्त के प्रश्नों पर भी प्राध्यापकों में अभी तक पूर्ण मतैक्य नहीं है।

---

१. प्रोफेसर रॉबर्टसन अब केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक पद पर आसीन हैं।

सामान्यतः, इन ग्रन्थों के लेखक स्वयं को अर्थशास्त्र के केम्ब्रिज सम्प्रदाय के परम्परानिष्ठ सदस्य मानते हैं। किसी भी अवस्था में विषय के सम्बन्ध में इनके अधिकांश विचार, और इनके पूर्वाग्रह (prejudices) भी, डॉ० मार्शल और प्रोफेसर पिगू, अर्थात् केम्ब्रिज विचार-धारा को गत पचास वर्षों में मुख्य रूप से प्रभावित करने वाले दो अर्थशास्त्रियों, के लेखनों तथा भाषणों के साथ इनका जो सम्पर्क रहा है, उसमें से निकलते हुए देखे जा सकते हैं।"

जब माला का सम्पादकत्व श्री डी० एच० राबर्टसन को हस्तांतरित हुआ तो लार्ड कीन्स ने अपनी सामान्य प्रस्तावना के जारी रखने की अनुमति दे दी किन्तु तत्पश्चात् अन्तिम पैरे को इस रूप में पुनः लिखा—

"सिद्धान्त के प्रश्नों पर भी विषय के वृत्तिक (professional) विद्यार्थियों में अभी तक पूर्ण मतैक्य नहीं है। महायुद्ध के तुरन्त बाद आर्थिक घटनाएँ इतनी रोमांचकारी थीं कि सैद्धान्तिक जटिलताओं से ध्यान बरबस हटा जाता था। किन्तु आज आर्थिक विज्ञान उस अन्धड़ में से निकल आया है। प्रश्नों के परम्परागत प्रतिपादनों और परम्परागत समाधानों पर शंका उठाई जा रही है, उन्हें सुधारा जा रहा है, उनका पुनरीक्षण हो रहा है। अन्त में अन्वेषण की इस गतिविधि से विवाद की धूल शान्त हो जानी चाहिए। किन्तु अभी तो विवाद और संशय वृद्धि पर हैं। इस माला के लेखक सामान्य पाठक और आरम्भक से क्षमाप्रार्थी होंगे यदि उनके विषय के कई भाग निश्चितता और विशदता की उस अवस्था तक नहीं पहुँचे हैं जिस पर वे सीधी व सुगम पाठ्यसामग्री बन जाते।"

उसके भी बाद की घटनाओं ने जिस संसार को जन्म दिया है वह उपर्युक्त शब्द लिखे जाने के समय के संसार से इतना भिन्न है कि एक नई प्रस्तावना देने का भार वर्त्तमान सम्पादक के ऊपर आ पड़ा है।

इस देश में आर्थिक विचारधारा के, गत तीस वर्षों में हुए विकास की मुख्य दिशाओं के एक अति संक्षिप्त सिंहावलोकन के लिए वर्त्तमान स्थान संभवतः बहुत अच्छा है। १९१४ के पूर्व, आर्थिक सिद्धान्त पर यहाँ ऐल्फ्रेड मार्शल का बहुत प्रभाव था। उनका अनुकरण करते हुए अर्थशास्त्री आर्थिक

व्यवस्था के विभिन्न अंगों की साम्यावस्था (equilibrium) की ओर ले जाने वाली दीर्घकालीन प्रवृत्तियों की भाषा में विचार करते थे यद्यपि सदा विद्यमान गतिशील कारक तात्कालिक रचना को निरन्तर बदलते रहते थे और सदा नए तथा उतने ही दूरस्थ लक्ष्यों को परिवर्त्तन और समायोजन के उद्दीपकों के रूप में प्रस्तुत करते रहते थे। और भी, मार्शलीय व्यवस्था में ये प्रवृत्तियाँ उन निरन्तर अन्तर्निहित शक्तियों के कार्य के परिणामस्वरूप प्रकट होती थीं जिन्हें मुख्यतया स्पर्द्धात्मक प्रकृति वाली समझा जाता था। एकाधिकार की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति विचारधारा पर भी अवश्यमेव प्रभाव डालती थी, किन्तु उतना मूल्य के सिद्धान्त में नहीं जितना उस बल में जो निजी हित तथा सामाजिक हित के मध्य में सम्भव विभेदों पर दिया जाने लगा। पुरानी पीढ़ी के मूल्य-अर्थशास्त्र (Value Economics) के साथ-साथ पर उससे पृथक्, प्रोफेसर पिगू के प्रभाव में एक क्षेम-अर्थशास्त्र (Welfare Economics) विकसित हो रहा था।

१९१८ के पश्चात् मन्दीग्रस्त क्षेत्रों की देर तक खिंची हुई यन्त्रणा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस देश की स्थिति का दुर्बल पड़ना और १९३०–३२ के आर्थिक संकट काल की भयंकर गहनता (बहुत से कारणों में से थोड़े से कारणों का उल्लेख करना हो तो), इन्होंने मिलकर एक ओर अल्पकाल की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया और दूसरी ओर, इस विषय में सन्देह उत्पन्न कर दिया कि कहाँ तक वह स्वयं-व्यवस्थापी (self-adjusting) प्रकृत्या तया स्वचालित यंत्र जो उन्नीसवीं शताब्दी में, सब मिलाकर इतनी प्रभाविता के साथ कार्य करता रहा था, युद्धोत्तर विश्व के गहरे पैठे हुए कुसमायोजनों (maladjustments) और असंगतियों (disharmonies) को ठीक कर सकेगा। साथ ही साथ स्वयं मूल्य सिद्धान्त भी ऐसे कुछ लेखकों के प्रकट होने से अत्यन्त प्रभावित हुआ जिन्होंने मूल्य-सम्बन्धी समस्याओं का एकाधिकार के दृष्टिकोण से विचार किया और उस विश्लेषण की अयथार्थवादी प्रकृति पर बल दिया जो पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण बाजार के अभिधारणों (assumptions) पर आधारित था। किन्तु सब से बढ़ कर, आर्थिक विचारधारा

इस इच्छा से अति प्रभावित थी कि प्रभावी मांग के स्तर को ऐसा बनाए रखने की समस्या को कैसे सुलझाया जाए कि जिससे गहरी मंदी और व्यापक बेकारी की आवर्तक प्रावस्थाओं (recurrent phases) से बचा जा सके। उस दीर्घकालीन अर्थशास्त्र के प्रति "जिसमें हम सब मर चुके होंगे" अधीरता की भावना बढ़ रही थी, और उस अल्पकाल पर ही सब विचार, चिन्ता और विश्लेषण का एक भारी, संभवतः अतीव केन्द्रण हो रहा था जिसमें हम जीवित रहते है, चलते फिरते है और अपना अस्तित्व निभाते है।

इसका परिणाम था विचारों का एक असाधारण उफ़ान, पुरानी रूढ़ियों को चुनौती और "विवाद तथा संशय में तात्कालिक वृद्धि"। यह उफ़ान कोई शान्त नहीं हो चुका था जब १९३९ के सितम्बर में जर्मनी के साथ दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और अपने साथ आर्थिक व्यवस्था के शान्तिकालीन कार्य में राजकीय हस्तक्षेप की इतनी बड़ी मात्रा लाया जो १९१४-१८ के महायुद्ध के अन्तिम वर्षों की तुलना में भी बहुत अधिक थी।

जहाँ तक भावी प्रवृत्तियों का पूर्वानुमान संभव है, वे आर्थिक गतिविधि के कई पक्षों पर भूतकाल में जितना रहा है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक सचेतन सार्वजनिक नियन्त्रण की दिशा में दिखाई देती हैं। यह निस्सन्देह फिर भी सत्य रहेगा कि, लार्ड कीन्स की प्रस्तावना को फिर से उद्धृत करते हुए :

"अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में ऐसे निश्चित निष्कर्ष प्राप्त नहीं है जिनका नीति में तत्काल प्रयोग हो सकता हो। यह एक सिद्धान्त नहीं वरन् एक रीति है, मस्तिष्क का एक यन्त्र तथा विचार की एक शैली है जो अपने स्वामी को सही निष्कर्षों को प्राप्त करने में सहायता देती है।"

तथापि, अर्थशास्त्रियों को आर्थिक नीति के प्रश्नों पर अपने विचार देने की आवश्यकता अब तक की अपेक्षा आगे अधिक पड़ सकती है, और कम से कम एक समय तक केम्ब्रिज अर्थशास्त्र-हस्तपुस्तकों के भावी ग्रन्थों के लेखकों का सम्बन्ध आर्थिक सिद्धान्त के अधिक सामान्य पक्षों की अपेक्षा, विशिष्ट समस्याओं के साथ अधिक रह सकता है।

केम्ब्रिज,

जुलाई, १९४६

सी० डब्ल्यू० जी०

प्राक्कथन

परम्परा से प्राक्कथन ऐसा स्थान है जहाँ लेखक आलोचकों को पहले ही निश्शस्त्र करने के उद्योग में इसकी व्याख्या करता है कि अन्य कोई पुस्तक लिखने की अपेक्षा, जिसे वे सम्भवतः अधिक पसन्द करते, उसने जो पुस्तक लिखी है वही क्यों लिखी है। गत कुछ वर्षों में उन विषयों के विस्तार के कारण जो औचित्य के साथ सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र के अन्तर्गत माने जा सकते हैं, यह सावधानी पहले से कहीं अधिक आवश्यक हो गई है।

इसमें सामान्य सहमति है कि सार्वजनिक वित्त अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक भाग है; अतः अपना विषय चुनने में मैंने मुख्यतया अर्थशास्त्रियों के हित का ही विचार किया है। उनमें से कुछ यह आपत्ति उठा सकते हैं कि यदि ऐसा है तो पुस्तक वित्तीय प्रशासन और लेखांकन की समस्याओं में अत्यधिक उलझी हुई है। सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी पुस्तकों के परम्परागत रंगरूप की तुलना में, बल में यह अन्तर जान-बूझ कर रखा गया है। शासन के आर्थिक कर्त्तव्यों के विस्तार के साथ वित्त का, सार्वजनिक लेखांकन का और व्यय के नियन्त्रण का प्राविधिक पक्ष एक नया महत्त्व प्राप्त करता जा रहा है। जैसे-जैसे वृत्तिक (professional) अर्थशास्त्री शासकीय नीति को आकार देने के कार्य और उसके प्रशासन में अधिकाधिक प्रत्यक्ष भाग ले रहे हैं, प्रशासी यन्त्र के जिन भागों से उनका विशेष सम्बन्ध आता है उनके कार्यकरण का एक सामान्य ज्ञान उनकी सज्जा (equipment) का एक आवश्यक अंग बन जाता है (अथवा मुझे ऐसा लगता है)। प्रयुक्ति (application) में, और जितना वर्णन आवश्यक रहा है उसमें मेरा मुख्य और अनिवार्य सम्बन्ध ब्रिटिश संस्थाओं के साथ रहा है, परन्तु जब भी संभव हुआ है मैंने अन्य व्यवस्थाओं के दृष्टान्त लेने का प्रयत्न किया है।

प्रशासी पक्ष (administrative side) में इस विस्तार के कारण पुस्तक के आधार को उचित मर्यादा में ही रखने की दृष्टि से यह आवश्यक रहा है कि अन्य दिशाओं में इसकी काफी काट-छाँट की जाए। जो वस्तुएँ छोड़ी गई हैं वे भी जान-बूझ कर, वे सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र के सीमावर्ती भाग हैं जिनकी कृषि उन पड़ोसी क्षेत्रों के अन्तर्गत सब से अच्छी प्रकार हो सकती है जिनके वे उतने ही भाग हैं जितने सार्वजनिक वित्त के। सीमावर्ती भागों में से तीन इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन पर संक्षिप्त टीका की आवश्यकता है।

प्रथमतः, हमारी चर्चा मुख्य रूप में शासकीय निकायों (governing bodies) के साथ सम्बद्ध है। समाजीकृत उद्योग के वित्तीय प्रश्नों से पृथक्, सार्वजनिक बोर्डों के, और सार्वजनिक उपयोगिताओं के आर्थिक प्रश्न (उदाहरणार्थ मूल्य व व्यय नीति), हमारे विचाराधीन नहीं आए, सिवाय सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए एक व्यवस्थित नीति में जो उन का स्थान होगा उसके सम्बन्ध के, जिसकी चर्चा भाग ३ में की गई है। सार्वजनिक अर्थशास्त्र की समस्याओं का सांगोपांग विचार अत्यन्त आवश्यक है किन्तु वह सार्वजनिक वित्त-सम्बन्धी एक पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में नहीं दिया जा सकता।

द्वितीयतः, मैंने सार्वजनिक उधार और ऋण-व्यवस्थापन की प्रक्रिया की प्रावैधिक (Technical) चर्चा छोड़ दी है। यह सीमा लगाना अनुचित प्रतीत हो सकता है, क्योंकि बैंक आफ़ इंगलैंड के राष्ट्रीयकरण से सार्वजनिक और निजी वित्त के मध्य की रेखा इस क्षेत्र में पर्याप्त बाहिर की ओर सरक गई दीखती है। यह छूट भी कुछ तो स्थान की कमी के कारण हुई है परन्तु अधिक इस कारण कि इस प्रकार की पुस्तक में प्रावैधिक ब्योरा देने से मुद्रा व साख की संस्थाओं का ऐसा वर्णन और व्याख्या आवश्यक हो जाएगी जो मुद्रा और वित्त के क्षेत्र में रखी जानी अधिक योग्य है। बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद भी, यह उचित है और कई तरह से सुविधाजनक भी कि मुद्रा-सम्बन्धी परिस्थिति में जो परिवर्त्तन सार्वजनिक प्राधिकारियों के, उस परिस्थिति को बदलने के लिए किए गए प्रयत्नों के कारण आते हैं उनमें, और जो परिवर्त्तन

सार्वजनिक निकायों की अन्य लक्ष्यों की खोज में होने वाली गतिविधि के कारण आते हैं, उनमें विभेद किया जाए। मैंने पूर्वोक्त को छोड़ने और उत्तरोक्त को सम्मिलित करने का प्रयास किया है।

तीसरी छूट को वर्त्तमान स्थिति में सम्भवत: सब से कम क्षम्य अनुभव किया जाएगा। अर्थशास्त्रियों को इसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजकोषीय सम्बन्धों की पर्याप्त व्याख्या नहीं मिलेगी। मुझे सब से अधिक यहाँ ऐसा लगता है कि राजकोषीय वार्त्ता की चर्चा, उन अन्य कारकों से पृथक् रूप में, जो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का निर्माण करते है, उपयोगी नहीं हो सकती। न ही नीति के उन अन्य यन्त्रों—मुद्रा-सम्बन्धी और विनिमय क्रिया (exchange action) एक ओर प्रत्यक्ष नियन्त्रण (direct controls) दूसरी ओर—से असम्बद्ध रखते हुए, जिनके द्वारा कोई राष्ट्र विश्व अर्थ-व्यवस्था में अपने पाँवों पर खड़ा रहने का प्रयास करता है, उसका कोई उपयोग होगा। मैं यदि एक बार इस क्षेत्र में पैर रख लेती तो रुकने के लिए कोई उपयुक्त स्थान न मिलता।

इस पुस्तक का एक पहला प्रारूप (first draft) लिवरपूल विश्वविद्यालय में 'स्कूल आफ़ स्पेशल स्टडीज़ इन इकनॉमिक्स (School of Special Studies in Economics) के पाठ्यक्रम का एक भाग था। पुस्तक के जो भाग प्रशासन के निकटवर्ती हैं उनके सम्बन्ध में सम्मति के लिए मैं मानचेस्टर विश्वविद्यालय में सार्वजनिक प्रशासन के व्याख्याता (Lecturer in Public Administration) श्री हेनरी हार्टले की बहुत कृतज्ञ हूँ। यदि कोई प्रशासनिक भूलें रह गई है तो यह उनका दोष नहीं है।

सदा की तरह, मुझ पर मुख्य ऋण मेरे पतिदेव का है। चर्चा का पर्याप्त बड़ा भाग, क्रमश: स्थानीय वित्त और युद्ध-वित्त में हमारे सम्मिलित कार्य में से निकला हुआ है। कर आपात के सिद्धान्त के बड़े भाग के लिए (विशेषतया अध्याय १० में) मैंने उनके प्रकाशित ग्रन्थ का बहुत उपयोग किया है, और उससे भी अधिक, कठिन पदों की असंख्य चर्चाओं के लिए उनके समय का। सब से घटिया बात यह कि मै अध्याय ७ में, अपने दृष्टिकोण के स्वरूप के

कारण, सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के खेत की पहली और अनिवार्यतः अपरिपक्व उपज को लेने के लिए विवश हो गई हूँ, जिस में स्वयं उन्हें भी अभी तक कृषि के पहले कार्यों तक को करने के लिए समय नहीं मिला है। इसके लिए मुझे उनसे हार्दिक क्षमायाचना करनी है।

ऑक्सफ़ोर्ड,
अप्रैल, १९४९

उर्सुला के० हिक्स

अनुवादक के दो शब्द

श्रीमती हिक्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक "सार्वजनिक वित्त" को हिन्दी जगत् के लिए प्रस्तुत करने में निमित्त बनने के अवसर को मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। अनुवादक का कार्य एक दृष्टि से सरल है। उसे इस बात की सफाई देने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि पुस्तक में क्या कुछ सम्मिलित किया गया है और क्यों, तथा क्या कुछ छोड़ा गया है और किस कारण। परन्तु एक अन्य दृष्टि से वह कठिनाई के दो पाटों के बीच में दबा होता है। एक ओर उसे लेखक के मूल भाव के साथ न्याय करना होता है और दूसरी ओर पाठकों की सुविधा की चिन्ता करनी पड़ती है। आज के अन्तरिम काल में जब हिन्दी में "स्टैंडर्ड" प्राविधिक शब्द अभी बन ही रहे हैं और जब उनका सर्वपरिचित होना अभी दूर की बात है, यह कठिनाई और भी अधिक अनुभव होती है। यह उन विषयों में सब से अधिक सच है जो असामान्य रूप से "टेकनीकल" हों और उन ग्रन्थों में जो प्रारम्भिक से ऊँचे स्तर के हों। श्रीमती हिक्स की प्रस्तुत पुस्तक एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए स्वीकृत है, इसी से यह स्पष्ट है कि इसकी विषय-वस्तु का विश्लेषण बिलकुल प्रारम्भिक शब्दकोष की सीमाओं में रहते हुए असंभवप्राय है। हाँ, मैंने इसे अनावश्यक क्लिष्टता से बचाने की कोशिश की है। अनेक स्थानों पर परिशुद्ध और साहित्यिक शब्द प्रयोग रखने के प्रलोभनों की सुगमता की वेदी पर बलि चढ़ानी पड़ी है। पाठकों की आसानी के लिए जहाँ-तहाँ प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को ही स्वीकार कर लिया गया है। आवश्यकतानुसार मूल अंग्रेजी शब्द भी साथ रख दिए गए हैं।

अपनी पूरी सावधानी के बाद भी यदि कहीं अनुवाद में त्रुटि रह गयी हो तो अनुवादक को विदुषी लेखिका और अनुग्रही पाठक से क्षमा ही माँगनी होगी। वह मैं पहले ही माँग लेता हूँ।

पंजाब यूनिवर्सिटी (कैम्प) कालेज,
नई दिल्ली,
अप्रैल, १९५८

महावीर

विषय-सूची

तालिकाएँ

चार्ट

सार्वजनिक वित्त

पहला भाग

अध्याय १

राज्य—मालिक व उत्पादक के रूप में

(State as Employer and Producer)

१. **व्यक्तिगत उद्यम और सार्वजनिक सेवा** (Private Enterprise and Public Service)—ब्रिटेन व तत्समान ढाँचे वाले दूसरे देशों में जनसंख्या को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला तो उन लोगों का जो उपभोक्ताओं की वैयक्तिक आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष या परोक्ष, पूरा करने वाली वस्तुओं अथवा सेवाओं के उत्पादन से मिलने वाली आय पर निर्वाह करते हैं। उनका उत्पादन ये इस विश्वास पर करते हैं कि उपभोक्ता उनके बदले में इतना मूल्य देने के लिए तैयार होंगे जो उनके सतत उत्पादन के लिए पर्याप्त होगा। दूसरे वे लोग हैं जो एक दूसरे प्रकार की सेवाएँ (और कभी-कभी वस्तुएँ) उपलब्ध कराने में लगे होते है—ऐसी, जिनका रूप और प्रकार उपभोक्ता स्वयं नहीं तय करते, राजकीय संस्थाएँ निश्चित करती हैं। लोकतन्त्र (democracy) में नागरिकों के प्रतिनिधि उनका निश्चय करते हैं।

सार्वजनिक वित्त के अध्ययन में दूसरे समुदाय के लोगों की कार्रवाइयों से ही अधिकांश में हमारा सम्बन्ध आता है। इसके लोग भी, पहले भाग वालों के समान, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में लगे होते हैं परन्तु उन आवश्यकताओं में, सारी तो नहीं किन्तु बहुत सी इस प्रकार की होती हैं कि जिनको छोटी-छोटी इकाइयों में टुकड़े करके बाजार के तरीके से बेचा नहीं जा सकता। उदाहरणतः पुलिस-सुरक्षा इस प्रकार की सेवा है जो डिब्बों में बन्द कर बेचना असम्भव है। इसलिए इस प्रकार की आवश्यकताओं को सामूहिक रूप में ही उपलब्ध किया जाता है।

इस प्रकार की सेवाओं के बदले में उनके प्रयोग करने वाले सीधे-सीधे ढंग से कीमत नहीं दे सकते इस कारण उनके उत्पादकों की आय उपज की

बिक्री से प्राप्त नहीं होती। उसकी जगह इन "सार्वजनिक सेवाओं" का पुरस्कार करों की प्राप्ति में से दिया जाता है। "कर" होते हैं वैयक्तिक आयों में से शासकीय संस्थाओं को अनिवार्य रूप से दिलवाये गए वे भाग (compulsory transfers) जिनका उद्देश्य स्पष्टतः इस प्रकार की सामूहिक माँगों की पूर्त्ति होता है। व्यय उठाने के इस उपाय और बाजार-उपाय में मूलभूत अन्तर यह है कि इसमें एक व्यक्ति के ऊपर पड़े कर-भार (tax liability) और उसके द्वारा, सामूहिक रूप में उपलब्ध करवाई गई सेवाओं के उपभोग में कोई सम्बन्ध नहीं होता। न ही, कुछ अपवाद-स्वरूप उदाहरण छोड़कर, किसी एक कर की आय को किसी विशिष्ट सेवा की कीमत माना जा सकता है। जो कर दिए जाते हैं उनसे एक कोष एकत्र होता है, जिसको विभिन्न सार्वजनिक सेवाओं में बाँटने के निर्णय पूर्णतया पृथक् होते हैं।

पहले जिस भाग का उल्लेख हमने किया है उस "व्यक्तिगत उद्यम" के क्षेत्र में आने वाले कर्मकार (workers) भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेकों संगठनों के रूप में दिखाई देते हैं। उनमें अन्तर भी बहुत होता है। एक सिरे पर हमें ऐसे लोग मिलते हैं जो खेतिहरों की तरह स्वयं ही अपना धन्धा चलाने वाले हों और अपने परिवार के लोगों के अतिरिक्त विशेष किसी का सहयोग भी न लेते हों। दूसरे सिरे पर ऐसे लोग हैं जो सहस्रों लोगों को वेतन पर रखने वाली विशालकाय व्यापारिक संस्थाओं की नौकरी मात्र करते हैं। किन्तु छोटे हों चाहे बड़े, इन सभी व्यावसायिक संगठनों में एक समानता है कि एक-व्यक्ति संस्था क्या और बड़ी कम्पनी क्या, सब स्वतन्त्र इकाइयाँ होती हैं और सभी का प्रेरक हेतु लाभ-प्राप्ति होता है। जिन वस्तुओं अथवा सेवाओं के उत्पादन में ये सब लगे होते हैं उनमें तभी तक इनकी रुचि होती है जब तक उनके द्वारा प्राप्त होने वाली आय अन्य किन्हीं वस्तुओं अथवा सेवाओं से प्राप्त हो सकने वाली आय से अधिक है।

सार्वजनिक सेवा भी इन छोटे दलों में संगठित होती है—केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभाग, स्थानीय [बड़े नगरों की महानगरपालिकाओं (corporations), जनपदों, छोटे नगरों व देहातों की समितियों (councils) के] प्राधिकारी व उनके

विभाग। परन्तु ये सब दल स्वतन्त्र नहीं होते, वे केन्द्रीय व स्थानीय प्रशासनों के उपांगों के रूप में कार्य करते हैं और अन्ततः सभी संसद् (parliament) के अधीन होते हैं। व्यक्तिगत उद्यम के क्षेत्र वाले सभी दल जिस प्रकार उपभोक्ताओं की अनुमानित माँगों के अनुसार अपनी गतिविधियों को निरन्तर ढालते रहते हैं उस प्रकार इनकी चेष्टा नहीं रहती। इसके विपरीत, जो कुछ वे करते हैं, और अधिकांश में जिस प्रकार उसे करते हैं वह सब जिन संस्थाओं के वे नौकर हैं उनकी योजना और अन्ततोगत्वा संसद् के पूर्व-प्राप्त निश्चयों के अनुसार ही होता है। इसलिए इनकी हलचल में परिवर्त्तन तभी हो पाता है जब वे संस्थाएँ अपनी नीति के बदलने का निर्णय करें। विशिष्ट सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन व्यय के विचार से मुक्त होता है क्योंकि सरकार की कराधान-शक्ति निस्सीम होती है और उत्पादन बढ़ाना स्वीकार कर लेने के बाद आवश्यक द्रव्य सदा ही उपलब्ध किया जा सकता है।

किन्तु जनसंख्या को "व्यक्तिगत उद्यम" और "सार्वजनिक सेवा" के दो भागों में विभक्त करते हुए एक महत्त्वपूर्ण छूट देनी पड़ती है। "सार्वजनिक सेवा" के क्षेत्र में उन उद्योगों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जिनका राष्ट्रीयकरण किया गया हो (सार्वजनिक निगम—public corporation) और केन्द्रीय व स्थानीय सरकारों के व्यापार-विभागों को भी जो कि व्यक्तिगत उद्यम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की तरह ही अपना माल भी बाजार में बेचते हैं। यह स्वाभाविक ही नहीं, कुछ दृष्टियों से आवश्यक भी होता है।

यह तो सच है कि ये इकाइयाँ स्वतन्त्र नहीं होतीं परन्तु इनका संगठन शेष सार्वजनिक सेवाओं की अपेक्षा व्यक्तिगत उद्यम से ही मिलता-जुलता है। सार्वजनिक उद्यम (public enterprise) का प्रेरक हेतु भी मूलतः लाभ का ही होता है क्योंकि उसकी हलचल की दिशा और रूप-रेखा उपभोक्ताओं की माँगों के अनुमानों द्वारा ही निश्चित होती है। परन्तु व्यक्तिगत व सार्वजनिक उद्यम की यह समानता कई बार छिपी रह जाती है क्योंकि (जैसा कि ब्रिटेन में है) सार्वजनिक व्यापारी सेवाओं (public trading services) की योजना इस प्रकार की होती है कि उनकी सकल आय केवल व्यय

पूरा करके रह जाती है और उसमें लाभ या नफा नहीं होता जो कि व्यक्तिगत संस्थाएँ आवश्यक मानती हैं। और यदि कुछ घाटा पड़ जाए तो सार्वजनिक व्यवसाय होने के कारण अन्ततोगत्वा कराधान के द्वारा पूरा किया जा सकता है। अर्थात् इस प्रकार के साधारण भागीदारों के लिए इस योजना में कोई स्थान नहीं, जो कि घाटे का जोखिम लाभ प्राप्ति की आशा से उठाने के लिए तत्पर रहते हैं।

व्यक्तिगत व सार्वजनिक उद्यम का निकट सम्बन्ध इससे प्रकट है कि दोनों में कोई तर्क-संगत भेद-रेखा नहीं है। दृष्टान्त के लिए, ब्रिटेन में ही, गैस, पानी, बिजली और स्थानिक यातायात का प्रबन्ध, जो कि स्थानीय प्राधिकारियों का स्वाभाविक क्षेत्र है, कुछ सार्वजनिक उद्यम के द्वारा विकसित हुआ और कुछ व्यक्तिगत उद्यम के द्वारा। फिर, १९४८ में ब्रिटिश परिवहन आयोग बनाया गया ताकि वह दोनों रेलों (जिनको कि पर्याप्त नियन्त्रण के अधीन बडी कम्पनियाँ चला रही थीं) और सड़क वाहन को (जो कि प्रायः छोटी-छोटी संस्थाओं के हाथ में था) सँभाले। १९५४ में उक्त बी० टी० सी० (British Transport Authority) से दूसरा कार्य वापस ले लिया गया और सड़कों के परिवहन का उद्योग पुनः व्यक्तिगत उद्यम के अन्तर्गत आ गया। इसी प्रकार नागरिक हवाई यातायात (civil aviation) का विकास सार्वजनिक संस्था 'एयरवेज कार्पोरेशन' (Airways Corporation) और लाइसैंस-प्राप्त व्यक्तिगत कम्पनियाँ दोनों कर रही हैं।

किन्तु इस प्रकार की सेवाएँ उत्पादित करने वाली व्यक्तिगत संस्थाओं की और व्यक्तिगत उद्यम की अन्य संस्थाओं की स्वतन्त्रता में एक बड़ा महत्त्व-पूर्ण अन्तर है। इनका स्वरूप इतना एकाधिकारी होता है अर्थात् इनके कार्य में स्पर्द्धा का ऐसा अभाव होता है कि उन पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से नियन्त्रण रखने की आवश्यकता होती है, विशेषकर मूल्य-निर्धारण नीति के सम्बन्ध में। इन उद्योगों को इसी कारण "सार्वजनिक उपयोगिता" (public utility) की संज्ञा दी गई है। फिर भी इस महत्त्वपूर्ण आधार पर वे यथार्थ में व्यक्तिगत हैं कि उनकी पूँजी हिस्सेदारों (shareholders) की सम्पत्ति

होती है और डायरैक्टरों का चुनाव मालिक करते हैं।

अन्तर्युद्ध काल (inter-war period) में ब्रिटेन में एक नए प्रकार के अर्द्ध-सार्वजनिक उद्यम ने जन्म लिया जिसके प्रमुख उदाहरण केन्द्रीय विद्युत् बोर्ड (Central Electricity Board) और लन्दन यात्रीवाहन बोर्ड (London Passenger Transport Board) थे। इन "सरकारी निगमों"[1] का प्रबन्ध भी संचालक मण्डल (Board of Directors) के हाथ में होता था जो अधिकार व कर्त्तव्य की दृष्टि से निजी कम्पनियों के संचालकों के समकक्ष ही थे सिवाय इस अन्तर के कि वे सरकार द्वारा नियुक्त होते थे। १९४६ से १९४९ तक स्थापित उद्योगों का—जिनका राष्ट्रीयकरण हो चुका था—स्वरूप यही था। १९३० की दशाब्दी में चले सार्वजनिक कार्पोरेशन और बाद की इस रचना में बड़ा अन्तर यही है कि ये सब किसी न किसी मन्त्रालय (परिवहन मन्त्रालय — Ministry of Transport अथवा ईंधन व शक्ति मन्त्रालय—Ministry of Fuel & Power) द्वारा पुरस्कृत होती हैं, उससे सम्बद्ध रहती हैं तथा मन्त्री के निर्देशन के अधीन होती हैं। संसद् में वह मन्त्री उसके लिए उत्तरदायी रहता है। स्पष्ट है कि नए प्रकार का सार्वजनिक कार्पोरेशन सरकार की नीति का पहले के कार्पोरेशन की अपेक्षा अधिक एकीकृत अंग है परन्तु उत्पादन तथा विक्रय-व्यवस्था में वह प्राय: व्यक्तिगत उद्यम की कम्पनी के समान ही चलता है। इस प्रकार वह पुराने राष्ट्रीयकरण में आई उन सेवाओं से (जिनका उदाहरण डाक-विभाग है) भी भिन्न है जो शासन-यन्त्र के रूप में ही चलाई जाती हैं।

आज की परिस्थिति में सार्वजनिक निगम (public corporation) का ढाँचा अनेक प्रकार से उपयुक्त सिद्ध होता है। दूसरे देशों में इसे कई प्रकार के कामों के लिए लगाया गया है, जैसे कि एक ओर तम्बाकू जैसे किसी सरकारी

१. सरकारी निगम—पब्लिक कार्पोरेशन और पब्लिक कम्पनी में भ्रम नहीं होना चाहिए। 'पब्लिक कम्पनी' एक विशेष प्रकार के संगठन वाली प्राइवेट संस्था ही होती है जिसे अपने हिसाब-किताब को प्रकाशित करना पड़ता है। संयुक्त राज्य अमरीका में इस सावधानी की विशेष आवश्यकता है क्योंकि वहाँ "कार्पोरेशन" का वही अर्थ है जो ब्रिटेन में "कम्पनी" का।

एकाधिकार से आय उपार्जन के लिए, और दूसरी ओर सामाजिक पुनरुत्थान की विशाल योजनाओं में (जैसे संयुक्त राज्य की विख्यात टेनैसी वैली अथॉरिटी)। व्यापारी क्षमता और सरकारी नियन्त्रण को एकत्र लाने की दृष्टि से इसका उपयोग तो पुरानी बात है। सरकार के नियन्त्रण की मात्रा में भी बहुत अन्तर रह सकता है।

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थिति में "सार्वजनिक" और "व्यक्तिगत" के मध्य की रेखा को काफी लचीला रखना आवश्यक है। यदि ऐसा है तो सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र क्या समझा जाए? सुविधाजनक प्रायः यही होता है कि सामूहिक उद्यम को उसकी परिभाषा से बाहिर ही रहने दिया जाए, अर्थात् उसकी उपज व मूल्य-निर्धारण नीति को, क्योंकि विभिन्न उद्योगों में तत्सम्बन्धी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से ही लिये जाते हैं न कि सामाजिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से। इन उद्यमों के सामने निर्णय के लिए जो प्रश्न उपस्थित होते हैं वे व्यापारी संस्थाओं के प्रश्न होते हैं शासन-समितियों के नहीं। इसलिए सार्वजनिक वित्त का मुख्य भाग तो यही हुआ कि शासकीय निकाय (governing bodies) समाज की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो मार्ग अपनाते हैं और जिस प्रकार जरूरी द्रव्य का प्रबन्ध करते हैं उनकी छानबीन व परख।

किन्तु शासन करने वाले निकायों का ही नहीं, उन सभी संस्थाओं का हमें विचार करना होगा जिन पर कुछ न कुछ मात्रा में सरकार का नियन्त्रण है। यह इस कारण कि जब हम नीति के बड़े प्रश्नों का विश्लेषण करते हैं—जैसे कि राष्ट्रीय आय अथवा हित को अधिकतम करना जो कि सामूहिक रूप में सन्तुष्ट हुई आवश्यकताओं में ही सम्मिलित हैं—तो दिखाई देता है कि शासन न केवल सरकारी निगमों और दूसरी व्यापारी सेवाओं पर ही कुछ नियन्त्रण रखता है बल्कि वैयक्तिक स्वामित्व में रहने वाली सार्वजनिक उपयोगिताओं पर भी।[1]

---

१. सम्पूर्णता के लिए हमें सरकारी ऋण संस्थाओं को भी यहाँ सम्मिलित करना चाहिए चाहे उनकी समस्याएँ मुख्यतः द्रव्य-सम्बन्धी नीति की होती हैं, सार्वजनिक वित्त की नहीं।

२. **सार्वजनिक क्षेत्र और उसका वित्त** (Public Sector and its Finance)—लोकतन्त्र नाम से समझी जाने वाली व्यवस्था में राज्य (जिसका अर्थ है शासन से सम्बन्ध रखने वाले छोटे-बड़े सब निकाय) राष्ट्र के संगठन का एक विशिष्ट अंग होता है। आर्थिक और वित्तीय दृष्टि से विचार करते हुए राज्य का उल्लेख अर्थ-तन्त्र का "सार्वजनिक क्षेत्र", इन शब्दों से किया जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र के अतिरिक्त जो बचता है वह "व्यक्तिगत क्षेत्र" (private sector) के नाम से पहिचाना जाता है जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों के द्वारा निजी हित की दृष्टि से चलाई गई सब कार्रवाइयाँ अभिप्रेत होती हैं। वैसे तो राज्य का लक्ष्य भी आवश्यकताओं की पूर्त्ति होता है और इसी कारण सार्वजनिक वित्त अर्थशास्त्र का ही एक स्वाभाविक भाग होता है। यह भी उस आर्थिक समस्या का ही एक पक्ष है कि निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सीमित साधनों का योग्यतम उपयोग किस प्रकार हो। अन्तर इतना ही है कि यहाँ लक्ष्य बाजार में प्रकट हुई उपभोक्ताओं की माँगों द्वारा तय नहीं होते अपितु संसद् की शासन समितियों में उपस्थित जनता के प्रतिनिधियों व स्थानीय प्राधिकारियों (authorities) द्वारा निश्चित किए जाते हैं।

आज के युग में किसी राष्ट्र के सार्वजनिक क्षेत्र का संगठन बड़ा विशाल, जटिल और अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यह बात केवल उन्हीं देशों के विषय में (जैसे कि पश्चिमी लोकतन्त्रों में स्वीडन) नहीं है जिनमें दीर्घकाल से सार्वजनिक स्वामित्व की परम्परा चली आती है बल्कि ब्रिटेन और संयुक्त राज्य जैसे देशों के विषय में भी है जिनकी परम्परा पहले राज्य निर्बाध नीति

जिनका सार्वजनिक वित्त नीति के परिपालन के साथ अधिकतम सम्बन्ध आता है वे होती हैं दीर्घकालीन ऋण देने वाली संस्थाएँ जो सार्वजनिक नियोजन (Public Works Loans Board) और स्वीकृत वैयक्तिक विनियोग (investment) (जो कार्य बैंक ऑफ इंग्लैंड और राजकीय कोषागार विभाग द्वारा पुरस्कृत कई संस्थाएँ करती हैं)। पृष्ठभूमि में स्वयं बैंक ऑफ इंग्लैंड रहता है जिसका, देश को आवश्यक द्रव्य का संचालन प्राप्त करवाने का काम बैंक के राष्ट्रीयकरण के बहुत पहिले से कोषागार (treasury) के प्रभावी नियन्त्रण में चला आ रहा है।

(laissez-faire) की थी। सार्वजनिक क्षेत्र की सीमाओं में आश्चर्यजनक वृद्धि पिछले दिनों का एक व्यापक अनुभव है।

यदि ब्रिटेन के सार्वजनिक क्षेत्र के स्तर को मापने के लिए उसके द्वारा खरीदी गई वस्तुओं व सेवाओं को देखा जाए तो १९३८ में सारी अर्थ-व्यवस्था का पञ्चमांश ग्रहण किया जब कि १९१४ में उसने सप्तमांश ही लिया था। २ करोड़ कर्मचारियों (workers) में से १९३८ में लगभग १५ लाख व्यक्ति आवश्यकताओं की सामूहिक पूर्त्ति के लिए काम आने वाली वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में लगे हुए थे। कम-से-कम इतने ही और ऐसे थे जिनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बाद में सार्वजनिक क्षेत्र ने आवश्यकताओं के सामूहिक समाधान के लिए खरीदा, महायुद्ध के समय ये संख्याएँ बहुत बढ़ गईं और अब उनके १९३८ के स्तर को लौटने की कोई सम्भावना नहीं है। राज्य के प्रत्यक्ष कर्मचारियों में शासन-व्यवस्था में नियुक्त लोग व शिक्षक तथा स्थानिक प्राधिकारियों द्वारा नियुक्त क्लर्क तथा श्रमिक ही नहीं बल्कि सेना में तथा कूटनीतिक सेवाओं में लगी हुई जनसंख्या भी सम्मिलित है। सरकार व्यक्तिगत क्षेत्र से जो कुछ खरीदती है उसमें इस्पात, टीन व युद्ध-पोतों से लेकर विद्यालयों के बच्चों के लिए खरीदे गए चॉक, 'डस्टर', दूध और फलों के रस तक सब प्रकार की वस्तुएँ होती हैं।

अब, जैसा कि ऊपर हमने देखा, इन वस्तुओं के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम व सामग्री को खरीदने के लिए द्रव्य सरकार को उन करों से मिलता है जो समाज के सब व्यक्तियों पर (राज्य-कर्मचारियों पर भी) लगाए जाते हैं। करों के अतिरिक्त इस धन के दो और स्रोत हैं—(i) कभी-कभी सार्वजनिक उद्यम द्वारा कमाया हुआ लाभ भी राज्य के सामान्य व्यय के लिए प्रयुक्त कर लिया जाता है, और (ii) राज्य अपने नागरिकों से उनका धन ऋण रूप में भी ले सकता है। भूतकाल में ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार का ऋण केवल युद्ध-काल में ही लिया है जब कि व्यय इतना अधिक हो गया कि उतना धन नागरिकों से करों के द्वारा संग्रह करना असम्भव था। किन्तु सार्वजनिक उद्यम दीर्घकालीन नियोजन के लिए प्रायः कर्ज लेते रहते हैं उसी

प्रकार जैसे निजी उद्यम ऋण-पत्रों (debentuers) के द्वारा ऋण लेते हैं।[1]

ऋण-वित्त का महत्त्व अन्तर्युद्ध-काल में बहुत बढ़ गया है इसलिए उससे सम्बन्धित प्रश्नों की ओर हमें विशेष ध्यान देना होगा। तो भी विभिन्न राज्यों द्वारा खर्च किए गए धन का मुख्य स्रोत कर ही रहेंगे ऐसी सम्भावना है। यह बात सोवियत रूस जैसे अधिकेन्द्रित (totalitarian) राज्य के बारे में भी सच है क्योंकि नागरिकों को जो कि प्राय. निरपवादरूप से सभी राज्य-कर्मचारी होते है, जो वेतन मिलता है उसमें से पहिले ही कटौती कर ली जाती है। वह कटौती दूसरे देशों में लगे 'बेसिक' (basic) करों के समान ही होती है। सोवियत संघ विशेष प्रकार के कुछ और कर भी लगाता है। इसलिए सार्वजनिक वित्त के राजस्व-पक्ष में हमारा अधिकतर सम्बन्ध कराधान तथा तत्सम्बन्धी प्रश्नों से ही रहेगा।

सार्वजनिक क्षेत्र की कार्रवाइयाँ मूलतः राजनीतिक धारणाओं द्वारा निश्चित होती हैं जो कि अर्थ-व्यवस्था - व्यक्तिगत हो अथवा सार्वजनिक—के लिए न्यास (datum) है। इसका अर्थ यह नहीं कि नीति का आधार दलगत विचार ही हो सकते हैं। इसके विपरीत यह सम्भव है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बल्कि अनिवार्य है कि समाज की सम्पत्ति व कल्याण को जिन सिद्धान्तों के द्वारा बढ़ाया जा सकता है उनका व्यवस्थित व स्पष्ट निरूपण कर दिया जाय जिससे कि एक सुसंगत नीति का निर्धारण हो सके। यह एक बार हो जाने के बाद सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी सलाहकार का कर्त्तव्य रह जाता है यह बताना कि निश्चित किए गए लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किस प्रकार का कराधान (taxation) और किस ढंग का व्यय उपयुक्त है।

सार्वजकि वित्त वैसे तो नीति का अनुचर है। परन्तु इसका निजी महत्त्व इतना है कि कई बार उसका राजनीतिक परिस्थि पर परिणाम होता है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि किसी राष्ट्र का चिर-कल्याण जितना उसके कारीगरों की प्रवीणता व श्रमशीलता और उसके सैनिकों की

१. विनियोजन (अचल पूँजी निर्माण) के लिए सरकारी ऋण का सबसे बड़ा उदाहरण राज्य-अधिकारियों की ओर से गृह-निर्माण का है।

वीरता पर निर्भर है, उतना ही उसके सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी प्रश्नों के सफल समाधान पर भी निर्भर है। इतिहास के पृष्ठ ऐसी राष्ट्रीय असफलताओं से भरे पड़े हैं जो कि सार्वजनिक वित्त के अत्यधिक महत्त्व की परिचायिका हैं। रोमन साम्राज्य के पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण कर-सम्बन्धी दिवाला (tax bankruptcy) भी था। अनुचित व अव्यवस्थित करों ने फ्रांस की क्रान्ति के लिए चिन्गारी का काम किया। १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के कारणों में से एक विशेष कारण उसकी कर-प्रणाली का पुराने ढंग का होना था जिसके परिणामस्वरूप देश के नागरिक उपभोग (civilian consumption) का नियन्त्रण उसके द्वारा नहीं हो पाया, और इस तरह युद्ध प्रयत्नों के प्रति आवश्यक एकाग्रता पैदा नहीं की जा सकी।

यही नहीं, कई देशों में, और सबसे बढ़कर इंग्लैंड में, सार्वजनिक वित्त ही वह क्षेत्र रहा है जिसमें वैयक्तिक व राजनीतिक स्वातन्त्र्य की निर्णयात्मक लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। संसद् (parliament) के अस्तित्व मात्र के लिए जो संघर्ष हुआ वह एडवर्ड प्रथम के युद्धों के वित्त-पोषण के विषय पर ही केन्द्रित था। लोक-सभा (House of Commons) की स्वतन्त्रता चार्ल्स प्रथम के जलयान-कर (ship money) के प्रश्न पर प्राप्त की गई और अन्तिम रूप से हाउस आफ लार्ड्ज़ (House of Lords) के अधिकारों के विरुद्ध उसकी सत्ता का पुष्टिकरण १९११ के वित्त-अधिनियम (Finance Act) के विषय पर हुए संघर्ष के परिणामस्वरूप हुआ।[1]

३. राज्य और व्यक्ति (The State and the Individual)—राज्य किसी राष्ट्र के संगठन का एक अंग होता है। उसके विषय में अनिवार्य प्रश्न यह उठता है कि उसका उन व्यक्तियों और छोटे समूहों के साथ—जिनसे मिलकर वह बनता है—क्या सम्बन्ध होता है? मूलतः यह राजनीतिक प्रश्न है और इसका उत्तर भी राजनीतिक ढाँचे पर अवलम्बित होते हुए बहुत भिन्न हो सकता है। हमें इसके विस्तृत विचार से यहाँ कोई मतलब नहीं क्योंकि यह राजनीति के क्षेत्र का प्रश्न है। परन्तु

---

१. दूसरी ओर, यह भी स्मरणीय है कि अयोग्य करों ने ब्रिटेन के लिए उसके अमरीकी उपनिवेश गँवाने के कुछ कारण भी उपस्थित किए।

ब्रिटिश सार्वजनिक वित्त का महत्त्व समझने के लिए ब्रिटेन जैसे लोकतन्त्र में राज्य और व्यक्ति का परस्पर क्या सम्बन्ध रहता है, इसका मोटे तौर पर किन्तु स्पष्ट चित्र अपने सामने रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से पहिले यह विचार करें कि किस प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए राज्य का अस्तित्व होता है।

सबसे पहिली बात तो यह है कि चाहे सार्वजनिक सेवाएँ सामूहिक साधनों के द्वारा आवश्यकताओं का समाधान करती हैं किन्तु समाधान व्यक्तिगत ही होता है क्योंकि व्यक्ति को ही आवश्यकता अनुभव होती है और उसे ही उसकी पूर्त्ति का आनन्द भी। इसी प्रकार वस्तुओं पर कर लगाए जाने की बात कही जाए तो भी कर देने वाले उनके स्वामी अथवा इस्तेमाल करने वाले ही होते हैं। किन्तु कई प्रकार की तुष्टि जो राज्य की ओर से मिलती है वह व्यक्तिगत रूप में नहीं दी जा सकती, उदाहरणार्थ हमने देखा है कि पुलिस और सेना की सेवाएँ इस प्रकार की होती हैं। सामाजिक जीवन के प्रारम्भ होते ही इस प्रकार की सामाजिक आवश्यकताएँ खड़ी होती हैं और उनका प्रबन्ध करना पड़ता है—चाहे नागरिक सीधे तौर पर करें अथवा किसी परोक्ष ढंग से। राज्य को इस प्रकार नागरिकों के लिए सामूहिक रूप से आवश्यकताओं का समाधान देने वाला साधन समझा जा सकता है।

इस दिशा से विचार करते हुए राज्य की तुलना एक परमोच्च कोटि के 'क्लब' से की जाती है जो सम्पत्तियुक्त होता है और अपनी जायदाद को किराये पर चढ़ाता है—जैसे एक 'गोफ क्लब' (golf club) करता है और सामूहिक सेवाएँ देने के लिए नौकर-चाकर रखता है वैसे ही जैसे 'गोफ़ क्लब' बैरे और दूसरे कर्मचारी रखता है। राज्य के कई कार्यों को समझने के लिए यह दृष्टान्त बड़ा उपयुक्त है परन्तु इसे बहुत दूर तक खींचने की भूल नहीं करनी चाहिए। क्लब एक ऐच्छिक संस्था होती है जिसकी सदस्यता स्वेच्छापूर्वक ली और छोड़ी जा सकती है। उसका शुल्क न दिया जाए तो इससे अधिक कुछ नहीं होता कि व्यक्ति की सदस्यता समाप्त हो जाए। क्लब में प्रवेश प्राप्त करने के लिए कोई व्यक्ति बाध्य नहीं होता। दूसरी ओर राज्य

से त्याग-पत्र देने का एक ही उपाय है, देश को छोड़ कर चले जाना और वह आसान नहीं होता। और "राज्य-हीन" अवस्था में रहना तो बहुत ही कष्ट-दायक होता है। राज्य का "शुल्क" (कर) न देने पर कारावास का दण्ड मिलता है।

राज्य के प्रति मनुष्य की जिम्मेदारियों की अनिवार्यता के कारण सामाजिक न्याय के महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़े होते हैं। जैसे, एक 'गोफ़ क्लब' का सदस्यता-शुल्क यदि सब के लिए एक बराबर हो तो उसमें आपत्तिजनक कुछ नहीं, क्योंकि सदस्य बनना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है और जो लोग शुल्क को अधिक समझते हैं वे नहीं बनेंगे। परन्तु लोगों की आय का विचार न करते हुए सभी पर एक बराबर कर लगा देना अन्यायपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सार्वजनिक वित्त का एक महत्त्वपूर्ण अंश भिन्न-भिन्न आय वाले व्यक्तियों में कर-भार के बँटवारे से सम्बन्ध रखता है।

इसी तरह का प्रश्न दूसरी तरफ़ भी खड़ा होता है। सार्वजनिक व्यय का वितरण कैसे हो? 'गोफ क्लब' के सदस्यों की रुचियाँ एक प्रकार की होती हैं और वे एक जैसी सेवाओं को पसन्द करते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन में सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं की इच्छा अथवा आवश्यकता एक समान नहीं हुआ करती। इसी कारण यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि सब का इस विषय पर एक ही मत हो कि राज्याधिकारियों को कौन-कौन सी ज़रूरतें पूरी करनी चाहिएँ। सच तो यह है कि सार्वजनिक सेवाओं की आवश्यकता काफ़ी मात्रा में तो उत्पन्न ही उस संघर्ष से होती है जो विभिन्न व्यक्तियों व वर्गों के हितों के मध्य में अवश्यम्भावी है—क्योंकि दुकानदार व चोर के हित परस्पर-विरोधी हैं। इसी प्रकार पेन्शनप्राप्त वृद्ध और विद्यार्थी बालक के तथा करदाता और बेकार के भी हितों में टकराव होता है।

जिन देशों में राज्य का व्यय लोकतन्त्र की पद्धति से चुनी हुई धारा-सभा में तय होता है, वहाँ नीति और सार्वजनिक वित्त की रूप-रेखा ऐसे परस्पर विरोधी हितों के बीच में समझौतों के फलस्वरूप ही बनती है। जहाँ पर राज्य करने वाला कोई गुट या वर्ग नीति तय करके लागू करता है वहाँ भी संघर्ष

कोई कम उग्र नहीं होता। हाँ, वह भूमिगत (underground) जरूर हो जाता है। इस स्थिति में क्लब का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं रहता।

चाहे लोकतन्त्र का विचार करते हुए राज्य की क्लब-कल्पना कुछ दृष्टियों से उपयोगी है, राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध का व्यापक विचार करने की दृष्टि से यह बहुत निर्जीव और निष्क्रिय मालूम होती है। जैसे राज्य के भीतरी कार्यों के लिए विभिन्न हितों के मध्य में "बीच-बचाव" करने की उपमा ठीक नहीं बैठती, न ही सफ़ाई और प्रकाश की व्यवस्था (जो "हितकारी व्यय" के उदाहरण हैं) के कारण उसे केवल साधारण सुविधाएँ देने वाला ही नहीं माना जा सकता। हमें राज्य की कार्रवाई के योग्य क्षेत्र को दो दिशाओं में फैलाना पड़ेगा।

प्रथम तो यह कि अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक नागरिक को जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ प्राप्त करवाने का प्रबन्ध करे जिनमें पर्याप्त और ठीक प्रकार का खाद्य, काफी निवास-सुविधा और आवश्यकतानुसार स्वास्थ्य व शिक्षा-सम्बन्धी सेवाएँ सम्मिलित हैं। अब तो प्रायः यह भी माना जाता है कि राज्य को चाहिए कि जहाँ व्यक्तिगत उद्यम इन वस्तुओं का यथोचित प्रबन्ध न कर पाता हो वहाँ राज्य स्वयं इन प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साधनों को खरीदकर या उनका उत्पादन करके वितरित करे। दूसरा, राज्य के अन्य कर्त्तव्यों में अब यह भी गिना जाता है कि समाज के साधनों के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाशीलता और सामाजिक कल्याण के स्तर को अधिक से अधिक ऊँचा उठाए। राज्य के क्षेत्र के इस दोहरे विस्तार से व्यक्ति व राज्य के परस्पर सम्बन्ध में एक नई घनिष्ठता ध्वनित होती है—व्यक्ति के उपभोक्ता रूप से भी और उत्पादक रूप से भी। सरकारी गतिविधि में इससे कई प्रकार की वृद्धि भी होती है।

इस प्रकार राज्य उत्पादक व नियोजक के रूप में अधिक सुस्पष्ट होकर प्रकट होता है। अभी भी उसके द्वारा उत्पादन अधिकतर सेवाओं का ही है परन्तु पदार्थों का महत्त्व, चालू उपयोग के लिए भी और स्थिर पूंजी के तौर पर भी, शीघ्रता से बढ़ रहा है। पहले तो मकान ही एक ऐसी पूंजीगत वस्तु

(capital good) थी जिसे बनाकर राज्य व्यक्तिगत उद्यम के उत्पादन को बढ़ा सकता था। जैसे-जैसे किसी राष्ट्र का पूँजी-उपकरण (capital equipment) बढ़ता जाता है और इस कारण अधिक पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन से प्राप्त होने वाला लाभ कम होता जाता है, सार्वजनिक विनियोजन (public investment) में वृद्धि ही शायद अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-शीलता को बढ़ाने का सर्वोपयुक्त साधन रह जाता है। व्यवस्था के सभी अंगों की जाँच कर लेने के बाद हमें इस प्रश्न का विचार करना होगा और देखना होगा कि इसका सार्वजनिक वित्त के भावी स्वरूप पर क्या परिणाम होता है।

राज्य के नये कर्त्तव्यों का ध्यान रखते हुए उसे एक विराट फ़र्म के रूप में देखना उपयोगी होगा, नागरिक जिसके स्वामी हैं और वही जिसे, पुराने अर्थ में सामूहिक सेवाओं का और जिन व्यक्तिगत आवश्यकताओं को सामूहिक रूप से सन्तुष्ट करने का निश्चय किया गया हो, उनका उत्पादन और वितरण करने के लिए चलाते हैं। राज्य की ओर देखने का यह दृष्टिकोण सार्वजनिक वित्त के लिए विशेष रूप से लाभदायक है क्योंकि यह राज्य के आर्थिक पहलू पर ध्यान केन्द्रित करता है। किसी फ़र्म की व्यापारिक रूप-रेखा और प्रगति देखने का सबसे अच्छा तरीका है उसके संतुलन-पत्र (balance sheet) की पड़ताल। उसी प्रकार यदि हम राज्य के "संतुलन-पत्र" की जाँच-पड़ताल करें तो हम सार्वजनिक क्षेत्र कैसे कार्य करता है, इसको बहुत कुछ समझ सकेंगे। वास्तव में संतुलन-पत्र के ही कुछ बदले हुए रूप (बजट-लेखा—budget accounts) से संसद अपनी नीति का पुनरीक्षण करती है।

परन्तु राज्य को एक विशालकाय फ़र्म मानने में एक गड़बड़ है। राज्य के कार्य—करों का संग्रह और व्यय का वितरण अकेली राष्ट्रीय सरकार के एकाधिकार का विषय नहीं होता। प्रायः सभी देशों में वे एक मुख्य केन्द्रीय सरकार व गौण स्थानिक इकाइयों में बँटे होते हैं। (इससे यह प्रतीत होता है कि नियन्त्रक कम्पनी और उसके उपांशों (satellites) की उपमा अधिक उपयुक्त है।

केन्द्र सरकार और स्थानिक इकाइयों में परस्पर सम्बन्ध किसी देश में किसी प्रकार का होता है, किसी में उससे बिलकुल भिन्न। संयुक्त राज्य में एक

प्रादेशिक सरकार है (कैलिफ़ोर्निया राज्य) जो इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके अधिकार-क्षेत्र का विस्तार २,४०,००० वर्गमील है और उसकी जनसंख्या एक करोड़ से ऊपर। उस राज्य की धारा-सभा और बहुत से छोटे स्थानिक अधिकारियों के लिए मुख्य सरकार है। कैलिफ़ोर्निया राज्य की सरकार को विस्तृत स्वतन्त्र कर-अधिकार हैं और भीतरी प्रशासन (internal administration) के अधिकांश पहलुओं के लिए अन्य किसी के अधिकार-क्षेत्र की चिन्ता न करते हुए वह अपनी नीति निश्चित कर सकती है। दूसरा चरम उदाहरण फ्रांस के 'कम्यून' (commune) का दिया जा सकता है जिस में कुछ सौ तक जनसंख्या होती है। वह नीति के सभी बड़े प्रश्नों के निर्णय के लिए केन्द्र सरकार पर निर्भर होती है, फिर भी उसका अपना पृथक् सामुदायिक जीवन होता है। ब्रिटेन में राष्ट्रीय सरकार एकीय (unitary) है, संघराज्य (federal) के ढंग की नहीं, फिर भी स्थानिक इकाइयों का महत्त्व सब मिला कर काफी होता है, नीति को लागू करने में ही नहीं, उसके निर्धारण में भी।

चाहे गौण सरकारों के हाथ में कभी-कभी पर्याप्त अधिकार होते हैं, तो भी देश की केन्द्रीय सरकार को सामान्य और वित्तीय नीति में सदा निर्णयात्मक स्वर अपना ही रखना चाहिए। यह अनिवार्य है क्योंकि केन्द्रीय सरकार को ऐसे निर्णय करने पड़ते हैं जो राष्ट्र के अस्तित्व के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं जैसे कि युद्ध और शान्ति के विषय में तथा दूसरे देशों के साथ अपने सम्बन्धों के विषय में। आन्तरिक क्षेत्र में भी केन्द्रीय सरकार का अनन्य महत्त्व सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ बढ़ता जा रहा है क्योंकि सुव्यवस्थित आर्थिक नीति के लिए केन्द्र-निर्देशित सुसम्बद्ध क्रिया एक पहली अपेक्षित शर्त्त है। अतः जिस वित्त के साथ हमारा सबसे अधिक सम्बन्ध रहेगा वह केन्द्रीय सरकार का ही है, परन्तु अपने ध्यान को हम पूरी तरह उसी में सीमित न हो जाने दें। स्थानिक प्राधिकारी (local authorities) लोकतन्त्रात्मक संगठन में एक अनिवार्य अंशदान देते हैं। आज के युग में जनतन्त्र के सामने जो बड़ी समस्याएँ हैं उनमें से एक यह भी है कि उनकी नीति व उनके वित्त तथा केन्द्रीय सरकार की नीति व वित्त में किस प्रकार एकसूत्रता लाई जाए जिससे कि उनके स्वतन्त्र जीवन का भी हनन न हो।

अध्याय २

सार्वजनिक व्यय का स्वरूप

(Nature of Public Expenditure)

१. "राजा" के कर्त्तव्य (Duties of the Sovereign)—अपनी जाँच के प्रारम्भ में ही यह जान लेना उपयोगी होगा कि सार्वजनिक और निजी वित्त में एक मौलिक अन्तर है। निजी वित्त—चाहे वह व्यक्तियों का हो या फ़र्मों का, एक निश्चित आय को लेकर चलता है, जिसके ढाँचे में ही उसे सारे व्यय का आयोजन करना होता है। इसके विपरीत वर्त्तमान काल में राज्य के सामने पहले व्यय की योजना होती है और प्राधिकारी अपनी "आय"[1] (राजस्व) को करों और दूसरे साधनों से उसके अनुसार समायोजन करते हैं।[2] स्वाभाविक है कि राज्याधिकारियों के खर्च कर सकने की एक अन्त्य सीमा (ultimate limit) होती है जो इससे निश्चित होती है कि नागरिकों के निर्वाह के लिए कितनी राशि छोड़ना आवश्यक है। इस "कर देने की शक्ति" के पहिले एक और सीमा भी हो सकती है—कि अपनी आयों में से कितना अंश लोग आवश्यकताओं की सामूहिक पुष्टि के लिए लगाने को तैयार हैं। परन्तु लोकतन्त्र प्रणाली में यह विचार-विमर्श और समझाने-बुझाने से बदल सकने वाली सीमा है।

सार्वजनिक वित्त में निर्णायक तत्त्व व्यय है न कि आय, इसलिए युक्तियुक्त यही है कि व्यय के पक्ष से इस लेखे का विस्तार प्रारम्भ किया जाए। ब्रिटिश राज्य का व्यय प्रतिवर्ष केन्द्रीय सरकार के प्राक्कलनों (estimates) व विनियोग लेखा (appropriation accounts) तथा स्थानीय प्राधिकारियों

१. राज्य की वास्तविक आय केवल वही है जो सम्पत्ति और व्यापार से प्राप्त होती है।

२. निर्धन और अविकसित देशों में जहाँ करारोपण आसान काम नहीं होता, कई बार यह आवश्यक हो सकता है कि बजट की योजना राजस्व की ओर से की जाए।

के वित्तीय आँकड़ों (financial statistics) में अत्यन्त विस्तार से दिया होता है परन्तु अपने सामने एक सुसम्बद्ध चित्र लाने के लिए आवश्यक है कि उनकी सेवाओं का कार्यात्मक (व्यवहार के अनुसार) वर्गीकरण किया जाय।

सार्वजनिक व्यय के विषय पर प्रथम क्रमबद्ध विचार ब्रिटेन में १७७६ में प्रकाशित एडम स्मिथ के ग्रन्थ "वैल्थ ऑफ नेशन्ज़" (Wealth of Nations) में प्रस्तुत किया गया। स्मिथ ने इस सम्बन्ध में एक स्मरणीय अध्याय लिखा जिसका शीर्षक रखा "सम्राट अथवा कॉमनवैल्थ का व्यय", (अथवा आज की परिभाषा में "राज्य का व्यय")। उस के विश्लेषण का उस समय के लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके अपने कथन से विदित होता है कि विलियम पिट्ट के ऊपर, जो कि हमारी वर्तमान वित्तीय व्यवस्था के जन्मदाता थे और महत्तम वित्तीय प्रशासकों में जिनकी गणना है, स्मिथ के लेखन का अत्यधिक प्रभाव हुआ। स्मिथ के द्वारा किया हुआ "सम्राट् के कर्त्तव्यों" का वर्गीकरण हमारे सार्वजनिक व्यय के चित्र के लिए आधार के रूप में बहुत ठीक है।

स्मिथ के कथनानुसार, "सम्राट् के कर्त्तव्य" तीन श्रेणियों में विभक्त होते हैं। राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है "दूसरे स्वतन्त्र समाजों के आक्रमण व अन्याय से समाज की रक्षा करना", और द्वितीय, नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों में न्याय की स्थापना। स्पष्ट है कि यह किसी भी सरकार के लिए मौलिक कर्त्तव्य हैं, और किसी भी ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना करना असम्भवप्राय है जिसमें इनकी मौलिकता को स्वीकार न किया जाता हो। हाँ, दूसरे कर्त्तव्यों की व्याख्या में प्रत्यक्ष व्यवहार के अवसर पर बड़े भारी मतभेद की गुञ्जायश होती है। इतिहास साक्षी है कि अन्यथा सभ्य देशों में भी किस तरह गुलाम और कुछ विशेष जातियाँ नागरिकता के प्राथमिक अधिकारों से भी वञ्चित हो सकती हैं।

आज की अवस्था में, स्मिथ का "तृतीय कर्त्तव्य" सबसे अधिक रोचक है, चाहे वह मौलिक नहीं है—अर्थात् उसे बिलकुल छोड़ देने के बाद भी संगठित समाज का अस्तित्व स्थिर रह सकता है, उसकी आय में जब वृद्धि होने लगती है तभी वह कर्त्तव्य भी महत्त्वपूर्ण बनता है। स्मिथ ने उसकी परिभाषा इस

प्रकार की है : "उन सार्वजनिक संस्थाओं व कार्यों का निर्माण और संचालन जो किसी महान् समाज के लिए अत्यन्त लाभकारी होते हुए भी किसी व्यक्ति द्वारा किया खर्च कभी भी उसे लौटा नहीं सकते।" ऐसे "कार्यों" में उन्होंने प्रमुख गिने हैं "वे जो समाज के व्यापार को सुविधा देते हैं और जनता के शिक्षण को बढ़ाते हैं।"

आजकल की शब्दावली में स्मिथ का कहा हुआ तीसरा कर्त्तव्य आर्थिक व सामाजिक लक्ष्यों के लिए किया हुआ व्यय कहलाएगा। यह उल्लेखनीय है कि अठारहवीं शताब्दी में ही स्मिथ ने सार्वजनिक व्यय की इन दो शाखाओं का इतना विकास होने की सम्भावना देख ली थी कि ये महत्त्व और विस्तार में सबसे बढ़ जायँ। इससे भी अधिक, स्मिथ ने अनुभव कर लिया था कि राज्य ऐसी सामूहिक सेवाओं की व्यवस्था कर सकता है जिन्हें सब चाहते हैं किन्तु फिर भी जो व्यक्तिगत उद्यम की पहुँच के परे होती हैं। स्मिथ ने जो संतुलित दृष्टिकोण रखा है वह इस दोषारोप का पर्याप्त उत्तर है कि स्वेच्छाचारिता की नीति का कठोर पालन ही ब्रिटेन की परम्परा है।

अब यह देखें कि स्मिथ के "तीन कर्त्तव्यों" पर वर्त्तमान ब्रिटेन में किस प्रकार आचरण होता है।[1] आजकल की सेनाओं के उपकरणों पर हुआ खर्च बड़ा जटिल मामला है। उसमें उत्पादक संभार, कारखाने, बैरकें और सक्रिय सेवा के लिए पोत, वायुयान और टैंक सब आते हैं। साथ ही स्टोर का सामान—एक ओर प्रौद्योगिक (technical) उपकरण और दूसरी ओर शस्त्र, जो कि सुरक्षा-यन्त्र की "कार्यवहन पूँजी" (working capital)—ये सब भी सम्मिलित हैं। और अन्त में, सुरक्षा व्यय का एक बड़ा भाग वेतनों (जिन्स अथवा नकदी के रूप में) और सेना से अवकाश-प्राप्त लोगों की पेन्शनों पर लगता है। इस व्यय की विविधता से स्पष्ट है कि सुरक्षा की आवश्यकता में परिवर्त्तन आने से सारी अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक भाग पर प्रभाव पड़ता है।

१. ब्रिटिश सार्वजनिक व्यय के विकास के लिए देखिए—U. K. Hicks, The Finance of British Government, 1920-1936 (1938) और British Public Finances, Their Structure & Development, 1880-1952 (1954).

सार्वजनिक कार्यों का कोई और प्रकार आर्थिक गतिविधि का स्तर निश्चित करने में इतना प्रभावपूर्ण नहीं होता।

प्रतिरक्षा-व्यय के भार और उन दिनों में उसकी बढ़ने की प्रकृति को देखकर एडम स्मिथ बहुत प्रभावित हुए थे। यह अधिकतर तो इस कारण हुआ कि उनके जीवन-काल का समय बहुत अशान्त था। यही शिकायत अन्तर्युद्ध-काल में सुनी जाती थी। वास्तव में शान्तिकाल में ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के साधनों का कोई बड़ा भाग प्रतिरक्षा प्रबन्ध पर खर्च नहीं होता है। अन्तर्युद्ध-काल में, १९३७ में पुनः शस्त्रीकरण प्रारम्भ होने से पूर्व (युद्ध-काल की पेन्शनों को मिलाकर) वह शुद्ध राष्ट्रीय आय का लगभग २·८ प्रतिशत था—अर्थात् राज्य के कुल व्यय (राष्ट्रीय ऋण व्याज को छोड़ कर) का लगभग १५ प्रतिशत। १९४४ तक प्रतिरक्षा-व्यय बढ़ कर सकल सार्वजनिक व्यय का ८०% के करीब हो गया। १९४५ के पश्चात् वह फिर तेजी से कम होकर १९५० तक शुद्ध राष्ट्रीय आय के ७ प्रतिशत से भी कम रह गया। दुर्भाग्यवश कोरिया का संकट खड़ा हो जाने के कारण शुरू हुए पुनः शस्त्री-करण से वह फिर बढ़ने लग पड़ा। १९५३ में प्रतिरक्षा व्यय सकल राष्ट्रीय आय का लगभग ९ प्रतिशत था।

"दूसरा कर्त्तव्य"—आन्तरिक न्याय—भी कुछ हद तक तो सुरक्षा का ही प्रश्न है। शान्त व कानून के अनुसार चलने वाले नागरिकों को अपने अक्खड़ व झगड़ालू पड़ोसियों से सुरक्षा की आवश्यकता होती है। सभी नागरिकों के ऊपर राज्य की अन्तिम बलप्रयोग की शक्ति समाज की सुस्थिरता के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी बाहरी शत्रुओं से रक्षा। परन्तु वर्तमान जीवन की उलझनों में नागरिकों में परस्पर न्याय की स्थापना इतना बड़ा कार्य है कि इसके लिए केवल पुलिस, न्यायालय और जेलखानों की व्यवस्था ही पर्याप्त नहीं है। इसमें हमें कानून बनाने और लागू करने का, संसद् के कार्य का, केन्द्रीय सरकार के अनेक विभागों, विशेषकर कोषागार व गृह कार्यालय का और स्थानिक प्राधिकारियों के प्रशासन का, सारा व्यय सम्मिलित करना होगा। अधिक ठीक तो यह होगा कि दूसरे कर्त्तव्य को नागरिक शासन (civil government)

की संज्ञा दी जाए—जिसका एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होता है कि नागरिकों में सब प्रकार से पूर्ण व समान न्याय करने का प्रबन्ध करे।

इस प्रकार "दूसरे कर्त्तव्य" के दो पक्ष हैं—सुरक्षात्मक और प्रशासनात्मक। प्रशासन का व्यय और क्षेत्र अठारहवीं शताब्दी से सार्वजनिक क्षेत्र के विकास के साथ ही साथ बढ़ कर आज बहुत अधिक हो गया है, फिर भी सुरक्षात्मक पहलू [पुलिस, न्याय-व्यवस्था तथा अग्नि सेवा (fire services)] के ऊपर ही अन्तर्युद्ध काल तक नागरिक प्रशासन पर हुए कुल व्यय में से आधे से अधिक हो जाता था। यह समझ लेना ज़रूरी है कि जहाँ "प्रथम कर्त्तव्य" का व्यय और व्यवस्था केवल केन्द्रीय सरकार के हिस्से आती है, "द्वितीय कर्त्तव्य" का उत्तरदायित्व केन्द्रीय व स्थानीय सरकारों में बँट जाता है। व्यय का अधिकांश केन्द्र के ऊपर पड़ता है किन्तु प्रबन्ध का कार्य अधिकांश में स्थानिक प्राधिकारियों को करना पड़ता है। नागरिक प्रशासन पर अन्तर्युद्ध काल में राज्य को कुल सार्वजनिक व्यय का लगभग ६० प्रतिशत खर्च करना पड़ा।[१] चाहे "दूसरा कर्त्तव्य" मौलिक महत्त्व का है तो भी आज समाज की आय में से भाग लेने वाली जो मुख्य मदें है उनमें इसकी गणना नहीं है।

एडम स्मिथ के जमाने में सामाजिक व आर्थिक उद्देश्यों से हुआ व्यय बहुत साधारण सीमाओं तक रहता था। सार्वजनिक सामाजिक व्यय तो दरिद्र विधि (Poor Law) तक ही सीमित था। व्यापक लोक-शिक्षा (universal public education) आने में अभी एक शताब्दी बाकी थी चाहे स्मिथ की मृत्यु के तीस साल के भीतर ही उस लक्ष्य के प्रति पहली राशि स्वीकार कर ली गई। तो भी वह समय सामाजिक आत्मा का जागरण-काल था, जो कि नेपोलियन के युद्धों के वक्त सार्वजनिक सहायता में स्वयमेव हुई स्थानीय वृद्धि (जिसकी "स्पीन्हमलैन्ड सिस्टम" के नाम से ख्याति हो गई) से प्रकट है। यही तथ्य कि स्मिथ ने राज्य के कर्त्तव्यों में लोक-शिक्षण को भी रखा, बड़ा अर्थपूर्ण है—किन्तु यह स्मरण रहे कि वे स्काटलैण्ड के थे।

---

१. राष्ट्रीय ऋण का ब्याज छोड़ कर।

स्मिथ के जमाने में "समाज को व्यापार की सुविधा" देने के लिए हुए सरकारी प्रयत्नों का रूप एक जटिल सी व्यवस्था में बना जिसमें विशेष व्यक्ति-समूहों के हितों के लिए संरक्षण, रुकावटें और सहायताएँ आयोजित की गई थीं। स्मिथ को इस प्रकार की सार्वजनिक हलचल पसन्द नहीं थी और अधिकतर उन्हीं के प्रभाव के कारण अगली पीढ़ी में ही उसका अधिकांश उड़ गया। दूसरी ओर, स्मिथ सड़क-निर्माण आदि सार्वजनिक कार्यों के बड़े समर्थक थे जिनको चलाने के विषय में उनकी कल्पना व्यापारिक आधार की थी (टोल टैक्सों के द्वारा) और जिनसे उनको ठीक ही दीखता था कि सारी अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता बहुत बढ़ जायगी।[१]

२. आर्थिक लक्ष्यों से होने वाला व्यय (Expenditure for Economic Ends)—वर्त्तमान परिस्थिति में आर्थिक हेतु से हुए व्यय में, निजी उद्यम को दी गई सीधी सहायता एक ओर, और सारे समाज को पहुँचाए गए लाभ (जैसे राष्ट्रीयकरण में आए उद्योगों से) दूसरी ओर—ये दोनों सम्मिलित हैं। ये दोनों, यदि इन्हें ठीक प्रकार चलाया जाए तो "व्यापारिक सुविधा" दे सकती हैं (आजकल की भाषा में—अर्थ-व्यवस्था की उत्पादनक्षमता बढा सकती हैं)। व्यक्तिगत उद्यम की सहायता में दो प्रकार से व्यय किया जा सकता है—एक तो ऐसी सेवाएँ उपलब्ध करवाकर जो सब उद्योगों के लिए अथवा अनेक प्रकार के उद्योगों के लिए उपयोगी हों, दूसरा उत्पादन की कुछ विशिष्ट शाखाओं को—विशेषकर खेती को लाभ पहुँचाने वाले उपायों से। पहले प्रकार के प्रतिनिधि उदाहरण हैं विदेश व्यापार विभाग (Department of Overseas Trade), व्यापार-बोर्ड का भार और माप विभाग (Weights and Measures Department), श्रम मन्त्रालय के काम-दिलाऊ दफ्तर (Employment Exchanges of Ministry of

१. देखिए "वैल्थ आफ नेशन्ज', ग्रन्थ ५, भाग १, "क्योंकि इस प्रकार के सार्वजनिक कार्यों से परिवहन व्यय बहुत कम हो जाता है, इसलिए "टोल" के होते हुए भी माल उपभोक्ता के पास (उनके न होने की अपेक्षा) सस्ता पहुँचता है क्योंकि परिवहन के खर्चे में जितनी कमी आ जाती है उतनी वृद्धि टोल के कारण मूल्य में नहीं आती।"

Labour) और राजकीय संस्थाओं का अनुसंधान कार्य।[१] इस प्रकार की सेवाएँ देने की दृष्टि से राज्य की स्थिति असाधारण अनुकूलता की है और उनके विस्तार के लिए भी अवसर है जिससे समाज को बहुत लाभ होगा।

विशेष उद्योगों के लिए सरकारी व्यय अनेक प्रकार की प्रत्यक्ष और परोक्ष, स्पष्ट और गुप्त सहायताओं के रूप में हुआ है। प्रायः ऐसी सहायता के साथ ही सीधे नियन्त्रण उदाहरणार्थ, आयात के मात्रात्मक परिसीमन (quantitative limitations) भी लगाए गए हैं जिससे कि सम्पूर्ण नीति का असर अपेक्षाकृत सीमित व्यय के प्रत्यक्ष परिणाम से कहीं अधिक व्यापक हो जाता है। इस प्रकार का लाभ दिए जाने के पीछे आर्थिक कारण उतने नहीं रहे जितने सामरिक (strategic) या भावनात्मक (sentimental)। इस प्रकार का व्यय लगभग वैसा ही है जैसा कि अठारहवीं शताब्दी में देखकर स्मिथ ने निन्दा की थी और वे आज होते तो निश्चित ही वर्त्तमान नीति के विषय में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते। अन्तर्युद्ध काल में इस ढंग का सार्वजनिक व्यय बहुत बढ़ गया, पहले तो १६१४-१८ के युद्ध के कारण हुई अव्यवस्था व परिवर्त्तनों के परिणामस्वरूप और बाद में मन्दी को दूर करने के प्रयत्नों के रूप में। १६३० से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी में विशेष उद्योगों—विशेषकर खेती तथा नौवहन—का संरक्षण और सहायता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक खिंचाव का एक बड़ा कारण बन गई। ब्रिटेन में इस तरह का व्यय दशाब्दी के उत्तरार्द्ध में ३ करोड़ पौंड था। १६४७ में बढ़ कर यह ६ करोड़ ६० लाख पौंड की अधिकतम राशि पर पहुँच गया। उसके पश्चात् यह धीरे-धीरे कम होता गया और १६५३ में ४ करोड़ ८० लाख पौंड रह गया।

ब्रिटेन में समाजीकृत उद्योग (socialized industries)—डाक विभाग की सेवाओं के अतिरिक्त—राष्ट्रीय की अपेक्षा स्थानीय नियन्त्रण में ही बढ़े। ऐतिहासिक घटनाक्रम से निश्चित हुए स्थानिक अधिकार-क्षेत्रों के बेढब बँटवारे

१. सिवा उस अनुसंधान के जो किसी विशेष फर्म के कहने पर हाथ में लिया जाए। उस स्थिति में वह एक व्यापारी सेवा के रूप में ही, शुल्क लेकर काम किया जाता है।

से उनके विकास में कुछ न कुछ बाधा ही आई। विद्युत-शक्ति के उत्पादन (किन्तु, वितरण नहीं) का समन्वय करने के लिए १९२६ में स्थापित केन्द्रीय विद्युत् बोर्ड (Central Electricity Board) पहला पग था जो स्थानीय व्यापारी सेवाओं के राष्ट्रीयकरण की दिशा में उठाया गया। पुरानी व्यापारी सेवाओं के अतिरिक्त कुछ स्थानीय प्राधिकारी अधिक साहस-पूर्ण उद्यम भी चलाते हैं—डनकास्टर का घुड़दौड़ स्थल और कोलचेस्टर का शुक्ति-पाट (oyster bed) सर्व-परिचित दृष्टान्त हैं। यदि विशेष खर्च और विलम्ब के बिना संसद् की अनुमति मिल जाए, तो सम्भवत: बहुत से और स्थानीय प्राधिकारी अन्य दिशाओं में भी हाथ-पैर फैलाने के लिए तैयार होंगे।

परम्परा से तो ब्रिटिश केन्द्रीय सरकार की एकमात्र महत्त्वपूर्ण व्यापारी सेवा डाक-घर ही था। टैलीफोन पर नियन्त्रण इसी सदी में पूरा हुआ, बाकी तार-संचार १९४६ में लगे, चाहे यह प्रस्ताव युद्ध के दिनों में ही स्वीकार कर लिया गया था। इसके विपरीत प्रसारण (broadcasting) बहुत पहले से ही राष्ट्रीय सेवा है जिसका नियन्त्रण सार्वजनिक बोर्ड करता है। केन्द्रीय सरकार इसके अतिरिक्त भी कुछ उपक्रम देर से चला रही है जो छोटे-छोटे होते हुए भी कार्यपटु हैं जैसे कि "हर मैजेस्टीज़ स्टेशनरी आफ़िस" और कार्लिस्ले क्षेत्र के सार्वजनिक गृह-व्यापार में हिस्सा, जिसे राज्य-प्रबन्ध ज़िले (State Management Districts) इस नाम से जाना जाता है। १९४६ से १९४९ तक के वर्षों में महान् राष्ट्रीयकृत उद्योग स्थापित हुए—१९४६ में वायु-पथ निगम (Airways Corporations), बैंक आफ इंगलैण्ड का राष्ट्रीयकरण भी इसी वर्ष में हुआ, १९४७ में राष्ट्रीय कोयला बोर्ड (National Coal Board) १९४८ में ब्रिटिश परिवहन आयोग (British Transport Commission) और ब्रिटिश विद्युत् प्राधिकार (British Electricity Authority) और १९४९ में गैस कौन्सिल तथा क्षेत्र-बोर्ड (Area Board)।

चाहे देश-देश में काफी अन्तर भी हैं, फिर भी मोटे तौर पर सभी जगह एक ही प्रकार के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने की प्रवृत्ति दीखती है अर्थात् ऐसे जिनका नियन्त्रण आपातकाल में राज्य के लिए अत्यावश्यक होता है, जैसे

कि डाक-सेवाएँ, प्रसारण और सड़कों की व्यवस्था (जिसे कई दृष्टियों से व्यापारी सेवा ही गिना जाना चाहिए), अथवा ऐसी जिनकी सहज प्रावैधिक प्रवृत्ति (inherent technical tendency) एकाधिपत्य की ओर होती है क्योंकि मुख्यतः उनमें उपरि-व्यय (overheads) चालू व्यय की अपेक्षा अधिक होते हैं, उदाहरण के लिए गैस, विद्युत् और परिवहन। ब्रिटिश राष्ट्रीयकरण की रूपरेखा इससे बिलकुल मिलती है।

किन्तु यूरोप में ब्रिटेन के उलट हुआ। वहाँ अधिकतर यह रहा कि रेलों का राष्ट्रीयकरण किया गया किन्तु बाकी सार्वजनिक उपयोगिताओं पर भिन्न-भिन्न दरजों तक सरकार का नियन्त्रण लागू हुआ। कुछ सरकारों का (उदाहरणार्थ स्वीडन में) रक्षित खनिजों और वनों पर भी स्वामित्व है और उनका प्रबन्ध प्रायः सार्वजनिक बोर्ड करते हैं। संयुक्त राज्य में, इसके विपरीत, 'न्यू डील एडमिनिस्ट्रेशन' (New Deal Administration) से पूर्व, डाक-घर ही प्रायः एकमात्र राष्ट्रीयकृत उद्योग था, आज तक भी टेलीफ़ोन व तार सरकारी स्वामित्व में नहीं आए। दूसरी तरफ कोई-कोई अमरीकन नगर विस्तृत व्यापारिक सेवाएँ चलाते हैं।[१]

सरकारी स्वामित्व की ठीक सीमाएँ क्या हों यह प्रश्न सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र से बाहर का है इसलिए इसकी चर्चा हम यहाँ नहीं कर सकते। व्यवहार में नीति का निश्चय आर्थिक की बजाय राजनीतिक हेतुओं से ही होता है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण भी निरपेक्ष भाव से निर्णय करने के लिए आधार बन सकता है। यह सिद्धान्त बना लेना कि सरकार द्वारा संचालन अधिकतम दक्षता उत्पन्न कर देगा ठीक नहीं होगा।[२] एक ओर तो राष्ट्रीयकरण में इस बात की सब से अधिक आशा है

---

१. जैकसनविल न्यास के बारे में कहा जाता है कि उसके राजस्व का ३० प्रतिशत से अधिक सार्वजनिक उद्यमों से आता है। देखिए—Hansen and Perloff, "State and Local Finance in the National Economy."

२. यह सोचने के लिए कारण है कि टेलीफोन विकास के सम्बन्ध में यदि अधिक अग्रगामी नीति अपनाई जाती तो ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को लाभ रहता, देखिए Robson

कि नियन्त्रण की इकाइयाँ उतनी ही बड़ी रखी जायँ जितना प्रावैधिक आदर्श (technical optimum) हो—जिस लाभ का प्रावैधिक एकाधिकार (technical monopoly) में विशेष महत्त्व होता है—दूसरी ओर सरकारी उद्यम में कार्य-दक्षता का जो मापदण्ड है (न्यूनतम सामाजिक लागत पर उत्पादन) वह निजी उद्यम के मापदण्ड (व्यय तथा प्राप्ति के अन्तर को अधिकतम बढ़ाना) जितना सुविधाजनक नहीं है। सांख्यिक खोज और नीति की वैषयिक कसौटी के आधार पर व्यवस्थित जाँच के बाद ही किसी प्रसंग-विशेष में यह निश्चित किया जा सकता है कि समाज-हित का पलड़ा किस ओर झुकता है। दूसरे ढंग के आर्थिक व्यय की दक्षता की भी समय-समय पर सांख्यिकीय जाँच होती रहनी चाहिए क्योंकि यदि इससे उत्पादन में वृद्धि नहीं होती तो उनके औचित्य के विषय में सन्देह उपन्न हो जायेंगे।

३. वर्त्तमान राज्य में सामाजिक व्यय (Social Expenditure in the Modern State)—कुछ पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार के ख़र्च का सब से बड़ा भाग सामान्य दिनों में सामाजिक व्यय होता आ रहा है। सामाजिक सेवा तो देश की पुरानी परम्परा में है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ-काल में ही निर्धनों की सहायता पर होने वाला ख़र्च राष्ट्रीय आय की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक ही था, चाहे शताब्दी के मध्य के करीब विक्टोरियन युग की समृद्धि की वृद्धि के साथ-साथ वह कुछ कम हो गया जब नये दरिद्र विधि (Poor Law) को कठोर बना दिया गया। किन्तु तब तक अन्य सामाजिक सेवाएँ भी उस के उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक होने लग पड़ीं। आधी शताब्दी बीत चुकने के पहले ही शिक्षा सेवाओं को सरकारी कोष से सहायता दी जाने लगी, १८७० से सार्वजनिक शिक्षा राज्य के हाथ में ही आ गई। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएँ भी शताब्दी के मध्य से पहले ही प्रारम्भ हो गईं (और मध्य में, अत्यन्त विनाशकारी हैजे की महामारी के प्रकोप ने उन्हें बहुत बढ़ा दिया)। वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में १९१४-१८ के महायुद्ध के परिणाम-

Public Enterprise. विकास में देर लगने का एक बड़ा कारण तो यह है कि टेलीफोन पर जो कि स्वयं "कमाऊ" सेवा है, "निखट्टू" तार सेवा लादी हुई रहती है। यह इस प्रकार का आर्थिक अपव्यय है कि सार्वजनिक सेवा के लिए एक प्रलोभन हो सकता है।

स्वरूप उनका और भी विस्तार हुआ और १९४५ के पश्चात् इन सेवाओं का उस से भी अधिक प्रसार हो गया।

इस सदी की पहली दशाब्दी के उदारदलीय प्रशासन (Liberal Administration) ने सामाजिक बीमा और वृद्धता-पेन्शन शुरू की और अन्तर्युद्ध काल में इनका विस्तार हुआ। किन्तु १९४२ की "बीवरिज" रिपोर्ट[1] को कार्यान्वित करने के लिए उठाए गए वैधानिक पगों से ही सामाजिक सुरक्षा (social security) एक राष्ट्र-व्यायी व्यवस्था के रूप में ढल कर तय्यार हुई। १९१४-१८ के युद्ध के पूर्व स्थानीय प्राधिकारियों के द्वारा गृह-निर्माण एक अत्यल्प रूप से शुरू होकर १९२० से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी तक फैल कर एक प्रमुख राष्ट्रीय सेवा बन चुका था। कुल मिलाकर, अन्तर्युद्ध काल में बने हर चार घरों में से एक राज्य की ओर से बना। द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद के सालों में तो गृह-निर्माण "उद्योग" का मानो "राष्ट्रीयकरण" ही हो गया—प्रत्येक दस घरों में से आठ से नौ तक राज्य-अधिकारियों के द्वारा बनवाए गए और गृह-निर्माण की गति अन्तर्युद्ध काल में जितनी रही थी उससे कहीं ज़्यादा हो गई। १९५० की दशाब्दी में वैयक्तिक गृह-निर्माण धीरे-धीरे फिर शुरू हुआ पर तब भी, कम से कम प्रारम्भ में तो, राज्य के उपक्रम में कोई विशेष कमी नहीं आई। यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि अन्तर्युद्ध काल में ही ब्रिटेन में सामाजिक सेवाएँ किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा बड़े पैमाने पर दी जा रही थीं, तो भी अभाव का पूर्णतया उन्मूलन करने में—जो बीवरिज योजना का लक्ष्य था, वे असमर्थ रहीं और आज भी असमर्थ हैं।

ब्रिटेन की वर्त्तमान सामाजिक सेवाओं का स्थूल-रूप में तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है—(i) शिक्षा, (ii) सार्वजनिक स्वास्थ्य (गृह-व्यवस्था और स्वास्थ्य-बीमा सहित) और (iii) आय अनुपूरक (income supplements) कर पद्धति द्वारा दूसरे नागरिकों से नकदी अथवा जिन्स के रूप

१. सामाजिक बीमा व सम्बन्धित सेवाओं के लिए अन्तर्विभागीय कमेटी की रिपोर्ट।

में आय का हस्तान्तरण। इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अब बहुत प्रकार की सेवाएँ आ जाती हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा में स्कूलों व शिल्पिक कालेजों का प्रबन्ध, कतिपय स्कूलों, कालेजों व विश्वविद्यालयों को दिया जाने वाला अनुदान, शिक्षकों व अन्य कर्मचारियों को दिए गए वेतन, विद्यार्थियों को दी गई छात्रवृत्तियाँ और साधारण अनुदान, सहायक सेवाओं का प्रबन्ध, स्कूलों में भोजन-व्यवस्था व चिकित्सा सेवा, तथा अन्तिम—पुस्तकालयों, अजायबघरों (museums) और चित्र वीथिकाओं (picture galleries) की व्यवस्था—यह सब कुछ आ जायेगा। परन्तु कुल शिक्षा व्यय में से आधे से काफ़ी ज़्यादा सार्वजनिक प्रारम्भिक स्कूलों पर ही लग जाता है।

स्वास्थ्य पर प्रथम सरकारी व्यय हुआ था सड़कों की सफाई, मल प्रवाह पद्धति (sewerage) और उद्यानों तथा स्नानागारों के प्रबन्ध के लिए।[1] उन्नीसवीं शताब्दी के बीतते-बीतते पागलों और निर्धनों (paupers) जैसे समाज के अभागे व्यक्तियों के लिए सरकारी चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध करवाई गईं परन्तु सामान्य स्वास्थ्य सहायता का प्रबन्ध राज्य की ओर से तब तक नहीं था जब तक इस सदी की प्रथम दशाब्दी की उदारदलीय सरकार के द्वारा दूसरे सामाजिक सुधारों के साथ स्वास्थ्य बीमा प्रारम्भ नहीं किया गया। अन्तर्युद्ध काल में क्षय रोग व मैथुन (venereal) रोगों की चिकित्सा तथा प्रसूति (maternity) जैसी विशेष आवश्यकताओं के लिए भी सेवाएँ उपलब्ध करवाई गईं। अन्त में १९४९ में सब के लिए निःशुल्क (अथवा बहुत मात्रा में साहाय्य-प्राप्त) और आवश्यकतानुसार चिकित्सा देने वाली राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा (National Health Service) तथा अस्पतालों का एक राष्ट्रीय संगठन शुरू हुआ। इन व्यक्तिगत स्वास्थ्य सेवाओं के साथ ही सम्मिलित

१. इन में से कई सेवाओं का स्वास्थ्य के साथ अधूरा-सा ही सम्बन्ध है और अधिक उपयुक्त शायद यह है कि उन्हें (कुछ अन्य सेवाओं के साथ, जैसे कि शिक्षा व्यय का अधिक सांस्कृतिक अंश) नागरिक सुविधाएँ गिना जाए जिनका विकास किसी नगर की सम्पत्ति व उद्यम का एक महत्त्वपूर्ण चिह्न है। देखिए J. R. and U. K. Hicks, Standards of Local Expenditure.

करना चाहिए उन पोषक (nutritional) खाद्यों—विशेषकर दूध—पर हुआ व्यय जो दूध पिलाने वाली माताओं और बच्चों को बिना मूल्य दिए जाते हैं । यह दूसरे महायुद्ध के दिनों में ही उल्लेखनीय परिमाण पर शुरू हुआ परन्तु अब राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए राजकीय प्रबन्ध का एक सुनिश्चित और सब से महत्त्वपूर्ण भाग बन गया है। युद्ध-काल में इन से भी अधिक महत्त्व सामान्य खाद्य-साहाय्यों (general food subsidies) का था। उन पर अधिक से अधिक ४० करोड़ पौंड राशि खर्च हुई जो राष्ट्रीय आय की ४ प्रतिशत थी। खाद्य के प्रचुर होने के साथ वे क्रमशः कम किए गए किन्तु १९५३ में भी (खाद्य मन्त्रालय की व्यापार हानि के रूप में मापा जाए तो) उनकी राशि लगभग २० करोड़ पौंड थी। चाहे यह स्वीकार किया जाता था कि अत्यन्त निर्धन लोगों के उपभोग को सहारा देने के लिए राजसाहाय्य एक प्रभावशाली उपाय है, पर वह एक मँहगा उपाय था क्योंकि व्यय का अधिकांश उन लोगों की सहायता पर लगता था जो अपने खाद्य को बाजार भाव पर खरीदने का सामर्थ्य रखते थे।

व्यक्तिगत आयों के शेष अनुपूरक (supplements) मुख्यत: "व्यक्तियों को रोकड़ (नकद) अनुदान" के रूप में दिए जाते हैं। इसके अपवाद हैं वृद्धता-पेन्शन प्राप्त बूढ़ों (old-age pensioners) के चाय व तम्बाकू कार्ड और राष्ट्रीय सहायता के द्वारा दिए जा सकने वाले खाद्य तथा भाटक प्रमाणक (rent voucher)। बेकारी पर व्यय व्यापार की स्थिति पर निर्भर है किन्तु प्रति व्यक्ति दी गई सहायता धीरे-धीरे अदक्ष श्रम के वेतन-स्तर के निकट आती गयी है। प्रति व्यक्ति पेन्शन की भी प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ने की ओर ही है, साथ ही जनसंख्या की आयुवृद्धि के साथ उसमें चिरकालिक विस्तार हो रहा है। १९४८ में नई सामाजिक सुरक्षा पद्धति के साथ अतिरिक्त लाभ भी उपलब्ध हो गए, जैसे बच्चों का भत्ता और विवाह तथा मृत्यु पर शोधन (payments)।

१९३० की दशाब्दी में सार्वजनिक सामाजिक सेवाओं पर (महायुद्ध की पेन्शनों सहित क्योंकि उनका भी सामाजिक परिणाम वैसा ही होता है) वर्ष में

५० करोड़ पौंड व्यय करने पड़ते थे। इसका लगभग एक चौथाई शिक्षा पर लगता था, एक चौथाई स्वास्थ्य सेवाओं पर (जिसमें गृह-निर्माण व्यय का वह भाग जो ऋण से पूरा नहीं होता था, सम्मिलित था), शेष आधा वैयक्तिक आयों को बढ़ाने पर लगता था (सामाजिक हस्तांतरण)। इस आधे का लगभग आधा सार्वजनिक सहायता और बेकारी-शोधन (unemployment payments) पर तथा आधा विभिन्न प्रकार की पेन्शनों पर खर्च होता था। तात्पर्य यह कि सामाजिक व्यय सेवाओं की अपेक्षा आयों के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया था। १९५३ तक सामाजिक सेवाओं पर कुल व्यय बढ़ कर २५० करोड़ पौंड हो गया था (वास्तविक अर्थ में ३५० प्रतिशत वृद्धि)। किन्तु सेवायुक्ति (employment) का स्तर ऊँचा होने के कारण वैयक्तिक आयों को बढ़ाने पर हुआ व्यय अनुपात से कम था।[1] पेन्शनों पर लगी राशि ने वह कमी लगभग पूरी कर दी।

आर्थिक व्यय वैसे तो केन्द्रीय सरकार का प्रशासकीय और वित्तीय उत्तरदायित्व है, किन्तु स्थानीय प्राधिकारी परम्परा से सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था के लिए संसद् के प्रतिनिधि चले आ रहे हैं। सामाजिक सुरक्षा के राष्ट्रव्यापी बनने और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा (National Health Service) की स्थापना के बाद से केन्द्रीय साधन सामाजिक व्यय के ६० प्रतिशत से भी अधिक के लिए प्रत्यक्ष उत्तरदायी हो गए हैं। इसके पहिले कई वर्ष राजकोष से भारी अनुदान (grants) की एक व्यापक योजना के द्वारा स्थानिक सेवाओं की सहायता की जाती रही। यह योजना दो कारणों से बनाई गई थी—एक तो स्थानीय क्रियाशीलता को प्रोत्साहन देने के लिए और दूसरे, कम समृद्ध क्षेत्रों की कठिनाइयों को कम करने के लिए। इस तन्त्र (apparatus) के कारण उठने वाले नीति के प्रश्नों की जाँच हमें बाद में करनी होगी।[2]

एडम स्मिथ के विचार में "तृतीय कर्त्तव्य" के रूप में[3] जो "लोक-कार्य"

---

१. देखिए, अध्याय १६, विशेष रूप से विभाग ४।

२. देखिए अध्याय १५, विशेष रूप से विभाग २ और ७।

३. "टोल"।

होते हैं वे आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होंगे क्योंकि उनका खर्चा विक्रय और शुल्क से प्राप्त धन में से ही हो जायेगा और इस कारण राजस्व पर उनका कोई भार नहीं पड़ेगा। स्थानीय व्यापारिक सेवाओं और राष्ट्रीयकृत उद्योगों में लगभग ऐसा ही है। डाक सेवाएँ प्रायः कुछ लाभ दे जाती हैं (१९३० की दशाब्दी में कुल १ करोड़ १० लाख पौंड, किन्तु युद्ध के पश्चात् से जिनकी वास्तविक कीमतें कम हो गई हैं)। राज्य सरकार उस मात्रा में सामान्य राजस्व की सहायता के लिए उन्हें उपलब्ध भी समझता है। अठारहवीं शताब्दी में सड़कों का व्यय उन्हीं में से निकालने के लिए पथकर (tolls) की युक्ति काम आई। सिद्धान्त रूप में इसी प्रकार का परिणाम अन्तर्युद्ध काल में सड़क निधि (road fund) के स्वतन्त्र अस्तित्व के समय में भी प्राप्त किया गया (जो १९३७ में समाप्त हो गया) जब कि वाहन-कर और ईन्धन-कर से प्राप्त राजस्व सड़कों के खर्च के लिए निश्चित कर दिया गया। परन्तु व्यवहार में वह राजस्व अधिकतर सामान्य आवश्यकताओं पर ही लगता रहा। पथकरों (tolls) की विधि अभी भी अमरीका में बहुत चलती है और उसके द्वारा यदि करदाता का बहुत सा भार कम हो जाए और सड़कें बन जाएँ तो उस पद्धति के पक्ष में प्रबल युक्तियाँ हैं चाहे अन्यथा भी अधिक वेगशील परिवहन के द्वारा अन्ततः व्यय की अपेक्षा उन से लाभ कहीं अधिक हो जाता है।

सामाजिक सेवाओं को आत्म-निर्भर बनाने का विचार देर से छोड़ा जा चुका है। यह तो सच है कि कुछ सेवाओं के लिए शुल्क लिया जाता है (जैसे राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में निर्देशों (prescriptions) और यन्त्र आदि (apparatus) के लिए; अन्तर्युद्ध काल में कुछ प्राधिकारियों ने जो किराए लिये वे ऐसे थे कि गृह-निर्माण के लिए सामाजिक सेवा की बजाय व्यापारी सेवा का नाम अधिक उपयुक्त मालूम होगा। फिर भी बहुत बड़ा बहुमत इसी पक्ष में है कि सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था निःशुल्क हो जिससे उपभोक्ताओं की आयों में अधिक समानता आए।

केवल एक प्रकार का लोक-व्यय बचा है जिसकी हमने अभी तक चर्चा नहीं की—राष्ट्रीय ऋण पर लगने वाला ब्याज। सरकार को यह भी अपने

कोष पर पड़ने वाला एक और भार ही मालूम होता है क्योंकि जो राजस्व उस में लग जाता है वह सामाजिक या आर्थिक विकास के अधिक उपयोगी उद्देश्य के लिए भी लग सकता है परन्तु ऋण-देय (debt charge) की ओर इस दृष्टि से देखना भ्रमपूर्ण है।[1] एक तो इस कारण कि ब्याज का राजस्व पर जो भार है वह जितनी राशि इस के लिए चाहिए उसके अनुरूप नहीं होता क्योंकि इस ब्याज पर कर लग जाते हैं। ब्रिटेन में अधि-कर (sur-tax) के दर इतने ऊँचे हैं कि राष्ट्रीय ऋण भी उल्लेखनीय मात्रा में आत्म-निर्भर हो जाता है।

परन्तु ऋण-ब्याज के व्यय को अन्य व्यय से भिन्न मानने के लिए एक और, अधिक महत्त्वपूर्ण, कारण भी है। वह ऋण के स्वरूप में है। ब्रिटिश राष्ट्रीय ऋण, लगभग सारा ही, भूतकाल के युद्धों की देन है। युद्ध-काल में सरकार वैयक्तिक क्षेत्र से ऋण लेती है। किन्तु युद्ध की समाप्ति पर इस ऋण के विरुद्ध कोई ठोस परिसंपत् (tangible assets) नहीं होते, बस ऋण-दाताओं के हाथ में सरकार के ऊपर काग़ज़ी दावे होते हैं। इसलिए राष्ट्रीय ऋण किसी अपव्ययी द्वारा लिये गए उपभोग-ऋण के समान है जिसको उसकी आय (यदि हो तो) का प्रतिसादन (set off) माना जा सकता है। अधिक तर्कयुक्त यह है कि राष्ट्रीय ऋण के ब्याज को एक नकारात्मक लोक आय समझा जाए न कि सकारात्मक व्यय। किसी भी अवस्था में इस का अन्य प्रकार के लोक-व्यय से भेद अवश्य करना चाहिए।

४. लोक-व्यय के बल का परिवर्त्तन (The Changing Emphasis of Public Expenditure)—ऊपर की चर्चा से यह अर्थ निकलता है कि एडम स्मिथ की बनाई हुई "सम्राट् के कर्त्तव्यों" की सूची आज भी लोक-व्यय के वर्गीकरण के लिए अनुपयुक्त नहीं है। वर्त्तमान काल में किसी अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक सेवाओं के महत्त्व को प्रकट करने के लिए उन्हें आंकड़ों के रूप में बताना आवश्यक है। विभिन्न सेवाओं का सापेक्ष महत्त्व उन की पारस्परिक तुलना की बजाय समाज के कुल साधनों को सामने रख कर ही

---

१. राष्ट्रीय ऋण के आर्थिक महत्त्व की चर्चा के लिए देखिए अध्याय १६।

सब से अच्छी प्रकार स्पष्ट होता है। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि काल की गति के साथ-उनका विकास किस तरह हुआ है और आर्थिक अवस्था के उतार-चढ़ाव के कारण उनमें कैसा परिवर्तन होता है।[1] तालिका १ में ये परिवर्तन, ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय के साथ लोक-व्यय के विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध दिखा कर प्रकट किए गए हैं। इसके लिए १६१३, १६२४, १६३८ और १६४८ के "सामान्य" वर्षों के आँकड़े लिये गए हैं (जिन्हें सांख्यिकीय मालाओं में आधार वर्ष माना जाता है), फिर १६३२ के बुरे वर्ष के और अन्त में १६५० और १६५३ के।

तालिका १

ब्रिटिश लोक-व्यय (चालू खाता) के मुख्य प्रकार, राष्ट्रीय आय (कारक व्ययानुसार) के प्रतिशत रूप में।

The main types of British Public Expenditure (on current account) as percentages of the National Income (at factor cost)

वर्ष	सुरक्षा %	नागरिक प्रशासन %	सामाजिक व्यय %	आर्थिक व्यय: सामान्य %	आर्थिक व्यय: सड़कें %
१६१३	३·६	०·६	५·५	०·००६	१·०
१६२४	३·२	१·३	१०·३	०·२	१·६
१६३२	३·१	१·७	१५·८	०·५	१·६
१६३८	७·८	१·५	१३·०	०·६	१·४
१६४८	७·५	३·०	१४·०*	०·६	०·६
१६५०	६·६	३·०	१४·०*	०·६	०·७
१६५३	६·०	३·०	१६·०	०·४	०·५

*खाद्य साहाय्य (food subsidies) मिलाकर, १८%

१. कारक व्ययानुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय (net national income at factor cost) जिसका यहाँ उपयोग किया गया है साधनों की उपज का पूर्णतया सन्तोषजनक माप नहीं

इस तालिका में सामाजिक व्यय का महत्त्वपूर्ण स्थान अत्यन्त ज्वलंत रूप से प्रकट है। परन्तु आर्थिक सेवाओं का महत्त्व, उन पर हुए व्यय के परिमाण से अधिक है, यह भी ध्यान रखना चाहिए। अन्य प्रकार के आर्थिक व्यय के विपरीत सड़कों का विकास रुका रहने दिया गया है, और इसमें तनिक भी शंका नहीं कि मोटर गाड़ियों के उपयोग में तीव्र वृद्धि के साथ साथ सड़कों की उपेक्षा उच्च दुर्घटना दर का एक बड़ा कारण है, जो सब के दुःख का विषय है। १९१३ की अपेक्षा १९३८ में सुरक्षा व्यय बहुत अधिक था यह भी रोचक तथ्य है। उससे भी बढ़ कर यह कि १९५० के पश्चात् से तृतीय विश्वयुद्ध के भय ने उसे कितना बढ़ा दिया है।

१९३२ के मन्दी के वर्ष में सभी सेवाएँ राष्ट्रीय आय की अपेक्षया बढ़ीं इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अधिकांश सेवाएँ जिस दीर्घकालीन प्रबन्ध के वश संचालित होती हैं उसकी परिदृढ़ता (rigidity) का इससे परिचय मिलता है। परन्तु प्रतिशत में वृद्धि का अर्थ परम (absolute) वृद्धि नहीं है, सिवाय आर्थिक सेवाओं पर हुए व्यय और सामाजिक व्यय के। इसके उलट, बजट को संतुलित करने के लिए खर्च का हर सम्भव प्रयत्न किया गया। सामाजिक व्यय में जो वृद्धि हुई वह भी केवल बेकारी-भुगतान (unemployment pay) और सार्वजनिक सहायता के कारण ही। अन्य सेवाओं में, विशेषकर शिक्षा में काफी कटौती करने की कोशिश की गई। इस प्रकार सरकारी क्षेत्र ने आयों का अपना सामान्य हिस्सा न बाँट करके मन्दी को और भी गहरा करने का कार्य किया। लोक सेवाओं में इस प्रकार का राजकोषीय

है क्योंकि उसमें स्थिर उपकरणों के अवमूल्यन को निरंकुश ढंग से तय कर के रखा गया है। परन्तु हमारी अवधि के पूरे समय के लिए उपलब्ध यही एक माप है। शुद्धतावादी (Purist) लोग इस बात को देखें कि सामाजिक स्थानान्तरण अन्य सामाजिक व्यय में सम्मिलित है जब कि वह (अन्य प्रकार के स्थानान्तरण के सहित) राष्ट्रीय आय की गणना में छोड़ दिया गया ताकि दो बार गिनती न हो जाए। यदि हम १९५३ में सामाजिक व्यय में से उसे छोड़ दें तो वह १६ प्रतिशत से कम होकर ७ प्रतिशत रह जाएगा।

विकार (fiscal perversity) नीति का एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिसका हमें बाद में विचार करना होगा।[1] दूसरी ओर, आर्थिक और सामाजिक व्यय को अन्तर्युद्ध काल में ही जितना महत्त्व प्राप्त हो चुका था उससे सिद्धान्त रूप में उच्च सेवायोजन नीति (high employment policy) पर आचरण के लिए स्थिति अनुकूल ही बनी क्योंकि उसके लिए वे बहुत उपयुक्त कारक हैं।

तालिका में दिखाई देता है कि सार्वजनिक क्षेत्र का जो विकास पूरे अन्तर्युद्ध काल में लगभग निरन्तर रूप से हुआ वह स्पष्टतया किसी राजनीतिक दल विशेष के सत्तारूढ़ होने पर निर्भर नहीं था। समाज ने वैयक्तिक की अपेक्षा अधिक सार्वजनिक सेवा की माँग की और उसे प्राप्त किया। इसका महत्त्व क्या है? बहुत कुछ तो जो विकास हुआ वह जीवन-स्तर के ऊँचा होने का परिणाम मात्र था। धनवान समाज सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था अधिक विपुलता से कर सकते हैं। जब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो चुकती हैं, तभी लोकतन्त्र के बहुमत बिलकुल आधारभूत सामूहिक आवश्यकताओं (fundamental collective wants) से आगे बढ़ने के लिए तैयार होते हैं।

प्रश्न का दूसरा पहलू भी है। एक बार ऊपर की ओर गति चल पड़े तो यह सरल भी होता है और सब को पसन्द भी, कि जब एक दिन सब की राय सार्वजनिक सेवाओं के विस्तार के पक्ष में हो जाए। एक बार एक सेवा की स्थापना हो जाए तो वह अनिवार्य रूप से बढ़ने की ओर ही चलती है। क्या इसमें यह डर नहीं कि इस प्रकार समाज, मानो अनजाने ही, अपने लिए इतनी सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्ध कर ले जितनी कि वह न मानता यदि वह किसी एक कालखण्ड में होने वाले समूचे विकास को एक साथ देख सकता? यह भय कोरी कल्पना ही नहीं है। परन्तु इससे बचने के दो उपाय हैं। प्रथम तो व्यय का नियन्त्रण करने और निपुणता (efficiency)

---

१. भाग ३ से।

का परीक्षण करने के लिए एक प्रभावशाली प्रशासन-यन्त्र (effective administrative machinery) चाहिए। दूसरे, उपयुक्त विकास की सीमाओं का निश्चय करने और परस्पर-विरोधी दावों (claims) वाली आवश्यकताओं में राष्ट्र के साधनों के बँटवारे के लिए ठीक पूर्ववर्तिताओं (correct priorities) का निर्णय करने के वास्ते अर्थात् कौन सी पहले कौन सी बाद में इसमें नीति के सुस्पष्ट फैसले के लिए लक्ष्य तय होने चाहिएँ और उनकी प्राप्ति के लिए प्रयास होना चाहिए। इन दो नियन्त्रणों की व्यवस्था की हमें बारी-बारी से जाँच करनी होगी।[१]

१. देखिए क्रमानुसार अध्याय ४ व ६, साथ ही अध्याय १५ भी।

अध्याय ३

वित्तीय नीति की रचना

(The Making of Financial Policy)

१. संसद् की प्रभुता (Sovereignty of Parliament)—नीति मन्त्रि-मण्डल द्वारा प्रस्तावित होती है परन्तु उस पर आचरण होने से पहिले संसद् की स्वीकृति आवश्यक है। हमारी रुचि उन राजनीतिक शक्तियों में नहीं है जो नीति का निश्चय करती हैं, बल्कि उन वित्तीय साधनों में जिनका उपयोग संसद् उसे व्यवहार में लाने के लिए करती है और जिस नीति के अनुसार उन साधनों को चुना जाता है उसमें। सार्वजनिक वित्त में सफलता के लिए स्थायित्व (stability) और लचीलेपन (flexibility) का कुशल सन्तुलन (judicious balance) आवश्यक है—स्थायित्व इसलिए चाहिए कि अनावश्यक परिवर्तन मँहगा होता है और नियन्त्रण के सूत्रों को ढीला कर देता है, और लचीलापन इसलिए कि परिवर्तनशील जगत् में सार्वजनिक वित्त को परिस्थिति के अनुसार ढालते रहना आवश्यक है। हमें इसकी जाँच करनी है कि ब्रिटेन में जिस वित्तीय यन्त्र का विकास हुआ है उसमें ये गुण कहाँ तक हैं।

सारी वित्तीय नीति का अन्तिम नियन्त्रण संसद् के हाथ में होता है और उसी पर देश के हर कर लेने वाले और खर्च करने वाले विभाग का अन्तिम उत्तरदायित्व भी है। यह ब्रिटिश संविधान का एक सिद्धान्त है कि संसद् कानून की दृष्टि से सर्वशक्तिसम्पन्न है परन्तु लोक सभा का निकट नियन्त्रण बहुत सीमित होता है चाहे सत्तारूढ़ दल भारी बहुमत में हो।

वास्तव में सार्वजनिक वित्त पर संसदीय नियन्त्रण की तीन मात्राएँ (degrees) की जा सकती हैं। सरकारी व्यय का एक भाग और उसके अनुरूप राजस्व संसद् में निकट के अधिकार क्षेत्र (immediate jurisdiction)

से पूर्णतया बाहिर ही होता है (स्थानीय प्राधिकारियों के नियन्त्रण में होने के कारण), एक दूसरा भाग ऐसा है जिसकी समीक्षा संसद् करती है पर बिना वाद-विवाद के स्वीकार कर लेती है, शेष भाग संसद् के सामने अति विस्तार से रखा जाता है और उस पर पर्याप्त बहस भी होती है। स्पष्ट है कि यह तीसरा भाग ही सब से अधिक नियन्त्रण में होता है और समायोजन (adjustment) के लिए सबसे अधिक सुविधाजनक भी, किन्तु फिर भी संसद् के हाथ काफी मात्रा में पिछली संविदाओं (contracts) से और सेवाओं के स्वरूप से बँधे होते हैं। सार्वजनिक वित्त कभी भी नए सिरे से शुरू नहीं होता जैसे किसी भी "चलती दुकान" का हिसाब।

सर्वप्रथम यह उपयोगी होगा कि तीन दर्जों के संसदीय नियन्त्रण का सापेक्ष महत्त्व देखा जाए। सन् १९५३ में मन्त्रिमण्डल ने चालू लेखा में ४,२७,४० लाख पौण्ड की व्यय-योजना संसद् के सामने रखी। राजस्व से ४,३६,८० लाख पौंड की प्राप्ति की योजना थी, जिसमें से ४,१७,७० लाख करों से मिलने वाले थे। इस प्रकार ९,४० लाख पौंड बचने वाले थे जिनका उपयोग नियोजन (investments) में किया जा सकता था अथवा मुद्रास्फीति (inflation) के दबाव को कम करने के लिए।[1] इस कुल व्यय में से ६,७,४० लाख पौंड सीधे संचित निधि (consolidated fund)[2] में से लिये जाने वाले थे अर्थात् वह दूसरी कोटि के नियन्त्रण में थे जिनकी संसद् समीक्षा ही करती है, वाद-विवाद नहीं।

इस विभाग में सब से महत्त्वपूर्ण मद (item) राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज की थी। एक बार संसद् ऋण लेने के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो ब्याज देने के लिए स्वीकृति देनी ही पड़ती है। जो राशि ब्याज रूप में देनी पड़ती है उसमें परिवर्त्तन तभी हो सकता है जब ब्याज दर बदली जाए या बजट की बचत में से मूल ऋण के एक अंश को चुका दिया जाए। इस कारण संसद् के इस विषय पर अधिक चर्चा करने का कोई अर्थ नहीं। इस विभाग की अन्य मदें

१. देखिए छठे अध्याय के प्रारम्भ में संतुलन पत्र।

२. संचित निधि के महत्त्व के लिए देखिए पृष्ठ ५६ और ५७।

भी दीर्घकाल के लिए नियत होती हैं, प्रसंविदा से अथवा सोची समझी हुई, उनमें उत्तरी आयरलैण्ड को १९२२ के समझौते के अनुसार दी जाने वाली देनगी भी सम्मिलित है, और राजपरिवार के घरेलू व्यय, अवकाश-प्राप्त विशेष नागरिकों की पेन्शनें और कुछ ऐसे पदाधिकारियों (जैसे न्यायाधीशों) के वेतन भी जिनका कार्यकाल संसद् के नियन्त्रण से मुक्त है। किसी असाधारण परिस्थिति के अतिरिक्त संसद् इनके विषय में कुछ करना चाहे इसकी सम्भावना बहुत नहीं है।

शेष व्यय-योजना तीन भागों में बँटी हुई थी—१३६ करोड़ ५० लाख पौंड प्रतिरक्षा सेवाओं की पूर्त्ति के लिए, २१९ करोड़ पौंड नागरिक व्यय के लिए और साढ़े चार करोड़ पौंड कर संग्रह के खर्च के लिए। प्रथम दो के वितरण के सविस्तर प्राक्कलन (detailed estimates) उपस्थित किए गए और उनकी बाकायदा चर्चा हुई। सिद्धान्त रूप में, यह सारा व्यय तृतीय कोटि के संसदीय नियन्त्रण में आता है। बहस के मध्य में कोई भी सदस्य योजना में परिवर्त्तन का सुझाव दे सकता था।[1] परन्तु वास्तविकता यह है कि संसद् स्थानीय प्राधिकारियों को ४२ करोड़ पौंड की राशि उसमें से देने के लिए वचनबद्ध थी। विभिन्न प्रकार की पेन्शनों के लिए और सामाजिक बीमा निधियों की सहायता के लिए उससे कहीं अधिक राशि (लगभग ९५ करोड़ पौंड) की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त अनुमान यह था कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की जिम्मेवारियों को निभाने के लिए ४४ करोड़ पौंड से अधिक की आवश्यकता होगी। इसलिए इन प्राक्कलनों (estimates) पर होने वाली बहस में, जहाँ तक इन राशियों का सम्बन्ध है, निर्णय करने की स्वतन्त्रता का अर्थ संसद् को यह याद दिलाना ही था कि अगर वह चाहे तो व्यवस्था बदलने के लिए उचित पग उठा सकती है परन्तु उस वर्ष के विषय में विशेष कुछ नहीं कर सकती।

संसदीय अनुदानों (grants) के अतिरिक्त स्थानीय प्राधिकारी संसद् से

१. जहाँ तक परिवर्त्तन का लोक-निधि पर कोई भार नहीं पड़ता था, देखिए पृष्ठ ६१।

पृथक् कर संग्रह भी करते रहे (स्थानीय दर 'local rate' और सामाजिक बीमा में अंशदान के रूप में) और इस प्रकार अपनी कार्रवाइयों के लिए आवश्यक धन का प्रबन्ध करते रहे। स्थानीय प्राधिकारियों के चालू लेखा में हुए व्यय का औसत लगभग ४० प्रतिशत संसदीय अनुदानों से पूरा हुआ। इन अनुदानों का लगभग ६० प्रतिशत ऐसी विशिष्ट सेवाओं के लिए सुनिश्चित था जिनकी देखभाल मोटे तौर पर मन्त्रियों के हाथ में थी जो संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं (जैसे शिक्षा मन्त्री)। शेष उन स्थानीय प्राधिकारियों के सामान्य राजस्व को बढ़ाने के लिए "समकारी" अनुदान ("Equalization" grant) के रूप में दिया गया जो समृद्धि में औसत से कम थे, भिन्न-भिन्न सेवाओं में उसका बँटवारा उन प्राधिकारियों ने स्वयं किया। हाँ उनकी नीति पर इन पर्याप्त मात्रा में मिले अनुदानों का अनिवार्य और दूरगामी प्रभाव अवश्य पड़ा।[1]

इसी प्रकार संसद् ने राष्ट्रीय बीमा निधि (National Insurance Fund) को दी गई राशि पर नियन्त्रण स्वयमेव ही हटा लिया। परन्तु उसका संचालन "पूर्वनियत दिशाओं" (predestinate grooves) में ही होता रहा जिनकी मोटी रेखाएँ संसद् द्वारा तय की हुई थी और इसी कारण जिन्हें कानून द्वारा बदला भी जा सकता था। तात्पर्य यह कि संसद् द्वारा स्थानीय प्राधिकारियों को और सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था (social security system) को दी गई भारी राशियाँ इस तरह व्यवहार में संसद् के निरन्तर नियन्त्रण से निकल गई और सब से निचली कोटि के नियन्त्रण में ही रह गई।

एक शब्द में कहना हो तो स्थिति यह बनी कि संसद् का नाममात्र नियन्त्रण तो चालू-लेखा-व्यय के लगभग ८० प्रतिशत भाग पर रहा परन्तु उसमें से अधिक से अधिक ३० प्रतिशत पर ही प्रभावी चर्चा होती थी। उसका कुछ अंश इतना प्रावैधिक (technical) था (जैसे प्रतिरक्षा व्यय)

१. स्वतन्त्र साधनों के साथ अनुदान का अनुपात और विशिष्ट अनुदानों का पुन्ज (block) अनुदानों के साथ अनुपात प्रत्येक प्राधिकारी का दूसरे से बहुत भिन्न था, किन्तु मन्त्रियों के नियन्त्रण की मात्रा में अपेक्षया काफ़ी कम।

कि साधारण लोग उस पर कोई विशेष लाभदायक चर्चा कर ही नहीं सकते थे। और कुछ दूसरे अंश दीर्घकाल के लिए बँधे हुए थे। इन अंशों में व्यापारी कार्रवाइयाँ सम्मिलित नहीं हैं। दूसरी ओर एकत्र किए गए करों का ८५ प्रतिशत संसद् के मतदान से हुआ। १६३८ की स्थिति की तुलना में केन्द्रीय सरकार ने अपना नियन्त्रण कराधान की अपेक्षा व्यय के ऊपर अधिक बढ़ा लिया था।

ये अंश संयुक्त राज्य जैसे किसी संघ राज्य की केन्द्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित अंशों से पर्याप्त अधिक है। साथ ही लचीलेपन के लिए ~~अवसर~~ जितना दीखता है उससे कुछ अधिक ही है। आर्थिक गतिविधि (activity) के स्तर में आने वाले परिवर्त्तनों के अनुसार अधिक समायोजन करने के लिए वैधानिक रीति से सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था सम्बन्धी नीति में और करार (agreement) द्वारा स्थानीय प्राधिकारियों की नीति में बदल करके अधिक प्रबन्ध किया जा सकता है। ये ऐसे विषय हैं जिन पर हम बाद में (भाग ३ में) लौटकर फिर आएँगे। तो भी यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश वित्त-व्यवस्था की विशेषता उसका लचीलापन नहीं, उसका स्थायित्व ही है। सार्वजनिक व्यय में, सुरक्षा व्यय छोड़कर जो बड़े परिवर्त्तन हुए हैं वे केवल वैधानिक परिवर्त्तनों के द्वारा ही किए गए हैं।

स्थायित्व स्वयमेव कोई गुण नहीं है। वह तो उसी सीमा तक वांछनीय है जहाँ तक लोक-व्यय का सब से अच्छा वितरण उसके द्वारा होता हो। वित्तीय नीति का वार्षिक योजना (जिसे साधारण बोलचाल में "बजट" नाम दे दिया जाता है) को बनाने वाले यन्त्र का परीक्षण करके हम देख सकेंगे कि इसकी सम्भावना कहाँ तक है।

२. **कोषागार** (The Treasury)—ब्रिटिश शासन-पद्धति में नीति का केन्द्र कोषागार है। मध्य युग के उत्तर काल में यह प्रथा चल पड़ी कि कोषाध्यक्ष का पद सम्राट् के मुख्य मन्त्री को दिया जाए। इस पद पर आरूढ़ होने वालों में एक विशेष व्यक्ति थे, लार्ड ट्रेज़रर बर्ले (Lord Treasurer Burleigh), साम्राज्ञी एलिजाबेथ प्रथम के महान् अमात्य (सेसिल वंश के

उन अनेक व्यक्तियों में से पहले, जिन्होंने उच्च राजपद प्राप्त किए) १७१४ के बाद कोषाध्यक्ष के पद को सदा एक आयोग (commission) को सौंप दिया जाता रहा है—अर्थात् कुछ लार्ड कमिश्नर एक नाम मात्र "बोर्ड ऑफ ट्रेज़री" के रूप में नियुक्त कर दिए जाते हैं जो कि इस पद के कार्यों को परस्पर बाँट लेते हैं।[1] व्यावहारिक दृष्टि से तो यह कल्पना की वस्तु ही रहती है क्योंकि व्यापार बोर्ड के समान [किन्तु बोर्ड ऑफ़ एडमिरल्टी (Board of Admiralty) के असमान] कोषागार बोर्ड की कभी बैठक ही नहीं होती। कोषागार का आज भी कितना महत्त्व है यह इससे प्रकट है कि प्रधान मन्त्री अब सदा "फ़र्स्ट लार्ड ऑफ दि ट्रेज़री" (First Lord of the Treasury) की उपाधि धारण कर लेता है और सरकार के सदस्यों का सामूहिक उल्लेख प्रायः "ट्रेज़री बैञ्च" (Treasury Bench) के नाम से किया जाता है।

"चांसलर ऑफ़ दि एक्सचेकर" (Chancellor of the Exchequer) जो राज्य का प्रमुख वित्तीय अधिकारी होता है, "सेकण्ड लार्ड आव् दि ट्रेज़री" कहलाता है। उसका कार्य है वित्तीय प्रश्नों पर मन्त्रिमण्डल को सलाह देना और लोक सभा में सरकार की वित्तीय नीति का प्रतिपादन करना। इसका सब से महत्त्वपूर्ण अवसर तब होता है जब वह बजट[2]—अर्थात् वर्ष की वित्तीय योजना प्रस्तुत करता है किन्तु सार्वजनिक वित्त के बढ़ते हुए महत्त्व के साथ अन्य अवसर भी अधिक होते जा रहे हैं जब चांसलर को उसकी व्याख्या करनी पड़े।[3]

---

१. इस पद्धति के इतिहास के लिए देखिए पृष्ठ ५६ और आगे।

१. इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रथम प्रयोग जिसका रिकार्ड मिलता है, १७३३ की एक पुस्तिका में हुआ मालूम होता है। देखिए मिस डी. एम. गिल, "दि ट्रेज़री १६६०—१७१४", इंगलिश हिस्टारिकल रिव्यू, १६३१।

३. "एक्सचेकर" का परम्परागत कार्य—जिससे उसको यह नाम प्राप्त हुआ है कर-प्राप्तियों का मिलान करना, अब राज्यकोष तथा लेखा परीक्षा विभाग (Department of Exchequer and Audit) के अधीन है जिसकी अध्यक्षता नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) करता है। देखिए पृष्ठ ६० और आगे।

चांसलर की सहायता के लिए अन्य दो मन्त्री होते हैं। दिसम्बर १९४७ से वित्त-सचिव के अतिरिक्त या तो एक "आर्थिक प्रश्नों के लिए राज्य मन्त्री" रहा है या एक अर्थ-सचिव। दोनों चांसलर को सामान्य वित्त व अर्थ नीति के सम्बन्ध में सलाह देते है किन्तु वित्त सचिव चांसलर के नीचे विशेष रूप से वित्तीय प्रशासन और प्रक्रिया (procedure) के लिए और अर्थ-सचिव (अथवा राज्य मन्त्री) विशेषतया विदेशी वित्तीय प्रश्नों के लिए चिन्ता करते है। अन्य कोषागार मन्त्रियों में पाँच "जूनियर लार्ड कमिश्नरों" (Junior Lord Commissioners) द्वारा सहायता प्राप्त संसद्-सचिव होता है; इन कमिश्नरों को सरकारी सचेतक (Government Whips) कहते है और इनके कर्त्तव्य लगभग पूर्णतया राजनीतिक होते है।

जैसे शासन में फ़र्स्ट लार्ड (First Lord) का केन्द्रीय व्यक्तित्व होता है उसी प्रकार नागरिक सेवा (Civil Service) में कोषागार केन्द्रीय विभाग होता है। १९३९ तक कोषागार का विभाग बिलकुल छोटा था, बड़े मन्त्रालयों में सब से कहीं छोटा, इसलिए एक शाखा का अधिकारी अन्य शाखाओं में अपने सहकारियों से परिचित हो सकता था और इसलिए जिस अधिकारी से आवश्यकता होती, सीधा सम्पर्क कर सकता था। प्रायः यह समझा जाता है कि कोषागार विभाग के निर्णय प्राप्त करने में जो विलम्ब होता था वह जटिल अफ़सरशाही के लाल फीते के कारण था परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। वास्तव में विलम्ब नीति के बड़े प्रश्नों के निर्णय में आने वाली कठिनाई का ही अनिवार्य परिणाम था।

कई वर्षों से कोषागार का एक क्रमिक किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूपान्तर होता आ रहा है। १९३९-४५ के महायुद्ध के काल में आर्थिक कार्यों में सरकार के हस्तक्षेप में बहुत वृद्धि हुई। युद्ध-काल के आर्थिक नियन्त्रणों में समन्वय का कार्य अधिकांश में या तो "लार्ड प्रेज़िडैण्ट आफ़ दि कौन्सिल" के निर्देशन में हुआ, या अन्य मन्त्रालयों के। और कोषागार के कर्त्तव्य सरकारी व्यय का विस्तार बढ़ने के साथ और विदेशी वित्त के प्रश्नों के गुरुतर होने के साथ

बहुत बढ़ गए। केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय (Central Statistical Office)[1] और आर्थिक विभाग मन्त्रिमण्डल कार्यालय में युद्ध के आरम्भ में स्थापित किए गए और उन्होंने "लार्ड प्रेज़िडैण्ट" की अध्यक्षता में संगठित हुए समन्वय के कार्य में भाग लिया। युद्ध के पश्चात् भी आर्थिक समन्वय का मुख्य उत्तरदायित्व कुछ काल तक "लार्ड प्रेज़िडैण्ट" पर ही रहा, किन्तु जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष नियन्त्रणों का ढाँचा धीरे-धीरे विसर्जित होता गया, बजट सम्बन्धी नीति और मुद्रा नीति जो कोषागार के परम्परागत उत्तरदायित्व में रही हैं, सामान्य आर्थिक नीति के साधन के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गईं। १६४७ में राज्यकोष महामात्र (Chancellor of the Exchequer) ने अपने पहले के कार्यों में सामान्य आर्थिक समन्वय का उत्तरदायित्व भी जोड़ लिया। उसी समय नव-निर्मित "केन्द्रीय आर्थिक योजना कर्मचारी मण्डल" (Central Economic Planning Staff) भी कोषागार के साथ कर दिया गया। १६५३[2] में मन्त्रिमण्डल का आर्थिक विभाग भी कोषागार को हस्तांतरित कर दिया गया।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि कोषागार ने वित्तीय प्रहरी के अपने परम्परागत कार्य से बढ़ कर अपने कार्यक्षेत्र को बहुत विस्तृत कर लिया है। चाहे "संपूर्ण युद्ध" (total war) की दृष्टि से अर्थव्यवस्था को संगठित करने की आवश्यकता ने उस वृद्धि के लिए अवसर उपस्थित किया, युद्धोत्तर काल के परिवर्त्तनों का महत्त्व और भी अधिक है। वह इस कारण कि उन में राष्ट्र की अर्थ नीति के विचार से शासन के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में जनमत में एक स्थायी परिवर्त्तन लक्षित है। इस क्रम में आने वाली अवस्थाएँ कोषागार के विभाग में नियुक्त कर्मचारी-संख्या में दिखाई देती हैं—१६४० के आरम्भ में जो ४०० के लगभग थी वह युद्ध की समाप्ति पर ८०० और १६५० के आरम्भ में १३५० हो गई। इस स्थिति से, यह लगभग निश्चित है, कि अब पूरी तरह वापिस लौटने की कोई सम्भावना नहीं है। यह सम्भव है कि भविष्य

१. देखिए अध्याय २०।

२. इन परिवर्त्तनों के महत्त्व के लिए देखिए अध्याय २०।

में विभिन्न रंग रूप वाले शासन नियन्त्रण और आयोजन की कितनी मात्रा आवश्यक है, इस विषय में भिन्न-भिन्न मत रखें और पृथक् ढंग से बल दें। वास्तव में १९५१ में नियन्त्रणों के हटने के साथ कोषागार की कर्मचारी संख्या भी कुछ कम हुई। परन्तु ये उतार-चढ़ाव साधारण से अधिक होंगे इस की सम्भावना बहुत नहीं। कोषागार के नए कार्यों के पीछे नीति क्या है यह अब दलगत प्रश्न नहीं जनमत का प्रश्न है, और दोनों प्रमुख दल इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते है।

इन प्रश्नों के साथ हमारा भाग ३. में भी सम्बन्ध आएगा। परन्तु यहाँ यह जान लेना चाहिए कि बड़े रूप में भी ब्रिटिश कोषागार तुलनीय देशों के केन्द्रीय वित्त विभागों के मुकाबले में एक छोटा सा विभाग ही है। यह इस कारण कि यह वास्तव में एक केन्द्रीय समिति ही है जो अनेक बिखरे हुए विविध प्रकार के कारकों (जैसे विनिमय निधि) के कार्यों में एकसूत्रता लाती है। यह अनुभव किया गया है कि इस ढंग से सीधे सम्पर्क और व्यक्तिगत सम्बन्ध के परम्परागत लाभ आज की जटिल परिस्थिति में भी काफी मात्रा में बने रहते हैं।

नए संगठन में कोषागार को पांच हिस्सों में विभक्त किया गया है—पूर्त्ति (Supply), स्थापना (Establishment), गृह-वित्त, विदेश-वित्त तथा आर्थिक विषय। इनके कार्य हैं क्रमशः खर्च करने वाले अन्य विभागों की कार्रवाइयों की देख-रेख, नागरिक सेवा के सामान्य संगठन की देखभाल (supervision), आन्तरिक वित्त नीति का ब्यौरा (details) तय करना, विदेशी देखभाल, वित्त नीति सम्बन्धी कार्य करना और सामान्य अर्थ-नीति का निर्धारण व समन्वय करना।

कोषागार के पूर्त्ति डिविजन (division) कर्मचारी वर्ग (staffs) के खर्च को छोड़कर अन्य सारे व्यय का नियन्त्रण करने का परम्परागत कार्य करते हैं। प्रत्येक को विभागों का एक समूह दिया गया होता है जिनके वित्तीय कार्यों का वह निरीक्षण करता है और प्राक्कलन (estimates) तथा व्यय-योजना बनाने में सहायता व सलाह देता है। इसके सम्बन्ध में हमें शीघ्र ही कुछ और भी कहना होगा।

स्थापना डिविजन (Establishment Division) नागरिक सेवा तथा सशस्त्र सेना के कर्मचारी मण्डल सम्बन्धी सभी प्रश्नों का निपटारा करते हैं। कुछ तो विभिन्न विभागों में नियुक्त व्यक्तियों की संख्या और उनका श्रेणी-बन्धन निश्चित करते हैं। अन्य वेतन, भर्ती मनुष्यशक्ति नीति और हटाने (superannuation) से सम्बन्धित कार्य करते हैं। कोषागार के बड़े अधिकारी (स्थायी संचिव) को नागरिक सेवा प्रमुख के विशेषण से याद करने की प्रथा हो गई है। इस उपाधि का अर्थ प्रायः यह लिया जाता है कि नाति में अब नियन्त्रण और समन्वय पहले से अधिक है।

गृह वित्त 'डिविजन्स' (divisions) का सम्बन्ध निम्न कार्यों से है—बजट तैयार करना, राजकोषीय नीति, राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध, बचत और बैंकिंग का प्रोत्साहन, और मुद्रा सम्बन्धी प्रश्न। यही पूँजी निर्गम (capital issues) का नियन्त्रण और स्थानीय प्राधिकारियों के लिए कर्जों का प्रबन्ध भी करते हैं।

विदेशी वित्त 'डिविज़न' दो वर्गों में बँट जाते हैं। एक का सम्बन्ध भुगतान शेष (Balance of Payments) समस्या के विभिन्न पहलुओं—जैसे निर्यात नीति (export policy), आयात कार्यक्रम (import programme), मुद्रा-विनिमय-नियन्त्रण आदि—से होता है। दूसरे का ब्रिटेन के अन्य प्रत्येक देश के साथ व्यापारिक व मुद्रा-विषयक सम्बन्धों से।

सामान्य आर्थिक प्रश्नों का निपटारा करने वाले 'सेक्शन' (section) हैं—केन्द्रीय आर्थिक आयोजन कर्मचारी मण्डल, विदेश समन्वय सेक्शन, और आर्थिक सेक्शन। इनका कार्य है आर्थिक सर्वेक्षण और देश-विदेश की आर्थिक प्रवृत्तियों के अन्य सामान्य अध्ययन करवाना। आर्थिक सेक्शन ही शासन के आर्थिक सलाहकार का कर्मचारी मण्डल होता है और आर्थिक प्रश्नों पर सामान्य सलाह देता है। केन्द्रीय आयोजन कर्मचारी मण्डल और विदेश समन्वय सेक्शन, जिनके कार्य अधिक विशेष रूप से प्रशासनात्मक हैं, आर्थिक नीति के विभिन्न पहलुओं में, विशेषकर जिनका सम्बन्ध कोषागार के अतिरिक्त अन्य आर्थिक विभागों के साथ है, एकसूत्रता लाने के लिए उत्तरदायी

हैं। इस कार्य में राष्ट्रीय नियोजन नीति का मेल बिठाना तथा व्यापारिक वार्त्ताओं में और कुछ अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों में ब्रिटिश नीति का समन्वय करना भी सम्मिलित है।

३. **वर्ष का वित्तीय कार्यक्रम** (The Annual Financial Routine)—ऊपर का विवरण है वित्तीय नीति बनाने के लिए उपलब्ध उपकरण का। व्यय और आय की योजनाएँ बनाने और उन्हें संसद् में पारित करवाने के वार्षिक नैत्यिक (annual routine) का संक्षेप में विचार कर के हम इस यन्त्र को काम करता हुआ भी देख सकते हैं।[1] संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) में वित्तीय वर्ष १ अप्रैल से आरम्भ होता है। उसकी औपचारिक वित्तीय तैयारी उससे ६ महीने पहले शुरू हो जाती है जब (१ अक्टूबर के लगभग) कोषागार विभिन्न विभागों को एक प्रार्थना भेजता है कि आगामी वर्ष के व्यय के प्राक्कलन प्रेषित करें। वास्तव में प्राक्कलनों का प्रारम्भ इस समय ही होता हो ऐसा भी नहीं है, वे तो मानो निरन्तर तैयारी में रहते हैं। एक वर्ष जब किसी मद पर व्यय होता है तो उस पर दिया गया वृत्त अगले वर्ष के उसी व्यय के आयोजन की पहली सीढ़ी बन जाता है।

वित्तीय कार्यक्रम का प्रारम्भ संसदीय कार्यक्रम के साथ ही आजकल शरत्काल में नए अधिवेशन के लिए संसद् के पुनः एकत्र होने पर होता है। संसद् के उद्घाटन पर साम्राज्ञी के भाषण में (जिसे मन्त्रिमण्डल तैयार करता है और गृह सचिव महारानी को प्रस्तुत करता है) पिछले अधिवेशन के कार्य का संक्षिप्त सिंहावलोकन और नए अधिवेशन के कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई होती है। जो नया विधान पारित करने की अपेक्षा हो और जो राजस्व संग्रह करने की आवश्यकता होगी—पुरानी सेवाओं की व्यवस्था के लिए भी और यदि कोई नया विधान (new legislation) पिछले अधिवेशन में पारित हुआ है तो उसके प्रबन्ध के लिए भी—उनका उल्लेख भाषण में होता है। यह ब्रिटिश संविधान की एक विशेषता है कि सामान्य नीति सम्बन्धी योजनाएँ

---

१. अधिक प्रशासनात्मक ब्यौरे के लिए देखिए Ivor Jennings : Parliament, विशेषतया अध्याय ६।

संसद् के दोनों सदनों को एक साथ बताई जाती हैं, किन्तु वित्त के प्रश्न आने पर अकेली लोक सभा को सम्बोधित किया जाता है।

साम्राज्ञी के भाषण के प्रत्युत्तर में दोनों सदनों की ओर से एक समावेदन (address) दिया जाता है (यह भी मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किया होता है।) बहस में विरोधी दल को शासन की सामान्य नीति पर आलोचना करने का और शासन को विरोधी दल की शक्ति आंकने का जो अवसर मिलता है वही समावेदन की बड़ी विशेषता है। जब वह समावेदन बिना किसी संशोधन के पारित हो जाए तो शासन की स्थिति बड़ी मजबूत समझी जाती है।

वित्त-वर्ष की इस अवस्था में कार्य के सिलसिले के लिए ज़रूरी यन्त्र का एक और भाग खड़ा किया जाता है। व्यय और राजस्व की बहस अध्यक्ष (Speaker) के सभापतित्व में होने वाली लोक सभा की औपचारिक बैठकों में नहीं होती। उसकी बजाय वह होती है सम्पूर्ण सदन की बनी हुई समिति में जिसकी बैठक विशेष रूप से चुने गए अध्यक्ष के सभापतित्व में होती है। अध्यक्ष वही होता है चाहे सदन व्यय का विचार कर रहा हो [जिस स्थिति में उसे पूर्ति (Supply) की समिति कहते हैं] अथवा कराधान का [जब उसका नाम अर्थोपाय की समिति (Committee of Ways and Means) होता है]। समावेदन पर बहस के समय ये समितियाँ औपचारिक रूप से बना दी जाती हैं और अध्यक्ष का चुनाव हो जाता है चाहे सारा यन्त्र क्रियाशील कुछ काल के पश्चात् ही होता है। यह कुछ बेढब-सी व्यवस्था इसलिए है कि बहस में अधिक स्वतन्त्रता रहे—उदाहरणार्थ इस विषय में कि एक ही प्रस्ताव पर कोई एक सदस्य कितनी बार बोले, और संसद् के स्थायी आदेशों का बन्धन न रहे जिनका पालन लोक सभा के अध्यक्ष के सभापति रहते हुए करना पड़ता है।

वित्त-वर्ष की अगली अवस्था है संसद् की ओर से प्राक्कलनों पर विचार। ये कोषागार को केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभागों द्वारा दिसम्बर के मध्य तक भेज दिए गए होते हैं और जनवरी के अन्त से पूर्व कोषागार द्वारा अस्थायी रूप से स्वीकार कर लिये जाते हैं। वे फरवरी के मध्य के आसपास

सदन के सामने रखे जाते हैं। पूर्ति के प्राक्कलन, सुरक्षा विभागों, नागरिक सेवा विभागों (Civil Service Departments) और राजस्व विभागों (Revenue Departments) के लिए क्रमश: पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में प्रस्तुत किए जाते हैं। कुल मिला कर उनका विस्तार सहस्रों पृष्ठों तक हो जाता है। नीति के दृष्टिकोण से नागरिक प्राक्कलन (Civil Estimates) सब से अधिक रोचक होते हैं क्योंकि प्रतिरक्षा व्यय का एक बड़ा भाग प्रावैधिक (technical) होता है और एक दूसरा बड़ा भाग (जैसे युद्ध सेवा पेन्शनों का) दीर्घकाल के लिए बँधा होता है।

प्रतिरक्षा प्राक्कलन लोक सभा में सम्बन्धित मन्त्री अपने-अपने विभाग के लिए प्रस्तुत करते है। किन्तु नागरिक प्राक्कलनों को लोक सभा में पारित करवाने का कार्य अधिकतर कोषागार का वित्त सचिव करता है। प्राक्कलनों का मन्त्रालयों के हिसाब से भिन्न-भिन्न "श्रेणियों" में वर्गीकरण किया गया है—जैसे पाँचवीं श्रेणी का शीर्षक है "स्थानीय शासन तथा आयोजन, गृह व्यवस्था, स्वास्थ्य, श्रम और राष्ट्रीय बीमा" जो सम्बन्धित मन्त्रालयों के कार्यों के लिए है। प्रत्येक श्रेणी को "मतों" (Votes) की कुछ संख्या में बाँटा गया है—१,२,३ आदि, ये प्रतिवर्ष एक ही प्रकार के व्यय को बताती हैं जिससे खर्च की पड़ताल में सुविधा रहे। हर "मत" को आगे ए०, बी०, सी० इस प्रकार शीर्षों के नीचे विभक्त किया गया है और उससे भी आगे प्रत्येक शीर्ष (head) को ए० १, ए० २, ए० ३ आदि में खण्ड-खण्ड कर के व्यय को बिल्कुल छोटी-छोटी राशियों तक पहुँचा दिया जाता है जो कभी तो १० पौंड तक किन्तु प्राय: १०० पौंड के लगभग होती हैं। अतः आयोजित व्यय का ब्यौरा अति विस्तृत होता है परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, सार्वजनिक लेखा के विलक्षण संगठन के कारण इस ब्यौरे से कोई बड़ी जानकारी नहीं मिलती।

वसन्त और ग्रीष्मारम्भ के दिनों में संसद् का एक बड़ा उत्तरदायित्व होता है, इन प्राक्कलनों पर विचार करना। किन्तु संसद् को इसके अतिरिक्त भी बहुतेरा काम होता है—नए विधेयक (new bills), चालू घटनाओं की चर्चा और सदस्यों के प्रश्नों के उत्तर। इसलिए यह तय कर लिया गया है कि

प्राक्कलनों के लिए कुल २६ संसदीय दिवस[1] विचारार्थ दिए ज सकते (जिनमें तीन दिन और बढ़ाने का अवकाश होता है यदि बिलकुल ही विवशता हो जाए)। ये "पूर्त्ति दिवस" संसद् के अधिवेशन के काल में, फरवरी से जुलाई के अन्त तक कभी भी रखे जा सकते हैं जब उन्हें अवश्य ही पारित किया जाना चाहिए। जिन "मतों" की चर्चा इस काल में न हो पाए उन्हें बिना बेहस के स्वीकार करना आवश्यक है।[2]

अप्रैल के प्रारम्भिक दिनों तक बीत चुके वित्तीय वर्ष के सभी मुख्य सौदे (transactions) पूरे हो चुके हैं और नवीन वर्ष के कार्यक्रम के लिए, जिसका औपचारिक उद्घाटन बजट-भाषण से होता है, रास्ता साफ़ हो जाता है। बजट की रात को सदन में खूब भीड़ होती है; विदेशी कूटनीतिज्ञ, विशेष दर्शक और पत्रकार सभी अपनी अपनी गैलरी में उपस्थित होते हैं। चांसलर के लिए वर्ष का, सम्भवतः उसके जीवन का, यह सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। वह घर से निकलता है तो उसके छायाचित्र उतारे जाते हैं—हाथ में वह थैला लिये हुए जिसमें कर परिवर्त्तनों के अत्यन्त आग्रहपूर्वक छिपा कर रखे गए रहस्य होते हैं। वह यह घोषणा चाहे न कर सके "युद्ध हो या शान्ति यह निर्णय मेरे हाथ में है", परन्तु कारबार जगत् को दृढ़ विश्वास होता है कि थैले में से व्यापार के लिए उज्ज्वल भविष्य भी निकल सकता है और मन्द भी।

पिट्ट के समय से बजट-भाषण संसद् में हुए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाषणों में से होते आ रहे हैं। विक्टोरियन युग में आँकड़े छपा नहीं करते थे

---

१. पहले संख्या २० थी। १९४७ के नवम्बर में बढ़ा कर २६ की गई ताकि राष्ट्रीय-कृत उद्योगों की समस्याओं की चर्चा के लिए समय मिल सके।

२. प्राक्कलनों के पेश किए जाने और मार्च के अन्त के मध्य में कुछ अन्य वित्तीय सिलसिला भी निठाना पड़ता है। यह समाप्त होने वाले वर्ष के सौदों को पूर्ण करने और बजट के विधान बनने तक नए वित्तीय वर्ष का जो चार मास का समय निकल जाता है उसके लिए अन्तरिम प्रबन्ध करने से सम्बन्ध रखता है। आवश्यक विधान दो संचित निधि कानूनों के रूप में आता है। इनके लिए हमें रुकने की जरूरत नहीं क्योंकि नीति का कोई प्रश्न उनमें खड़ा नहीं होता।

इसलिए वह भाषण चांसलर की स्मरण-शक्ति का परिचायक होता था और घण्टों चल सकता था। कुछ चांसलर तो कोषागार की ओर से मिली लिखित जानकारी तक का उपयोग करने की चिन्ता नहीं करते थे और सभी कुछ स्मरण के आधार पर ही बोलते थे। अब चांसलर के पास कहने के लिए बहुत अधिक होता है किन्तु सारा कार्य बहुत थोड़े समय में करने की पद्धति बन गई है। बीत चुके वर्ष के आय-व्यय का एक वित्तीय वृत्त और प्रारम्भ होने वाले वर्ष के प्राक्कलन छपे हुए, सब सदस्यों को दे दिए जाते हैं। फिर भी चाँसलरों की इच्छा होती है कि अवसर का पूरा लाभ उठा कर भाषण को पील अथवा ग्लैडस्टन, नहीं तो चर्चिल अथवा स्नोडन की ही, परम्परा में एक व्यक्तिगत पुट दे दें।

बजट-भाषण की योजना के विषय में हमें यहाँ अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह निर्विवाद रूप से परम्परागत शैली का होता है और हमें कुछ समय पश्चात् किञ्चित् विस्तार से उन सिद्धान्तों की चर्चा करनी होगी जिन पर वह आधारित होता है। व्यय के विषय में दी गई जानकारी तो बिलकुल ही संक्षिप्त होती है क्योंकि लेखे की अवधि (accounting period) दो सप्ताह पूर्व ही समाप्त हुई होती है और वास्तव में साल भर आय-व्यय के जो सक्षिप्त साप्ताहिक वृत्त छपते रहते रहते है उनसे इसमें कुछ बहुत अधिक नहीं होता है। परिणामस्वरूप इसमें कोई विशेष रोचकता नहीं होती। बजट यथार्थ में नए वर्ष के लिए प्रस्तावित करों की विस्तृत जानकारी को ही कहते हैं।

और इसी की प्रतीक्षा व्यापार-जगत् कर रहा होता है। करों में प्रस्तावित परिवर्त्तनों पर, इसके पश्चात्, अर्थोपाय समिति में बहस होगी। सम्भव है उस चर्चा के समय शासन को प्रस्तावित योजना में कुछ न कुछ बदल भी करना पड़े परन्तु किसी महत्त्वपूर्ण भाग का सबल विरोध होने की कोई बड़ी सम्भावना नहीं होती। आखिर संसद् को मोटे तौर पर पता ही होता है कि व्यय की क्या योजना सोची गई है और उसके लिए आवश्यक राजस्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। नए करों से बचने के लिए लोग पूर्वसिद्धता—उदाहर-

रणार्थ जिस वस्तु पर अधिक कर लगने की आशा है उसका संग्रह करके—न कर लें इस दृष्टि से, एक को छोड़कर सभी वित्तीय प्रस्ताव तत्काल ही हाथ में लिये जाते हैं। अगर बजट में संशोधन हो जाए और लिया गया कर अधिक हो तो वह लौटा दिया जाता है। इस प्रकार राजस्व का संग्रह निरन्तर चल सकता है और करों में परिवर्तनों पर चर्चा का अवसर भी मिलता है।

बजट के समय के लगभग, देश के वित्त से सम्बन्धित एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साँख्यिकीय (statistical) जानकारी भी, १९४१ से सदस्यों व जनता को दी जाने लगी है। इसकी विशेष मदें हैं—(i) आर्थिक सर्वेक्षण (economic survey) (जो सर्वप्रथम १९४७ में प्रकट हुआ) अर्थात् शासन के साँख्यिकों व अर्थशास्त्रज्ञों की दृष्टि में राष्ट्र की आर्थिक स्थिति (आन्तरिक और बाहरी भी) क्या है ? इसका विवरण, (ii) राष्ट्रीय आय व व्यय के प्रारम्भिक (preliminary) प्राक्कलन (जिसके बाद, १९५२ से, कुछ महीनों के उपरान्त अधिक विस्तार व विविधता में एक नीली पुस्तक (Blue Book) प्रकाशित होने लग पड़ी है)। (iii) शेष संसार के साथ देश के भुगतान शेष का लेखा। चांसलर इस आर्थिक जानकारी का अधिकाधिक उपयोग अपने बजट-भाषणों में करते हैं और इस प्रकार वास्तविक आर्थिक स्थिति और उस पर लोक-व्यय व कराधान के परिणाम को समझने में बहुत सहायता मिलती है। इस विषय के साथ भाग ३ में हमारा फिर सम्बन्ध आएगा।

बजट के पेश होने के बाद सामान्य आर्थिक नीति की चर्चा के लिए प्रायः कुछ दिन निश्चित किए जाते हैं। उसके पश्चात् सदन अपने सामान्य कार्य को हाथ में ले लेता है। अर्थोपाय सम्बन्धी बहस के बीच-बीच में पूर्त्ति के बचे हुए दिन और दूसरे प्रश्न भी आ जाते हैं। जब सभी वित्तीय प्रस्ताव अर्थोपाय में स्वीकार हो जाएँ तब वित्त विधेयक लाया जाता है और जुलाई के अन्त तक उसका सभी अवस्थाओं को पार कर जाना आवश्यक है। उसमें राजस्व के सभी परिवर्त्तन होते हैं और कभी-कभी कर-प्रशासन सम्बन्धी कुछ सामान्य कानून (general legislation) भी।

जो कोई प्राक्कलन पहले पारित होने से रह गए हों, वे पूर्त्ति के अन्तिम

दो दिनों में लिये जाते हैं और एक साथ पारित कर दिए जाते हैं जिससे जुलाई समाप्त होते-होते वर्ष का सम्पूर्ण वित्तीय कार्यक्रम स्वीकार हो चुका होता है। अन्त में वह केवल दो अधिनियमों (acts) के रूप में रहता है—वित्त अधिनियम (Finance Act) जिसमें कराधान और उससे सम्बन्धित सब विषय होते हैं, और विनियोग अधिनियम (Appropriation Act) जो राजस्व का प्राक्कलनों के अनुसार उपयोग करने का अधिकार देता है। इस प्रकार वित्त-वर्ष के प्रारम्भ के चार मास से कुछ अधिक बीतने के साथ, उसके व्यवहारों के सभी महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध प्रायः पूर्ण हो जाते हैं।

पाठकों के ध्यान में यह आया होगा कि अभी तक हमने लोक सभा की कार्रवाइयों का ही विचार किया है। वित्त और विनियोग विधेयकों के अधिनियम (acts) बनने से पहिले उनका हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ द्वारा पारित होना और राजानुमति (royal assent) पाना भी आवश्यक है। हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ में कोई विशेष अड़चन आने का कारण नहीं और राजानुमति तो अपने आप ही मिल जाती है। अन्तिम अवसर जब हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ ने अपनी स्वतन्त्र नीति चलाने का प्रयास किया, १९०९ में आया था। तब उत्तर सदन (Upper House) ने नवीन सामाजिक बीमा निधियों के लिए राजस्व का अधिकार देने वाले वित्त-विधेयक को पारित करने से इन्कार कर दिया था। हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ का विरोध वित्तीय नीति की अपेक्षा सामाजिक नीति के प्रति था, इसलिए एक महत्त्वपूर्ण वैधानिक प्रश्न खड़ा हो गया। शासन की नीति को विफल करने के इस प्रयास के फलस्वरूप हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ को अन्ततः १९११ का संसद् अधिनियम (Parliament Act) स्वीकार करना पड़ा जिसके अनुसार धन विधेयक (Money Bills) यदि लोक सभा से पारित होकर अधिवेशन की समाप्ति के कम से कम एक मास पूर्व उसके सामने पेश हो जाएँ तो चाहे हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ उसे स्वीकार करे अथवा नहीं वह अधिनियम बन जाता है।

अधिक महत्त्वपूर्ण स्थानीय प्राधिकारी बजट प्रविधि के एक सरल रूपान्तर का पालन करते हैं। कौंसिल की विभिन्न समितियों के प्राक्कलनों की तैयारी

व समन्वय करने का कार्य कोषागार की तरह यहाँ वित्त समिति करती है। इस ढंग से देश के हर मुख्य सार्वजनिक निकाय (public body) के लिए बनी हुई वर्ष की वित्तीय योजना नागरिकों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के सम्मुख एक काफ़ी सरल व संक्षिप्त (consolidated) रूप में आती है।

लेखे का एकीकरण एक ओर साधनों को कुशलतापूर्वक फैलाने (efficient layout) के लिए और दूसरी ओर व्यय के कुशल नियन्त्रण के लिए एक अनिवार्य प्रथम पग है। परन्तु स्पष्टतया वह एक कदम से अधिक नहीं है, इतने मात्र से ही दोनों में से किसी दिशा में भी गारन्टी नहीं हो जाती। यह इसी बात को सोचकर स्पष्ट हो जाता है कि ६०० से अधिक सदस्यों की समिति जो सहस्रों पृष्ठों के प्राक्कलनों का विचार करने के लिए अपने वास्ते केवल २६ दिन रखती है, किस प्रकार का नियन्त्रण कर सकती है। यह नियन्त्रण प्रावैधिक बारीकियों का नहीं हो सकता यह तो स्पष्ट है ही, यह भी मानना कठिन है कि पर्याप्त सदस्यों को नीति की मुख्य धारा भी ठीक तरह समझ में आती है। इस कारण इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि संसद् को अपनी ही वित्तीय कार्रवाइयों की पड़ताल करने के ढंग बनाते-बनाते शताब्दियाँ बीत गई हैं।

अध्याय ४

व्यय का नियन्त्रण

(The Control of Expenditure)

१. **सार्वजनिक लेखे का समेकन** (The Consolidation of the Public Accounts)—वार्षिक वित्त अधिनियम और विनियोग अधिनियम के रूप में जो वित्तीय योजना आती है वह कोषागार, मन्त्रिमण्डल और संसद् (तीनों को लगभग उनके अशंदान के क्रमानुसार रखते हुए) की सांझी उत्पत्ति होती है। यह सहयोग प्रथम तो इसलिए आवश्यक है कि संसद् को जो योजना प्रस्तुत की गई है वह सन्तोषजनक ढंग से निजी साधनों के सार्वजनिक क्षेत्र को हस्तान्तरण का और शासन की नीति के अनुसार उनके वितरण का प्रबन्ध करती हो, दूसरे इसलिए कि लोक सभा से निकलते हुए वह जिस रूप में हो वह सदन की इच्छाओं को ठीक-ठीक प्रकट करती हो, और तीसरे इसलिए कि योजना पर संसद् के निर्णयों के अनुसार आचरण हो।

इन तीनों शर्त्तों को एक दूसरे से पृथक् करना चाहिए परन्तु तीनों का पूरा करना आवश्यक है। कोई सुझाव जो विशेष अच्छा नहीं संसद् में पेश होने के बाद पारित होते-होते सुधर सकता है और किसी प्रस्ताव का जो प्रारम्भ में अच्छा भला हो, नए-नए सुधारों से तार-तार बिखर कर हुलिया ही बिगड़ सकता है यदि आत्म-संयम का कोई साधन उपलब्ध न हो। यह कहने की तो आवश्यकता नहीं कि अच्छे प्रस्तावों पर भी भावना के अनुरूप आचरण न हो तो असफल हो जाते हैं।

ऊपर लिखी गई तीन शर्त्तें केवल वित्तीय विधेयकों के लिए ही नहीं, वे किसी भी विधेयक के लिए आवश्यक हैं। उनकी यदि विस्तृत चर्चा की जाए तो हम सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र से बहुत दूर निकल जाएँगे, परन्तु वित्तीय

योजनाओं के लिए उनका विशेष अर्थ और महत्त्व है। कोई सामान्य कानून (legislation) (उदाहरणार्थ शिक्षा अधिनियम—Education Act) यदि दोषयुक्त हो तो उसके कारण उस विशेष दिशा में विकास होने में कठिनाई तो आएगी पर उसका सामान्य स्थिति पर कोई बहुत बड़ा परिणाम नहीं होगा। वित्त योजना में यदि दोष हो तो उससे सारी नीति में गड़बड़ हो सकती है और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँच सकती है। इस कारण इस बात के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है कि वित्तीय प्रस्तावों के लिए उक्त तीनों शर्त्तें अवश्य पूरी हों।

अधिकार की दृष्टि से संसद् सब से ऊपर है इसलिए उसे इसकी पूरी चिन्ता करनी होती है कि इन तीन शर्त्तों पर प्रामाणिकता से आचरण हो किन्तु उसे एक स्वाभाविक कठिनाई में कार्य करना पड़ता है। कारण यह कि संसद् मूलतः एक द्वि-प्रयोजन (dual purpose) सभा है। एक ओर तो वह विधान सभा है जो कार्यपालिका का नियन्त्रण करती है, जिसका यह उत्तर-दायित्व है कि नए अधिनियम बनाए और देखे कि बने हुए अधिनियमों पर उनके पीछे भावना के अनुसार आचरण होता है। दूसरी ओर वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर चर्चा करने और निजी व्यथाओं को मुखरित करने का स्थल (forum) है। इन दोनों में से कोई भी कार्य थोड़ा या बहुत घटाया नहीं जा सकता क्योंकि उससे हमारे लोकतान्त्रिक स्वरूप पर आघात लगता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि दूसरे कर्त्तव्य का भार पहले के लिए बहुत कम समय छोड़ता है। और इस कारण सफलता और भी कठिन हो जाती है। और अगर हम यह भी स्मरण रखें कि संसद् की सदस्यता पूरे समय का कार्य (wholetime job) नहीं है और अधिकाँश सदस्यों को अपने-अपने काम धन्धे का भी फ़िक्र करना पड़ता है, तो समय का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है।

इन कारणों से संसद् ने यह उचित समझा है कि वित्तीय योजना अधिक से अधिक सरल व एकीकृत (unified) रूप में प्रस्तुत की जाए। फिर भी उसे अपने साझेदारों पर बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है। आज की इस भागिता और परस्पर कार्य-विभाजन का विकास किस प्रकार हुआ—विशेषकर लेखा-

समेकन (consolidation of accounts) का, यहाँ इसका थोड़ा विचार कर लेना उपयुक्त ही होगा।

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि न केवल मन्त्रिमण्डल ही (जिसका विकास विद्यालयों में लगी इतिहास की हर पाठ्य पुस्तक में वर्णित है) बल्कि कोषागार और राष्ट्रीय वित्त-संगठन के वर्तमान स्वरूप का प्रारम्भ चार्ल्ज़ द्वितीय के राज्यारोहण और महारानी एन की मृत्यु के मध्य में हुई कुछ महत्त्वपूर्ण किन्तु अत्यन्त अदृश्य घटनाओं के परिणामस्वरूप हुआ। यह कल्पना बड़ी रोचक है कि यदि "पिल्ग्रिम फ़ादर्ज़" (Pilgrim Fathers) दो पीढ़ियाँ देरी से देश छोड़ कर जाते तो ये परिवर्तन सम्भवतः संयुक्त राज्य (अमरीका) के संविधान में भी स्थान पा जाते और यदि वैसा होता तो उस संविधान का स्वरूप आज से काफी भिन्न होता।

स्टुअर्ट युग के प्रारम्भ काल में कार्यपालिका का अर्थ था "सपरिषद् सम्राट्" (King-in-Council) अर्थात्, सम्राट् के सलाहकार संयुक्त राज्य अमरीका की कार्यपालिका की तरह संसद् से बाहिर होते थे। जब चार्ल्ज़ द्वितीय ने कार्यपालिका के विभाग[1] बनाए ताकि वह अधिक प्रभावी भी हो जाए और उसकी अधिक आज्ञाकारी भी, तो कोषागार का एक पृथक् निकाय के रूप में जन्म हुआ। कुछ अत्यन्त योग्य अधिकारियों के अधीन जिन्हें उनकी वित्तीय व व्यवसाय सम्बन्धी योग्यता[2] के लिए चुना गया, और लार्ड गोडोल्फ़िन के मार्ग दर्शन में—जिन्होंने अनेक मन्त्रिमण्डलों में और चार सम्राटों के काल में राज्य का उच्चतम वित्तीय स्थान सम्भाला—कोषागार का स्थान शीघ्र ही

१. देखिए डी० एम० गिल, उ० ग्र०।

२. विशेषतया सर जार्ज डाउनिंग जिन्हें १६६७ में कोष का सचिव नियुक्त किया गया, उन्हीं से डाउनिंग स्ट्रीट का नाम पड़ा। जिस सम्पत्ति का उन्होने संग्रह किया उससे दो पीढ़ियों बाद, दैवयोग से डाउनिंग कालेज, केम्ब्रिज की स्थापना हुई। कम से कम बराबर महत्त्व के थे सर विलियम लाउन्डस (जिनसे लाउन्डस स्क्वेयर का नाम पड़ा) कोषागार क्लर्क, १६७९ कोषागार सचिव (१६९५-१७२४)। उनके पारिवारिक "आदर्श" में कर बढ़ाने के "अर्थोपाय" में उनकी कुशलता का उल्लेख है। देखिए Dict. Nat. Biog.

विभागों में प्रमुख हो गया। निर्णय उसी में होने लग पड़े और पुराने ढंग की कौन्सिल एक ओर रह गई तथा धीरे-धीरे सारा महत्त्व खो बैठी। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व जब सम्राट् के मन्त्रियों को संसद् में भेजा गया [और कार्यपालिका व विधानमण्डल को संसद् सम्राट् (King-in-Council) के रूप में एक कर दिया गया], तब मन्त्रिमण्डल विभाग-अध्यक्षों की समिति हो जाने के कारण कोषागार का अध्यक्ष स्वाभाविकतया प्रमुख मन्त्री हो गया।

'रेस्टोरेशन' ("Restoration") के पश्चात् सार्वजनिक सेवाओं के किसी काफ़ी बड़े हिस्से का खर्च राजकीय सम्पदाओं की आय के ऊपर डालने का प्रयत्न छोड़ दिया गया था (उस आय की अपर्याप्तता के कारण चार्ल्ज़ प्रथम के समय बहुतेरा झगड़ा हुआ था) तब राज-परिवार का खर्च और उस तरह का व्यय एक नागरिक सूची (Civil List) में डाल दिए गए जिसे बाद में संचित निधि में विलीन कर दिया गया। चार्ल्ज़ प्रथम और जेम्स द्वितीय को दी गई आजीवन आय के समाप्त हो जाने के बाद सम्पूर्ण व्यय संसद् के अनुदान पर आश्रित हो गया। तब ट्रेज़री लार्ड्ज़ (Treasury Lords) के लिए वर्तमान प्राक्कलनों की तरह मन्त्रालयिक निर्देश तैयार करना सम्भव हो गया किन्तु १६६७ से इस पग की भूमिका पहिले ही बन चुकी थी क्योंकि कोषागार ने यह आग्रह शुरू कर दिया था कि सब विभाग राज्यकोष के साथ अपने लेन-देन का साप्ताहिक वृत्त उसे दें। इसी तिथि से संसद् के दो वित्तीय कार्यों में भेद आया—एक पूर्ति का "विनियोग" करना और दूसरा उस विनियोग के लिए पर्याप्त "अर्थोपाय" का प्रबन्ध करना।

सार्वजनिक वित्त के एक किए जाने (consolidation) की ओर अगला महत्त्व का कदम था छोटे पिट्ट का कार्य। उनको "बजट पिता" का नाम ठीक ही दिया गया है क्योंकि उन्होंने ही संसद् के सामने वित्त-वर्ष का पूरा कार्यक्रम एक इकाई के रूप में इकट्ठा रखने की प्रथा चलाई, जिसमें एक ओर सब विभागों के प्राक्कलन होते और दूसरी ओर कुल राजस्व, जो उनके लिए आवश्यक समझा जाता। पिट्ट ने ही सभी विभागों का हिसाब अन्तिम रूप से बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड में भेजकर एक समेकित लेखा पद्धति की नींव रखी।

व्यय के प्राक्कलन और राजस्व में प्रस्तावित परिवर्त्तन एक-एक अधिनियम के रूप में ही पारित करने की वर्त्तमान प्रथा पिट्ट के सुधारों का ही फल है। इसी तरह बैंक ऑफ़ इंगलैंड में राजकीय खज़ाने का एक ही हिसाब (संचित निधि का बैंक बैलेंस) जिसके द्वारा शासन को आने वाली प्रत्येक राशि (in-payments) और विभागों को तथा उनके द्वारा दिया जाने वाला प्रत्येक भुगतान (out-payments) एक महा वेतनाधिकारी (Paymaster General) के हाथों से गुज़रता है और उसके नियन्त्रण में होता है।

राष्ट्र के वित्त के सुव्यवस्थित संचालन के लिए यह तीन प्रकार का एकीकरण अधिकतम महत्त्व का है। संचित निधि की पद्धति से कोषागार सरलतापूर्वक विभागों की निगरानी कर सकता है और मन्त्रिमण्डल के लिए यह सम्भव होता है कि किसी भी समय निधि में आने और जाने वाले भुगतानों को देखकर स्थूल रूप से यह सोच सके कि हाल-चाल कैसा है। एक वित्त अधिनियम से इस बात का बहुत कुछ भरोसा हो जाता है कि संसद् आवश्यक करों को स्वीकार कर लेगी और वह भी काफ़ी समय रहते। नीति की दृष्टि से एक विनियोग अधिनियम और भी अधिक महत्त्व का है क्योंकि वह इस बात का पक्का प्रबन्ध है कि संसद् को वास्तव में यह देखने का अवसर मिले कि लोक धन की सकल वार्षिक योजना क्या है।

इतना समेकन बिना काफ़ी कठिनाई के नहीं हो पाया। महावेतनाधिकारी का पद १८३४ में निर्माण किया गया। एकल (single) वित्त तथा विनियोग अधिनियम १८६० की दशाब्दी से प्रारम्भ हुए। यह मुख्यत: ग्लैडस्टन का कार्य था जो कि वित्तीय प्रशासक के रूप में पिट्ट और गोडोलिफ़न की कोटि के ही थे। किन्तु सब सुधारों का जितना कारण योजना का एक समूचे रूप में पुनरीक्षण करने की इच्छा थी, उतना ही बड़ा कारण लोक सभा का यह निश्चय था कि हाऊस ऑफ़ लार्ड्ज़ को अपनी योजना बिगाड़ने का अवसर नहीं देगी। और यह बिगाड़, जब तक छोटे-छोटे टुकड़ों में योजना सामने आती थी, दो चार महत्त्वपूर्ण अंशों को अस्वीकार करके बहुत सरलता से किया जा सकता था।

२. **विभागीय नियन्त्रण** (Departmental Control)—कार्यपालिका की नित्य की निगरानी (routine supervision) के लिए संसद् आज पहले से कहीं अधिक मात्रा में कोषागार पर निर्भर रहती है। कोषागार की नियन्त्रण क्रिया निरन्तर दिन प्रतिदिन चलती है। नई सेवाओं पर अथवा पुरानी सेवाओं के विस्तार पर कोई खर्च करने के पहले कोषागार की स्वीकृति आवश्यक होती है। प्रत्येक विभाग की ओर से कोषागार को अपना वार्षिक प्राक्कलन दिए जाने और कोषागार द्वारा उसके विस्तृत परीक्षण का लाभ यह होता है कि हर विभाग की बारह मास की धन सम्बन्धी आवश्यकताओं का चित्र स्पष्ट हो जाता है और इस प्रकार "चालू" नियन्त्रण के अतिरिक्त वर्ष में एक बार एक अधिक सुस्पष्ट और अल्पकालिक (short term) नियन्त्रण भी लागू हो जाता है। दोनों प्रकार का नियन्त्रण परस्पर पूरक होता है। किसी भी नए व्यय को स्वीकृति देने के पूर्व कोषागार इसका विचार करता है कि उसका चालू वर्ष के बजट पर क्या प्रभाव होगा। और किसी वर्ष के अनुमान का परीक्षण करते हुए विभाग की कार्रवाइयों और उसके सामान्य व्यय के रंग ढंग का समग्र समीक्षण करने का भी अवसर होता है।

अधिकांश नागरिक विभाग अपना-अपना विस्तृत वार्षिक विवरण प्रकाशित करते हैं जिससे संसद् (और जनता) को उनके कार्य की अधिक जानकारी मिलती है। श्रम व शिक्षा मन्त्रालयों के विवरण विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रतिरक्षा प्राक्कलनों के साथ (शान्तिकाल में) विभिन्न प्रयोजनों पर हुए खर्च का आठ-वर्षों का तुलनात्मक अध्ययन भी होता है, और नागरिक मन्त्रालयों की तरह विभागीय विवरण तो होते ही हैं। एक 'मत' के किसी उप-शीर्ष (sub-head) में हुई बचत को उसी 'मत' के दूसरे उप-शीर्ष पर लगाने के लिए (जिसका पारिभाषिक नाम 'virement' है) कोषागार की स्वीकृति आवश्यक है। प्राक्कलनों के स्वरूप में कोई महत्त्वपूर्ण बदल नहीं किया जा सकता जब तक कोषागार प्राक्कलन समिति और लोक-लेखा समिति (Public Accounts Committee) में करार न हो जाए।

इसी तरह का ढंग व्यय होने के साथ-साथ उस पर रोक रखने के लिए प्रयुक्त होता है। राज्यकोष और लेखा परीक्षा का विभाग नियन्त्रक महा-लेखा परीक्षक की अध्यक्षता में लेखा परीक्षकों का एक अच्छा बड़ा (३०० से अधिक का) दल रखता है जो विभागीय कार्य पर निरन्तर कार्यरत रहता है। जो विभाग अपना सारा धन संचित निधि से प्राप्त करते हैं, इन पर नियन्त्रण सरल है, किन्तु कइयों को अतिरिक्त प्राप्ति भी होती है, जैसे पुलिस को न्यायालय-शुल्क (court fees) और दण्ड (fines) से। तब पड़ताल का काम अधिक जटिल हो जाता है। इस प्रकार के सब सहायक विनियोजन (जिस नाम से उन्हें जाना जाता है) महावेतनाधिकारी के हाथ से जाएँ यह आवश्यक है, उन्हें विभाग अपने पास ही नहीं रख सकते। इसी प्रकार संसद् द्वारा स्वीकृत धन में से जो कुछ बच जाए वह वित्त-वर्ष के अन्त में महावेतनाधिकारी को लौटा देना होता है।[1]

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का पद १८३२ से लेकर ग्लैडस्टन युग तक हुए सुधारों की एक शृंखला में से उत्पन्न हुआ। महालेखा परीक्षक लोक सभा का एक पदाधिकारी होता है जिसकी स्थिति एक न्यायाधीश के समान ही है।[2] उसका कार्य है व्यय सम्बन्धी नियमों का पालन करवाना और

---

१. ब्रिटिश शासन का व्यय विवरण तीन संस्करणों में प्रकाशित होता है :

(i) बजट के साथ आने वाला वित्तीय विवरण; (ii) वित्त-लेखा जो उसके बाद शरत्काल में प्रकाशित होता है। इन दोनों में निम्न ब्यौरा भी होता है—संग्रहीत राजस्व, राष्ट्रीय ऋण संकार्य (national debt operations) नागरिक तालिका का लेखा और अन्य प्रकीर्ण हिसाब, दोनों में अन्तर कुछ बारीकियों का ही रहता है; (iii) विनियोग विवरण जो असैनिक और प्रतिरक्षा पूर्ति विभागों के लिए अठारह मास बाद प्रकाशित किया जाता है। इसमें विभागों और संचित निधि के मध्य में होने वाले सब समायोजन दिए होते हैं।

२. जिसका अर्थ यह है कि वह दोनों सदनों की याचिका (petition) पर ही हटाया जा सकता है। अतः नियन्त्रक महालेखा परीक्षक ही अन्ततः लोक धन का संरक्षक है (न कि महावेतनाधिकारी जो शासन का एक सदस्य होता है)। यह १९०९-११ के वित्त सम्बन्धी वाद-विवाद से पूर्णतया स्पष्ट हो गया था जबकि सार्वजनिक सेवाओं के रुक जाने का कुछ खतरा खड़ा हो गया था क्योंकि नियन्त्रक महालेखा परीक्षक व्यय की अनुज्ञा देना जारी न

जहाँ कहीं अपव्यय (waste) अथवा अनियमितता (irregularity) हो उस की खोज कर सूचना देना। व्यय का विवरण भी प्राक्कलनों के बिल्कुल ढंग से ही, मतों, शीर्षों और उप-शीर्षों में बाँट कर दिया जाता है। जब भी कोई विभेद (discrepancy) पारित हुई पूर्ति में और खर्च हुए धन में रह जाता है, चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, तो विस्तृत स्पष्टीकरण दिए जाते हैं। महत्त्वपूर्ण विभेदों पर प्राय: महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट में जो विनियोग लेखा की प्रस्तावना के रूप में होती है, टिप्पणी की होती है।

३. **संसदीय नियन्त्रण** (Parliamentary Control)—वित्तीय योजना के बनाने में लोक सभा का सीधा अंशदान पूर्ति व अर्थोपाय समितियों की बहसों में होता है। ब्रिटिश संविधान की पद्धति इस प्रकार की है कि उससे योजना के समनुगत रूप में और बहुत कर के बिना किसी बड़े संशोधन के स्वीकार हो जाने का काफी विश्वास रहता है। इसके लिए तीन प्रबन्ध रहते हैं। प्रथम तो निर्वाचन पद्धति (एकल-सदस्य-चुनाव-क्षेत्रों (single member constituencies) में सीधा मतदान होने) के कारण ही लगभग सभी अवस्थाओं में कामचलाऊ बहुमत हो जाता है, दूसरा शासन के हाथ में बहस को समाप्त करने की जो शक्ति है, विशेषकर पूर्ति-दिवसों की संख्या का २६ पर सीमित किया जाना, उसके कारण वह अपनी इच्छा लाद सकता है, तीसरा और सब से महत्त्वपूर्ण यह कि जिनमें अधिक करारोपण की आवश्यकता हो ऐसे प्रस्ताव केवल शासन ही ला सकता है और कोई ही व्यय प्रस्ताव ऐसे हो सकते हैं जिनमें यह आवश्यकता न पड़ती हो।

जिस स्थायी नियम (अब एस० ओ० ७८)[१] पर यह सब से महत्त्वपूर्ण

रखता यदि संसद् बजट को पारित न कर देती। इस काण्ड का बड़ा सुन्दर वर्णन सर ए० चैम्बरलेन की "Politics From Inside" में दिया हुआ है।

१. वर्तमान रूप में—जो १८६६ में बना, एस० ओ० ७८ इस प्रकार है: "यह सदन सार्वजनिक सेवा सम्बन्धी किसी राशि के लिए कोई आवेदन न ही लेगा, न ही लोक-राजस्व पर पड़ने वाले खर्च या अनुदान के किसी प्रस्ताव पर विचार करेगा—चाहे वह संचित निधि से दिया जाना हो या संसद् द्वारा दिए धन से, जब तक वह राज-समर्थित न हो। देखिए जैनिंग्ज उ० ग्र०, पृष्ठ २५०।

शर्त आश्रित है उसका पहला रूप १७१३ में बना। दुर्भाग्य से सत्रहवीं शताब्दी के संसदीय अभिलेखों (records) की हालत ऐसी है कि उसका मूल बीज ढूंढना असम्भव है परन्तु हम इसे गोडोल्फिन और लाउन्ड्स के गौरवशाली दिनों की ही एक और देन बेखटके मान सकते हैं। इस सम्बन्ध में जो देश ब्रिटिश संविधान का अनुकरण नहीं करते हैं उनमें अनन्त कष्ट देने वाली एक आदत होती है कि शासन पक्ष के महत्त्वरहित लोग अथवा विरोधी दल के सदस्य वित्तीय योजना के सन्तुलन को "नहले पर दहला" चला कर नष्ट कर सकते हैं। यहाँ इस प्रबन्ध से वह सम्भावना पूरी तरह दब जाती है।

सिद्धान्त रूप में तो समिति की बहस में सदन को मन्त्रिमण्डल के प्रस्तावों का काफ़ी अच्छा परीक्षण करने का अवसर मिलना चाहिए। व्यय की ओर, जैसा हमने देखा है, अनुमान बड़े विस्तार में बनाए गए होते है ताकि शासन की नीति में कोई अन्धेरे कोने न रह जाएँ। राजस्व की ओर अगर करों में कोई परिवर्त्तन प्रस्तावित न हो तो भी बहस के लिए पर्याप्त अवकाश पाने के वास्ते पहले यह प्रथा थी कि आय कर और एक अन्य कर (प्रायः चाय पर का) केवल एक वर्ष के लिए ही नवीकरणीय (renewable) रखे जाएँ। अब निर्णायक तत्त्व है आय कर की वार्षिकता—जिसके बिना सार्वजनिक सेवाएँ नहीं चल सकतीं।

किन्तु व्यवहार की बात यह है कि पूर्त्ति-बहस में इसका विश्वास नहीं रहता कि सदन प्राक्कलनों का पूरा विचार कर लेगा। समय की कमी की सदा की कठिनाई तो है ही। उसके अतिरिक्त, वास्तव में पूर्त्ति दिवसों का उपयोग संसद् एक दूसरे ही उद्देश्य के लिए करती है। प्राक्कलनों के 'मतों' का कोई बाकायदा परीक्षण नहीं किया जाता। उसकी बजाय किस दिन किस 'मत' पर बहस हो इसका निर्णय सचेतक परस्पर बातचीत के द्वारा करते हैं—विरोधी दल को विषय के चुनाव में अन्तिम अधिकार होता है। यदि विरोधी दल यह समझे कि शासन की पोल एक ही बहस से पूरी तरह खोल कर जनता के सामने नहीं रखी जा सकती तो वह मतदान को टालते जाने के सीधे उपाय से बार-बार उसी 'मत' को रख सकता है। १९२० की दशाब्दी में श्रम

मन्त्रालय के 'मत' की चर्चा बार-बार होती रही, ताकि शासन की बेकारी दूर करने की असफलता की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सके।

इस पद्धति के परिणामस्वरूप होता सदा यही है कि जब पूर्त्ति के अन्तिम दिवस रह जाते हैं तब तक प्राक्कलनों के बहुत कम भाग पर चर्चा हुई होती है। तब बचे हुए दो दिनों में सदस्यों के लिए यही काम हो जाता है कि विभाजन सभाकक्षों में जाएँ और आएँ, फिर जाएँ और आएँ और इस प्रकार ऐसे वे सब अनुमान भी पारित करें जिन पर यही नहीं कि चर्चा नहीं हुई, बल्कि जो उन्होंने पढ़े तक भी नहीं। अनुमानों का इस प्रकार निपटारा संसद् के दोहरे स्वरूप के कारण उत्पन्न हुई कठिनाइयों का एक ज्वलंत उदाहरण है।

वस्तुस्थिति यह है कि जिन प्राक्कलनों का पूरा परीक्षण कोषागार द्वारा किया जा चुका हो संसद् द्वारा उनका विस्तृत परीक्षण करने की आवश्यकता अथवा उपयुक्तता संशयास्पद ही है। वास्तव में संसद् का यह आग्रह कि सारा ब्यौरा उसके सामने आए, सार्वजनिक सेवाओं के लिए हिसाब किताब का प्रभावी ढंग अपनाना अधिक कठिन बना देता है। साथ ही यह भी निश्चित नहीं है कि जो तरीका काम में आ रहा है वह वित्तीय नीति पर सामान्य बहस करवाने की दृष्टि से अर्थात् योजना में संसद् का जो योग्य अंशदान होना चाहिए, वह प्राप्त करने के लिए, सब से उपयोगी है।

संसद् प्राक्कलनों पर एक-एक 'मत' कर के खण्डशः बहस करती है, और सदस्य जिस विभाग के 'मत' पर विचार हो रहा हो उससे सम्बन्धित कोई भी विषय उठा सकते है। पहले, जब किसी ऐसे विषय को उठाने की इच्छा होती थी जो अनेक विभागों में सांझा होता था, तब इस परम्परागत पद्धति में कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी। १९४२[1] में किए गए एक नए प्रकार के संशोधन से अब यह कठिनाई पार कर ली गई। जिस साँझे विषय पर बहस खड़ी करने का विचार हो (जैसे सार्वजनिक सेवाओं में मजदूरी विषयक नीति) उसका उल्लेख पूर्त्ति समिति के सम्मुख आने वाले प्रस्ताव के पदों में कर दिया

---

१. उस समय की प्रक्रिया की अपर्याप्तता की ओर सर एच० विलियम्ज के द्वारा ध्यान दिलाए जाने के बाद।

जाता है और उसके विरुद्ध एक प्रतीक मत लगा दिया जाता है। उसके पश्चात् विशिष्ट सम्बन्धित विभागों के मतों की तालिका होती है—प्रत्येक के विरुद्ध एक प्रतीक मत (मान लो १० पौंड का) रखा गया होता है—जिनका जोड़ प्रस्ताव में दी गई राशि जितना होता है। इस प्रकार एक भावात्मक (notional) सांझा प्राक्कलन बन जाता है जिससे एक समिति-बहस को टांगने के लिए आवश्यक खूंटी मिल जाती है।

सारे सदन की समिति लोक-धन के व्यय पर जितना नियन्त्रण रख सकती है उसकी अपर्याप्तता को संसद् देर से अनुभव करती आ रही है। इसलिए अपने सदस्यों की प्रवर समितियों द्वारा जाँच करवा कर उसने बहस में रह जाने वाली कमी को दूर करने का प्रयत्न किया है। इनमें सबसे पुरानी है लोक-लेखा-समिति[1] (Public Accounts Committee), ग्लैडस्टन द्वारा किए सुधारों में से एक और। इस समिति के पन्द्रह सदस्य होते हैं—जो विभिन्न राजनीतिक दलों से संसद् में उनके प्रतिनिधित्व के अनुपात के लगभग (जो प्रवर समितियों के लिए प्रचलित प्रणाली है) लिये जाते हैं। दृष्टिकोण आलोचनात्मक रहे इसलिए अध्यक्ष विरोधी दल का सदस्य होता है। यह प्रथा हो गई है और सुविधा भी इसी में है कि पूर्वगत शासन में जो घोषणा का वित्तीय सचिव रहा हो उसे अध्यक्ष चुना जाए।

लोक-लेखा समिति की रिपोर्ट पर सदन किसी पूर्ति दिवस पर विचार करता है और सामने आई हुई अधिकांश सामग्री उसके पश्चात् प्रकाशित कर दी जाती है। किन्तु समिति के कार्य का महत्त्व इसमें इतना नहीं है कि संसद् उसकी खोज पर कितना ध्यान देती है जितना उसके द्वारा विभिन्न विभागों के गवाहों के परीक्षण के। ढंग यह है कि अध्यक्ष मेज़ के एक ओर बैठे, कोषागार का प्रतिनिधि दूसरी ओर, और "फँसे हुए" विभाग का प्रतिनिधि उन दोनों के मध्य में। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं कि समिति के कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ "हितकर भय" (wholesome dread) की वह भावना समझी जाती है जो उसके कारण विभाग में उत्पन्न होती है।

१. १८६१ में पहली बार नियुक्त की गई और अगले वर्ष ही स्थायी समिति बन गई।

राज्यकोष व लेखा-परीक्षा विभाग और लोक-लेखा-समिति की दोहरी पड़ताल के कारण शासन के कर्मचारियों में वित्तीय सच्चाई (financial integrity) व प्रामाणिकता की एक उच्च परम्परा निर्माण हो गई है। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसमें सार्वजनिक सेवाओं में गड़बड़ से ब्रिटेन की अपेक्षा कम हानि होती हो।[1] जहाँ तक इसका सम्बन्ध है यह बहुत अच्छा है किन्तु साधनों के बँटवारे के ऊपर नियन्त्रण के रूप में इसका प्रभाव दो कारणों से बहुत सीमित होता है। एक तो यह कि व्यय हो चुकने के बाद उसका विस्तृत परीक्षण कुछ ऐसा ही है जैसा कि घोड़े के भाग निकलने के बाद अस्तबल का फाटक बन्द करना। दूसरा संसद् को कार्यपालिका पर जो नियन्त्रण इस ढंग से प्राप्त होता है वह प्रायः प्रारम्भिक प्रावैधिक स्तर का ही होता है।[2] यदा कदा किसी छोटे मोटे नागरिक कर्मचारी की बेईमानी की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म उपायों के द्वारा लोक-धन का अपव्यय होने की सम्भावना होती है।

इनमें सबसे पहली कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से संसद् ने व्यय के अधिक परिपूर्ण परीक्षण के लिए योजनाएँ भी और लेखा भी प्रवर समितियों को सौंप कर अनेक उपायों का प्रयोग कर के देखा है। १९१२-१४ के और फिर १९२१ से १९३९ तक प्रत्येक अधिवेशन के लिए प्राक्कलनों की

---

१. स्थानीय प्राधिकारियों की लेखापरीक्षा व्यवस्था और प्रकार की होती है। प्रायः उनके हिसाब की परीक्षा स्वास्थ्य मन्त्रालय (अब स्थानीय प्रशासन व गृह व्यवस्था मन्त्रालय) द्वारा नियुक्त जिला लेखा परीक्षक करते हैं। किन्तु कुछ पुर नगरियों (boroughs) के हिसाब के कुछ अंशो की परीक्षा लेखापाल-फर्में करती हैं। १९०७ में प्रकाशित स्थानीय प्राधिकारियों की लेखा विषयक एक समिति (cd. 3614) ने लेखा कर्म पद्धतियों (accountancy methods) को एक प्रमाप का बनाने का मार्ग बताया था।

२. किन्तु कुछ वर्ष हुए नियन्त्रण महालेखापरीक्षक ने एक ऐतिहासिक महत्त्व की बात की जब उसने डाकघर द्वारा टैलीफ़ोन सम्बन्धी घटिया उपकरण खरीदने की एक ज्वलन्त भूल पकड़ ली। सम्भव है यह खोज पूर्ति विभागों की तुलना में कुछ व्यापारी विभागों में काम आने वाली अधिक प्रभावी लेखा-पद्धति के कारण हो पाई हो। देखिए पृष्ठ ६७।

एक प्रवर-समिति[1] नियुक्ति की गई। यह सभी मानते हैं कि ये पहली प्राक्कलन समितियाँ प्रायः प्रभावहीन ही थीं।[2] उन्होंने खोज की एक प्रविधि विकसित करने में किसी विशेष सूझ का परिचय नहीं दिया। फिर उन्होंने प्राक्कलनों का परीक्षण कोषागार से उनके निकलने और पूर्ति समिति में उन पर विचार के मध्य में करने का प्रयत्न किया जबकि उस कार्य के लिए वह समय पर्याप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त, बाद के उनके कार्य में एक बड़ी कठिनाई यह थी कि उनके पास ऐसा कोई सचिवालय नहीं था जैसा लोक-लेखा-समिति के पास राज्यकोष व लेखापरीक्षा विभाग के कर्मचारी-मण्डल के रूप में था। किन्तु १९३९ में महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर जब उनकी नियुक्ति रुक गई तब उनके प्रभाव के बढ़ने के लक्षण[3] दीखने लगते थे।

जब क्रीमियन युद्ध हुआ तब से युद्ध की वजह से होने वाले असाधारण व्यय के कारण संसद् को विशेष जागरूकता की आवश्यकता अनुभव होती आ रही है। क्रीमियन युद्ध और बोअर युद्ध (Boer war) दोनों में राष्ट्रीय व्यय पर प्रवर समितियाँ नियुक्त की गईं किन्तु उनका कार्य प्रायः युद्ध सम्बन्धी ठेकों में हुई धोखेबाजी की खोज करना ही था। यह बात विचित्र प्रतीत होती है पर १९१४-१८ के महायुद्ध में (लोक-लेखा-समिति के अतिरिक्त) १९१४ से १९१७ तक व्यय के ऊपर कुछ भी निगरानी नहीं रखी गई। प्राक्कलनों को सुरक्षा कारणों से प्रकाशित करने के अयोग्य समझा गया इस कारण १९१४ में

१. इनके एक अत्यन्त सुन्दर संक्षिप्त इतिहास के लिए १९४३-४४ के अधिवेशन के लिए नियुक्त राष्ट्रीय व्यय प्रवर समिति की ग्यारहवीं रिपोर्ट देखिए। इसी सम्बन्ध में पृष्ठ ९८ और आगे भी देखिए, और (Chubb, The Control of Public Expenditure) भी।

२ ऐसा भी दिखाई देता है कि पहली समिति के निर्माताओं को भी उससे कोई बड़ी आशाएं नहीं थीं। सर ए० चैम्बरलेन ने (उ० ग्र० पृष्ठ ४७५) में लिखा है कि जिस बहस के परिणामस्वरूप उसे नियुक्त किया गया (अप्रैल १९१२) उसमें राज्य-कोष-महामात्र (लायड जार्ज) ने उनकी ओर झुक कर उन्हें कहा : "मेरा विचार है आप इसका विरोध करेंगे। मेरे पास एक वृत्त है जिसमें आप ने इसका प्रबल विरोध किया है और मैं भी उसमें आप से असहमत नहीं हूँ।" वृत्त १९०५ में आए हुए उसी प्रकार के एक सुझाव से सम्बन्धित था।

३. देखिए Chubb, उ० ग्र०।

प्राक्कलन समिति समाप्त हो गई। उसके पश्चात् १९१७ तक और कोई व्यवस्था नहीं रही। उसके बाद राष्ट्रीय व्यय के लिए एक प्रवर-समिति नियुक्त की गई और १९२० तक हर अधिवेशन के लिए पुनः पुनः नियुक्त की जाती रही, जिसे पहले की समितियों से अधिक विस्तृत निर्देश पद (wider terms of reference) दिए गए। उसे तीन पृथक् कार्य सौंपे गए—पहला, सब प्रकार के चालू व्यय का परीक्षण करना और संसद् को ऐसी मितव्ययिताओं की सूचना देना जो नीति के अन्दर रहते हुए सम्भव हों, दूसरा लोक-लेखा के रूप के विषय में, और विभागों के अन्तर्गत व कोषागार के द्वारा नियन्त्रण की पद्धति के सम्बन्ध में सिफारिशें करना, और तीसरा, नियन्त्रण अधिक प्रभावी बनाने की दृष्टि से पूर्ति और विनियोग के विषय में संसदीय प्रक्रिया का परीक्षण करना।

समिति ने अपने कार्य-काल में बहुत बड़ा कार्य किया, विशेषकर उसको सौंपे गए कर्त्तव्यों में जो दूसरा था उसके प्रति। अपना कार्य करते हुए उसे एक कमी निरन्तर बाधा उपस्थित करती रही। वह थी एक ऐसी सन्तोषजनक विभागीय लेखा पद्धति का अभाव, जिससे किसी विभाग के सारे व्यय को एक दृष्टि में इकट्ठा देखा जा सकता। यहाँ लेखा परीक्षा की प्रणाली के विषय में अनेक प्रश्न खड़े होते हैं और उसका विचार हमें बाद में करना होगा। समिति की शिकायतों और सिफ़ारिशों के परिणामस्वरूप व्यापारी विभागों विशेषकर डाक घर की लेखा पद्धति में कुछ सुधार हुआ। किन्तु इससे मुख्य समस्या अछूती बनी रही और आपातिक स्थिति (emergency) बीत जाने के पश्चात् संसद् की अधिक सुधार करने की इच्छा भी जाती रही।

राष्ट्रीय वित्त को बिना निगरानी के छोड़े रखने की भूल १९३९ में नहीं दोहराई गई। युद्ध छिड़ने के चार महीने के अन्दर राष्ट्रीय व्यय के लिए एक नई प्रवर-समिति नियुक्त कर दी गई और १९४५ तक बार-बार नियुक्त की जाती रही। हाँ, इसके निर्देश-पद (terms of reference) १९१७ की अपेक्षा संकीर्ण थे। समिति को केवल चालू व्यय का परीक्षण करने का अधिकार दिया गया और वह भी "युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली सेवाओं का।"

ये प्रतिबन्ध अगर १९१७ में लगे होते ता उनसे कम रुकावट पैदा होती क्योंकि तब युद्ध-सम्बन्धी अनेक कार्य अधिक स्थायी स्वरूप वाले थे और नागरिक उपयोग के लिए अधिक सरलतापूर्वक बदले जा सकते थे। परन्तु इन प्रतिबन्धों के बाद भी यह समिति पहले की किसी भी समिति की अपेक्षा अधिक व्यापक जाँच करने में सफल हुई। इसने उप-समितियों के द्वारा कार्य करने की एक नवीन पद्धति निर्माण की जिससे उसके कार्यक्रम की एक-सूत्रता बिगड़ बिना उसका समय बचा। सब से बढ़ कर अनेक विभागों के लिए सांझे विषयों की परीक्षा करने में जो कठिनाइयाँ थीं उन्हें दूर हटाने का भी इसने रास्ता निकाल लिया। इस प्रकार इसने निम्न प्रकार के विषयों पर भी रिपोर्टें दीं : संविदा प्रक्रिया (contract procedure), स्टोर्ज के रूपांकन और और पूर्ति, कर्मचारी-वर्ग (personnel) के लिए स्पर्द्धात्मक बोली देना, और अपव्यय का सामान्य निराकरण।

युद्ध-जनित व्यय समिति लड़ाई रुकने के साथ ही सहसा समाप्त कर दी गई और उसके स्थान पर एक नई प्राक्कलन समिति नियुक्त की गई। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि इसमें पहली प्राक्कलन समितियों का पुनर्जन्म मात्र नहीं था, बल्कि यह युद्ध-काल की समिति की उत्तराधिकारिणी थी। प्रथम तो नई समिति ने उपसमितियों के द्वारा कार्य करने की युद्धकालीन प्रणाली को जारी रखा और उसके लिए अपनी संख्या चौंतीस तक बढ़ाने की अनुमति ली ताकि सात उपसमितियाँ बनाई जा सकें (जिनमें से एक कर्णधार समिति (steering committee) है, जिसका कार्य है कार्यक्रम बना कर बाँटना)। उपसमितियों की पद्धति से प्राक्कलन समिति लोक लेखा समिति की दसगुनी जाँच कर लेती है। दूसरा, इसने कोषाभार और पूर्ति समिति के मध्य प्राक्कलनों का परीक्षण करने का प्रयत्न छोड़ दिया, यह कह कर कि "प्राक्कलन" और "चालू व्यय" समानार्थक हैं। तीसरा, इसने कुछ चुने हुए विभागों के प्राक्कलनों की धीर गति से पड़ताल करने की बजाय विशेष कार्यक्रमों अथवा योजनाओं के समग्र परीक्षण की पद्धति को जारी रखा। इस प्रकार पहली बार वैधानिक स्तर पर व्यय के ऊपर एक अविराम रोक लगी।

चाहे नई प्राक्कलन समिति पूर्वज-समितियों से बहुत अधिक प्रभावी है, फिर भी व्यय-पूर्व (ex ante) परीक्षण में कुछ ऐसी जन्मजात कठिनाइयाँ हैं जो व्यय उपरांत (ex post) परीक्षण में नहीं होतीं। एक तो यह कि लोक लेखा समिति की आलोचना का महत्त्व इस कारण होता है कि वह एक प्रकार से एक न्यायाधिकरण की स्थिति में होती है। कोई पूर्ववर्ती समिति स्वयं को उस स्थिति में नहीं मान सकती क्योंकि उससे सम्बन्धित कार्यपालक अधिकारियों के उत्तरदायित्व के कम होने का भय रहता है। समिति के लोक सभा के साथ जो सम्बन्ध हैं उनमें भी इसी प्रकार की एक कठिनाई है: एक प्रवर समिति को बहुत सतर्क रहना चाहिए कि नीति के विषय में निर्णय देकर वह संसद् के अधिकारों पर छापा मारने की भूल कभी न करे। और यह हो जाना स्वाभाविक है, जब परीक्षण उन कार्यक्रमों का किया जा रहा हो जो अभी चलाए जा रहे हैं।

नई प्राक्कलन समिति को कोषागार द्वारा एक सचिवालय और दो वित्तीय प्रवर समितियों के लिए एक पदाधिकारी दिए जाने का बहुत लाभ हुआ है। किन्तु लोक लेखा समिति की तुलना में यह अभी भी घाटे में होती है क्योंकि प्रशासनात्मक स्तर पर क्षेत्र का ऐसा कोई प्रारम्भिक सर्वेक्षण नहीं हुआ होता जैसा लेखा के परीक्षण में राज्यकोष व लेखा परीक्षा विभाग का कार्य कर देता है। इसलिए प्राक्कलन समिति को बना बनाया एजेंडा कहीं से नहीं मिल जाता जैसा लोक लेखा समिति को नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट के रूप में मिल जाता है। इस परिस्थिति में यह प्रबन्ध करना कि सारे क्षेत्र को ठीक तरह देख लिया जाए और भी कठिन है।

इन समितियों के कार्य से यह प्रकट है कि सार्वजनिक सेवा में साधनों का अकुशल बँटवारा विशिष्ट त्रुटियों से जोड़ा जा सकता है। युद्ध-काल में वित्त के ऊबड़-खाबड़ मार्ग में वे उग्र अवश्य हो जाती हैं किन्तु रहती वे अधिक सामान्य स्थिति में भी है। इसलिए, जिस एक दो प्रकार के सामान्य अपव्यय पर समितियाँ ज़ोर देती है उनका संक्षिप्त विचार कर लेना उचित ही होगा।

विभिन्न विभागों द्वारा दी गई मिलती-जुलती सेवाओं की दोहरी-सी व्यवस्था

(overlapping) समाज को अपने व्यय की पूरी कीमत न मिलने का एक बड़ा कारण है। राष्ट्रीय व्यय समिति को इसके कई उदाहरण मिले। जैसे, चार विभाग छद्मावरण (camouflage) के लिए उत्तरदायी थे। यह ऐसा प्रश्न है जिसका सामान्य काल में स्थानीय प्राधिकारियों की विभिन्न समितियों के कार्य के साथ विशेष सम्बन्ध रहा है। इसके कुख्यात उदाहरण थे दरिद्र विधि चिकित्सालयों (Poor Law Hospitals) का सहायक सामान्य चिकित्सालयों (Auxiliary General Hospitals) के रूप में विकास, और 'काउंटी' (county) प्राधिकारियों तथा प्रारम्भिक शिक्षाधिकारियों द्वारा उच्च शिक्षा की स्पर्द्धात्मक व्यवस्था। यह दोहरी व्यवस्था ऐसी त्रुटि है जिसके केन्द्रीय विभागों और राष्ट्रीयकृत उद्योगों में काफ़ी अधिक बढ़ जाने की सम्भावना है, जैसे-जैसे उनके कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाते हैं, उदाहरणार्थ गृह-व्यवस्था और सम्बन्धित उपभोक्ता वस्तुओं की सीधी व्यवस्था के क्षेत्र में।

दोहरी (overlapping) सेवाएँ कभी-कभी प्रारम्भिक आयोजन में असावधानी के कारण भी हो जाती हैं। विभागीय कार्य व अधिकार स्पष्टतया निर्धारित नहीं होते और जरूरत से ज्यादा उत्साही (overzealous) पदाधिकारी अपने विभागों का कार्य नए-नए उपायों से बढ़ा लेते हैं। विशेषतया विकासशील सेवाओं में यह दोहरापन रोकना अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि अन्ततोगत्वा उनके स्थान और क्षेत्र क्या होंगे यह पहले से तय कर डालना आसान नहीं होता। इस सब में व्यवस्थित आयोजन के लिए आधार के रूप में अधिक सांख्यिकीय जानकारी की और भी आवश्यकता होती है। साथ ही एक ऐसे स्थायी प्रबन्ध की आवश्यकता भी प्रतीत होती है जो दोहरी व्यवस्था दिखाई देने पर विभागीय कार्यों का पुनर्विचार करे और जरूरी हो तो, स्थापित हितों की चिन्ता न करते हुए उनका बँटवारा बदल दे।

अपव्यय का एक और सामान्य कारण जो सार्वजनिक सेवाओं में व्यापकता से पाया जाता है वेतनों और सामग्री में झूठी बचत की नीति है जिसके कारण दिए गए दामों की पूरी कीमत नहीं मिलती। इसका एक उदाहरण जो राष्ट्रीय व्यय समिति ने कई बार दिया, विभागों की उस आदत का था

जिसके अनुसार वे प्रारम्भिक जाँच का कार्य ऐसे छोटे (junior) पदाधिकारियों को सौंप देते थे जिनकी योग्यता या अनुभव कम होता था। इस प्रकार योजना की नींव ही कच्ची रह जाती थी। सार्वजनिक विभागों में भारी प्रारम्भिक व्यय करने में प्रायः एक झिझक होती है चाहे वह व्यय उचित ही हो। कुछ तो यह उन दिनों का अवशेष है जब नियन्त्रण का अर्थ होता था कटौती और कुछ यह सम्भवतः इस भय के कारण होता है कि जिन प्रतिनिधि निकायों के लिए वे काम करते है वे किसी ठोस प्राप्ति के बिना एक भारी भरकम बिल देख कर घबरा जाएँगे और योजना पूरी होने के पूर्व ही नीति में परि-वर्त्तन कर देंगे।

यह कठिनाई अपव्यय के सब से साधारण प्रकारों के साथ जुड़ी हुई है—कार्य प्रारम्भ हो जाने के बाद भा योजना में रद्दोबदल। परिवर्त्तन की आवश्यकता या तो इसलिए हो सकती है कि प्रारम्भ में आयोजन करते हुए सब सम्बन्धित तत्त्वों (relevant factors) का ठीक विचार नहीं किया गया—जो सांख्यिकीय विषय ही है—और या इस कारण कि योजना पूर्ण होने से पूर्व ही परिस्थिति बदल गई। दूसरी सम्भावना युद्ध-काल में विशेष महत्त्वपूर्ण होती है और उन मुख्य कारणों में से है जिनके होने से युद्ध-काल का व्यय बारीकी से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। किन्तु सामान्य काल में इसका महत्त्व बहुत कम होना चाहिए। जब कभी योजना में परिवर्त्तन होता है, तो प्रत्यक्ष अपव्यय होता है क्योंकि ऐसा खर्च किया जा चुका होता है जिसका अब कोई उपयोग नहीं। और परोक्ष अपव्यय की बाद में संभावना होती है क्योंकि एक बार पहला करार त्याग दिया जाने के बाद खर्चों पर रोक रखना और संविदाओं (ठेकों) को दोहराना कठिन होता है। इन व अन्य सम्बन्धित दिशाओं में जितनी जाँच अब तक की गई है उस ने बहुत अधिक परिपूर्ण जांच की बहुत आवश्यकता है।[1]

१. व्यय के नियन्त्रण का विचार करते हुए तदर्थ अतिरिक्त संसदीय समितियों के कार्य का भी उल्लेख करना चाहिए जो विशेष उत्तेजना के दिनों में नियुक्त की जाती हैं।

४. **अमरीकन पद्धति से तुलना** (A Comparison with American Practice)—वित्त के विषय में ब्रिटिश संवैधानिक पद्धति के गुण-दोषों को देखने का सर्वोत्तम ढंग है—तुलना। ब्रिटिश संसदीय प्रणाली की अन्यत्र बहुतेरी नकल हुई है—चाहे वह सदा बुद्धिमत्तापूर्वक नहीं हुई। ब्रिटिश पद्धति का अनेक बातों में उपनिवेश ऐसा पूरा अनुकरण करते हैं कि मातृ देश के साथ उनकी तुलना विशेष ज्ञान-वर्द्धक नहीं होती। यह ब्रिटिश पद्धति की व्यावहारिकता का एक प्रमाण है कि इसका बहुत भिन्न आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों में सफलतापूर्वक आरोपण किया जा सकता है। सबसे बढ़ कर ज्ञानवर्द्धक तुलना है संयुक्त राज्य अमरीका से क्योंकि अमरीकी पद्धति की बपौती (heritage) और सामान्य पृष्ठभूमि वही है जो ब्रिटिश की, किन्तु उसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। अमरीकी वित्त-व्यवस्था संसार के लोकतन्त्रों में सबसे विशाल सार्वजनिक व्यय का नियन्त्रण करती है। उसके आवश्यक अंश १९२१ से पहले के नहीं हैं किन्तु अभी से वह परम्पराजन्य प्रतिष्ठा (prestige of tradition) के साथ कार्य करने लगी है।

दोनों राष्ट्र ऊपर से बिलकुल समान दीखने वाली वित्तीय व्यवस्था प्रयुक्त करते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में प्राक्कलनों पर भी कार्यपालिका और विभागों के मध्य में वित्त-वर्ष (जो १ जुलाई से प्रारम्भ होकर ३० जून को समाप्त होता है) के अन्त से कुछ (लगभग आठ) मास पूर्व चर्चा होती है। उसके पश्चात् वे कुछ सौ पृष्ठों के एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित होते हैं। कांग्रेस के अधिवेशन के उद्घाटन पर संघ की अवस्था पर राष्ट्रपति की रिपोर्ट

अन्तर्युद्ध काल में इन में से सब से महत्त्वपूर्ण थी राष्ट्रीय व्यय के लिए (मे) समिति जिसकी राष्ट्रीय वित्त की अवस्था पर १९३१ के ग्रीष्म में दी गई कुछ घबराहट भरी रिपोर्ट के कारण लंदन से विदेशी पूंजी का पलायन समय से पहिले हो गया और परिणामस्वरूप स्वर्ण-मान (Gold Standard) समाप्त हो गया। परन्तु इन समितियों का कार्य नीति की दृष्टि से गौण स्थान पर है क्योंकि इन्हें संकीर्ण अर्थ में "बचत"—अर्थात् व्यय में कटौती का काम दिया जाता है। 'मे' समिति को सौंपा गया कार्य था "राष्ट्रीय व्यय में सब प्रकार की उचित व व्यवहार्य कटौती तत्काल लागू करने" के लिए सिफारिशें करना।

महारानी के भाषण की तरह ही है। बजट में वर्ष के व्यय के प्राक्कलनों और उसके लिए आवश्यक राजस्व की एक अग्रिम झाँकी होती है और साथ में स्पष्टीकरण के लिए राष्ट्रपति का एक बजट-सन्देश होता है।[1] ब्रिटेन में पूर्त्ति पर जैसी बहस होती है वैसी ही इधर विनियोग समिति की बैठकें हैं। विस्तृत राजस्व प्राक्कलनों पर अर्थोपाय समिति में बहस होती है।

अतः अमरीका की पूरी पद्धति स्पष्टतया ब्रिटिश प्रणाली की सहोदरा ही है। किन्तु नामावलि की समानताओं के पीछे सार की महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ छिपी हैं। मौलिक संवैधानिक भेद जो सारे ढाँचे पर प्रभाव डालते है, उसके अतिरिक्त हैं। इन सारे भेदों का सार यह है कि विधान मण्डल के सदस्यों को जाँच के अवसर ब्रिटिश प्रणाली की अपेक्षा अधिक प्राप्त होते हैं किन्तु व्यय पर नियन्त्रण कम कार्यक्षम होता है और योजनाओं में सफलता सम्पन्न होने की आशा बहुत कम।

एक तो ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा संयुक्त राज्य में व्यय और राजस्व के प्राक्कलन पारित करने का ढंग कम केन्द्रित और एकीकृत है। एक अकेले वित्त विधेयक और अकेले विनियोग विधेयक की बजाय, व्यय और कराधान का स्वरूप धीरे-धीरे कई पृथक् उपबन्धों (measures) से निश्चित होता है। उससे बढ़कर, ब्रिटेन में वर्ष के आयोजित वित्तीय कार्यक्रम के पारित होने से रह जाने के विरुद्ध जो बचाव के मुख्य प्रबन्ध हैं उनमें से अमरीका में कोई लागू नहीं। प्रथम तो काँग्रेस का कोई भी सदस्य व्यय बढ़ाने अथवा कर घटाने का प्रस्ताव ला (और स्वीकार करवा) सकता है, द्वितीय सभी वित्तीय प्रबन्धों को सीनेट की पृथक् स्वीकृति मिलनी आवश्यक है। इनके कारण सुदीर्घ विलम्ब भी हो सकता है और काफ़ी संघर्षण (friction) भी। पृथक् विनियोग विधेयकों के कारण काँग्रेस के लिए वर्ष के कार्यक्रम को सम्पूर्ण रूप में देखना कम सरल होता है। इन भेदों के कारण वार्षिक बजट का सिलसिला घिसटता जाता है जिससे कि एक वर्ष का कार्य दूसरे वर्ष का काफी भाग बीत जाने तक भी

---

१. १९४६ में पहली बार ये तीनों एक साथ प्रस्तुत किए गए।

निपटाना कठिन होता है। इस प्रकार लेखा पद्धति में गड़बड़ होती है और परिणामस्वरूप प्रावैधिक नियन्त्रण ढीला हो जाता है।

पद्धति के इन भेदों से कहीं अधिक महत्त्व के वे हैं जो अमरीका के विधान मण्डल और कार्यपालिका की पृथक्ता के मौलिक सिद्धान्त के कारण उत्पन्न होते हैं। राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रमुख होता है और उसका निवास स्थान "व्हाइट हाउस" प्रशासन का भी केन्द्र होता है। उसी से लगे हुए राज्य के महत्त्वपूर्ण विभाग भी होते हैं जिनमें कोषागार और बजट कार्यालय भी सम्मिलित हैं। राष्ट्रपति अपना "मन्त्रिमण्डल" चुनता है, किन्तु स्वयं उसकी तरह सदस्य प्रशासन में पदाधिकारी होते हैं। इसलिए मन्त्रिमण्डल को जो कुछ चल रहा होता है सब विदित होता है किन्तु उसके पास वैधानिक अधिकार नहीं होते हैं। अपने प्रशासकीय ज्ञान के आधार पर राष्ट्रपति काँग्रेस को सुझाव तो दे सकता है कि उसके विचार में क्या करना उचित है—उदाहरणार्थ बजट-सन्देश में विशिष्ट कर-राजस्व के लिए प्रार्थना रहती है—किन्तु उसे काँग्रेस को अपनी सलाह मानने पर बाध्य करने के लिए कोई अधिकार नहीं है। दूसरी ओर, काँग्रेस का कार्य है विधान-निर्माण किन्तु उसके पास यह जानने का कोई निश्चित उपाय नहीं कि प्रशासन की नीयत क्या है।

एक और अन्तर है, चाहे कम महत्त्व का, जो पारस्परिक रोकथाम (checks and balances) के लिए अमरीका वालों के चाव से उत्पन्न होता है। ब्रिटेन में तो यह है कि बहुमत तब तक पदारूढ़ रहता है जब तक उसे विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त हो, किन्तु तभी तक ही उसकी बजाय अमरीका के तीनों निकाय, राष्ट्रपति (और उसका मन्त्रिमण्डल) हाऊस आफ़ रिप्रेजेन्टे-टिव्ज और सीनेट थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् अपने आप जाते हैं और उनका चुनाव पुनः होता है। राष्ट्रपति का चुनाव हर चार वर्ष के बाद होता है और काँग्रेस का चुनाव हर दो वर्ष के बाद । किन्तु क्योंकि सीनेट के एक-तिहाई सदस्य ही हर बार हटते हैं इसलिए उत्तर सदन में अवर की अपेक्षा अधिक निरन्तरता होती है। इस प्रकार की चुनाव पद्धति के कारण यह बिलकुल आसानी से संभव है कि राष्ट्रपति की अवधि समाप्त होते होते इसका दल एक

या दोनों सदनों में अल्पमत हो कर रह जाए। उस अवस्था में इसकी बहुत सम्भावना है कि काँग्रेस इन उपबन्धों को पारित करने से इन्कार कर दे जिन्हें राष्ट्रपति का समर्थन हो, और राष्ट्रपति यदि चाहे तो जो काँग्रेस द्वारा पारित हो जाएँ उन्हें अपनी स्वीकृति न दे। इस स्थिति में निराशाजनक अव्यवस्था और गड़बड़ का राज्य होता है जिसमें वित्तीय योजना का वार्षिक कार्यक्रम भी खटाई में पड़ सकता है। और जब तक नए चुनाव हो कर स्थिति न बदले तब तक शासन के पहिए सामान्य गति से चल नहीं सकते।

सौभाग्य से व्यवस्था का इस प्रकार अटक जाना असामान्य घटना है जो कभी एक आध बार ही होती है, किन्तु अच्छे दिनों में भी योजना बनाने और लागू करने की व्यवस्था ब्रिटेन का अपेक्षा कम जलरुद्ध (watertight) है। न केवल अमरीकी "मन्त्रिमण्डल" काँग्रेस के बाहिर होता है, अपितु हाऊस आफ़ रिप्रेजेन्टेटिव्ज़ में भी ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से मिलता जुलता कुछ नहीं है। विधेयकों को बनाना और काँग्रेस से पारित करवाना स्थायी समितियों के सिपुर्द होता है—अवर सदन में भी और सीनेट में भी (विनियोग और अर्थोपाय सम्बन्धी सदन समितियाँ इसके उदाहरण हैं)। किसी समिति की सदस्यता अधिकांश में ज्येष्ठता पर निर्भर होती है, न कि विचाराधीन उपबन्ध में किसी सदस्य की रुचि पर। अमरीकी व्यवस्था में इन सब घुमावदार तत्त्वों के कारण जनता को प्रशासन के कार्य और काँग्रेस के विचाराधीन उपबन्धों के विषय में अधिक संपूर्ण जानकारी देने के ऐसे ढंग स्वाभाविकतया बन गए हैं जो ब्रिटेन में प्रचलित नहीं हैं।

एक तो यह कि अमरीका में प्राक्कलनों का तैयार होना ब्रिटेन की तरह कोरा विभागीय प्रश्न ही नहीं होता, बजट कार्यालय सब विभागों को अपना अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए सुनवाई का अवसर देता है। सुनवाइयाँ सार्वजनिक नहीं होतीं किन्तु बिल्कुल गुप्त भी नहीं होतीं और व्यवहार की बात यह है कि जो कुछ चल रहा होता है वह बहुत सारा प्रकट हो जाता है और पत्रों में उस पर चर्चा होने लगती है। प्राक्कलनों पर उसके बाद विचार किया जाता है विनियोग सम्बन्धी सदन समिति द्वारा सार्वजनिक सुनवाई में। तत्पश्चात् समिति विधेयकों के प्रारूप बनाकर उन पर चर्चा करती है और अन्त

में उन पर सदन में चर्चा होती है। अर्थोपाय के लिए भी बिलकुल यही ढंग है और दोनों के लिए भी सारा क्रम इसी प्रकार दोहराया जाता है।

सदन के विचार करते होने पर भी सीनेट विनियोग सम्बन्धी सुनवाइयाँ और बहस की अपनी कार्रवाई शुरू कर सकती है। किन्तु अर्थोपाय के विषय में, अवर सदन को कराधान पर अपनी बात पहिले कह लेने का अवसर देने के लिए सीनेट तब तक विचार करना प्रारम्भ नहीं करती जब तक सदन अपना कार्य पूर्ण न कर ले। अपनी ब्रिटिश परम्परा के लिए सम्मानरूप इस प्रथा को रखते हुए भी सीनेट यदि चाहे तो सदन के विधेयकों को, जब वे उसके पास आते हैं तो तोड़-मरोड़ कर कुछ का कुछ बना सकती है। अगर सब कुछ निर्बाध चले तो सुनवाइयों, समिति-अधिवेशनों और सदन चर्चा के सारे क्रम में कुछ आठ नौ सप्ताह लगते हैं किन्तु सदन में अन्तिम चर्चा के लिए दिया गया समय बहुत कम होता है—सम्भवतः एक सप्ताह से अधिक नहीं।

दूसरा, काँग्रेस को अपने कार्य के लिए विश्वसनीय निर्देश मिल सकें इस दृष्टि से ब्रिटेन में जितनी उपलब्ध होती है उससे बहुत अधिक जानकारी संग्रह कर के प्रशासन प्रकाशित करता है। सरकारी कार्रवाई का एक अत्यन्त सम्पूर्ण मासिक बुलेटिन कोषागार विभाग प्रकाशित करता है। अधिकाँश मदे कुछ सप्ताहों के अन्दर ही उसमें प्रकाशित हो जाती हैं। अमरीकी प्राक्कलन भी ब्रिटिश प्राक्कलनों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवर्द्धक होते हैं चाहे वे सम्भवतः उतने विस्तृत नहीं होते। बजट की हर मद के सामने विगत कुछ वर्षों के वास्तविक व्यय के आंकड़े होते हैं और साथ ही चालू वर्ष व योजनाधीन वर्ष के प्राक्कलनों के। यह सब ब्यौरा सामान्य जनता और काँग्रेस के सदस्यों को उपलब्ध होता है।

अन्त में प्रशासन कारबारी समाज से भी आर्थिक गतिविधि सम्बन्धी कहीं अधिक सम्पूर्ण और अद्यावधिक (up to date) जानकारी — जैसी ब्रिटेन में शासन के आयोजकों तक को उपलब्ध नहीं होती, एकत्र करता है। बार-बार उत्पादन-गणना (census of production) कर के और अन्य जाँचों के द्वारा वह प्राप्त की जाती है। इस अन्तर के लिए जितना श्रेय प्रशासन के उत्साह

को है उतना ही व्यापारियों के रवैये को भी। पिछले कुछ सालों में ब्रिटेन में परिस्थिति काफ़ी सुधरी है किन्तु अभी अमरीकी स्तर पर नहीं पहुँची। इस प्रश्न के साथ भाग ३ में हमारा सम्बन्ध आएगा।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण (survey) से स्पष्ट है कि ब्रिटिश व अमरीकी पद्धतियाँ मानो परस्पर पूरक हैं। जहाँ एक बलवान है वहाँ दूसरी दुर्बल और जहाँ दूसरी बलवान है वहाँ पहली दुर्बल। संयुक्त राज्य अमरीका में कुछ तो ऐसी मौलिक कठिनाइयाँ हैं जो संविधान के सिद्धान्तों से उत्पन्न होती हैं और इस कारण कम से कम निकट भविष्य में तो जिनके बदले जाने की आशा नहीं है। किन्तु उनके अतिरिक्त सब से अविलम्ब आवश्यकता यह प्रतीत होती है कि काँग्रेस और कार्यपालिका में अधिक सम्पर्क हो जिससे प्रशासन क्या कर रहा है यह विधानमण्डल को प्रत्यक्ष पता लग सके। रूज़वेल्ट शासन द्वारा प्रारम्भ किए गए और युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में अधिक बढ़ाए गए सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के कारण इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। युद्धकाल में इस दिशा में कुछ न कुछ प्रगति अनिवार्य रूप से हुई। एक उदाहरण था सीनेट की उस विशेष समिति (युद्ध जाँच समिति) का कार्य जिसे राष्ट्रीय सुरक्षा कार्यक्रम की पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया गया और जिसने ब्रिटेन की राष्ट्रीय व्यय समिति के समान कार्य किया। इस समिति ने उच्च कोटि की विधायक सेवा की और विशेषज्ञ सांख्यिकों तथा अर्थशास्त्रियों के एक बड़े कर्मचारी को लगा कर प्रशासन की कई शाखाओं में अपव्यय और अकुशलता प्रकाशित की। अधिक स्थायी सम्पर्क की योजनाओं पर चर्चा तो हुई है[1] किन्तु ब्रिटेन के समान, जैसे-जैसे नियन्त्रण की आवश्यकता कम तीव्र होती जाती है, सुधार करना अधिक कठिन होता जाता है। १९५३ के अल्प प्रतिसार (minor recession) का सफलतापूर्वक निराकरण इस आशा को जन्म देता है कि काँग्रेस और कार्यपालिका में राष्ट्रीय आर्थिक नीति के परिपालन के लिए कानूनन नहीं तो वस्तुतः अधिक अच्छा करार हो गया है।

---

१. देखिए शासन की कार्यपालक शाखा के संगठन पर काँग्रेस को हूवर कमीशन की रिपोर्ट, विशेषकर "Task Force" Reports (परिशिष्ट)।

अध्याय ५

सार्वजनिक राजस्व

(The Public Revenue)

१. १९३८ और १९५३ में ब्रिटेन की कर-व्यवस्था (The British Tax Structure in 1938 & 1953)—राजस्व सम्बन्धी जो प्रस्ताव अप्रैल में बजट के अन्दर प्रस्तुत किए जाते हैं और जिन पर तत्पश्चात् अर्थोपाय समिति में सदन चर्चा करता है, वे उस प्रकार की कोई-स्वतन्त्र योजना नहीं होते जिस प्रकार कि व्यय के प्राक्कलन होते हैं। कुल कितना राजस्व चाहिए यह इसको देखकर तय होता है कि कितना देयक चुकाना है और वह इस समय तक लगभग निश्चित हो ही जाता है। उस राजस्व को किस-किस कर से कितना कितना धन प्राप्त करके पूरा किया जाए इस विषय पर प्राय: कोई गरमागरम वाद-विवाद खड़ा नहीं होता। अन्तर्युद्ध काल में केवल दो अवसरों पर राजस्व सम्बन्धी वाद-विवाद राजनीति में उलझा। १९२४ में जब एनोडन ने 'ब्रेकफ़ास्ट टेबल' करों (Breakfast Table Duties) को श्रमिक परिवारों के हित में हटाया और १९३२ में जब नेबिल चैम्बरलेन ने लगभग ९० वर्ष पश्चात सामान्य संरक्षणात्मक प्रशुल्क (General Protective Tariff) को फिर से लागू करने के लिए सदन को प्रेरित किया। पहले अवसर पर राजस्व में केवल मात्र २ प्रतिशत की कमी आई, दूसरे अवसर पर चाहे प्रारम्भिक अन्तर बहुत कम था किन्तु अन्त में जा कर संग्रहीत राजस्व के स्थूल रूप में भी परिणाम पर्याप्त बड़ा था।

चाहे दलगत प्रश्न करों के चुनाव में विशेष प्रभाव नहीं रखते, आर्थिक कल्याण की दृष्टि से ठीक करों का चुना जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थ-शास्त्रियों ने सदा यह स्वीकार किया है और सम्पूर्ण १९वीं शताब्दी में सार्वजनिक वित्त के इसी पक्ष पर ध्यान केन्द्रित रहा। हाल में सार्वजनिक क्षेत्र

के विस्तार के साथ ऐसे दूसरे प्रश्नों ने सिर उठाया है जो अविलम्ब रूप में ध्यान खींचते हैं किन्तु उनके कारण हमारी दृष्टि से करों के मौलिक प्रश्न ओझल नहीं होने चाहिएँ। इस कारण भाग दो में हमारा अधिकांश समय करों के चुनाव सम्बन्धी प्रश्नों पर खर्च होगा। वर्त्तमान अध्याय उस अध्ययन की प्रस्तावना के रूप में है ताकि आजकल की राजकोषीय नीति में विभिन्न करों के पारस्परिक महत्त्व से हम परिचित हो जाएँ।

केवल करों पर ही सरकारी प्राधिकारी निर्भर नहीं रहते हैं। किन्तु ब्रिटेन में अब तक अन्य सामान्य राजस्व-स्रोतों (जैसे नियोजन पर ब्याज और व्यापारी सेवाओं से लाभ) का महत्त्व उपेक्षणीय ही रहा है। पूँजीगत वस्तुओं पर नियोजन के लिए ली गई राशि को छोड़कर ऋण लेना आपात-वित्त (emergency finance) के साथ ही सम्बद्ध रहा है। इस कारण इस अध्याय में हमारा लगभग सम्पूर्ण विचार करों के सम्बन्ध में ही होगा।

१९५३ में कुल राजस्व विभिन्न करों में किस प्रकार बँटा हुआ था इसका युद्धपूर्व के किसी सामान्य वर्ष की तुलना में विचार करना उपयोगी होगा। (तालिका १)। कोई बड़ा युद्ध अनिवार्य रूप से अपने पीछे राजस्व की अत्यन्त बढ़ी हुई आवश्यकता छोड़ जाता है। नए ऋण का ब्याज चुकाने के लिए भारी करों की ज़रूरत होती है। इसके अतिरिक्त युद्ध सामाजिक सेवाओं को विकसित करता है और सार्वजनिक क्षेत्र की गतिविधियों को अन्य कई दिशाओं में बढ़ा देता है। मूल्यों के स्तर में आए हुए परिवर्त्तन को छोड़कर भी, युद्धोत्तर काल के करों की दरें युद्धपूर्व काल की अपेक्षा युद्धकाल की दरों के स्तर के समीप टिकें यह आवश्यक ही था।

तालिका में विभिन्न करों के मध्य में राजस्व का वितरण (अर्थात् कर-रचना) क्रमशः दोनों वर्षों में, कैसा था यह दिखाया गया है। राजस्व की व्यवस्था देखने का यही एक ढंग या सर्वोत्तम ढंग हो ऐसी बात नहीं है। एक अधिक रोचक ढंग यह होगा कि प्रत्येक कर का कितना-कितना भाग भिन्न-भिन्न आर्थिक अवस्थाओं के परिवारों के द्वारा दिया जाता है। किन्तु इस दूसरे ढंग का विचार अभी करने की बजाय तब करना अधिक अच्छा होगा
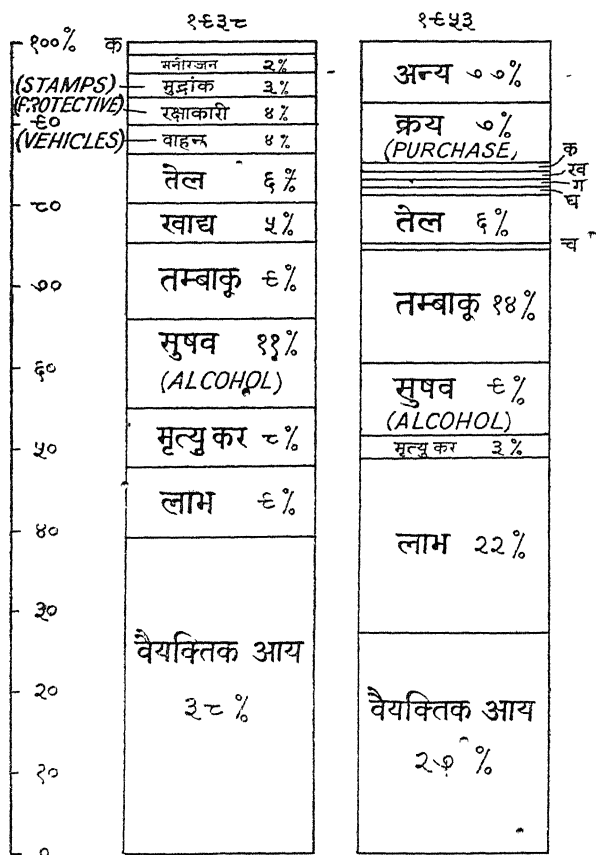
चित्र १—ब्रिटेन में बजट सम्बन्धी कर राजस्व १९३८, १९५३ (प्रतिशत बँटवारा)

जब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के करों के गुण दोषों की परस्पर तुलना कर लेंगे। इसलिए इस विषय पर भाग २ के अन्त में हम फिर लौटकर आएँगे।

तालिका में प्रकट है कि १९५३ में एक क्रय-कर के अपवाद को छोड़कर, दोनों वर्षों में करों के प्रकार और स्थूल रूप में उनका सापेक्ष महत्त्व भी बहुत समान था चाहे राजस्व के योग में भारी अन्तर है। यह समानता बहुत कुछ अनिवार्य ही है क्योंकि एक तो राजकोषीय परिवर्त्तन बहुत धीरे आते हैं, और उससे भी बढ़कर करों के प्रयोग युद्धकाल में अत्यन्त कठिन होते हैं जब कि कर्मचारी वर्ग भी बहुत कम हुआ होता है। इस दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि सामान्य कर-रचना ऐसी हो जो थोड़े बहुत समायोजन से ही असाधारण बोझ भी उठा सके। १९१४-१८ के महायुद्ध में ब्रिटेन अपने मित्र और शत्रु, दोनों प्रकार के देशों की अपेक्षा निश्चित लाभ की स्थिति में था। किन्तु उसके पश्चात् अन्य देशों में राजकोषीय सुधार हो जाने के कारण १९४० में उसकी श्रेष्ठता इतनी सुस्पष्ट नहीं थी।

१९३८ में ब्रिटिश राष्ट्रीय शासन के राजस्व का ७० प्रतिशत करों के केवल चार समूहों[1] से प्राप्त होता था : (१) व्यक्तिगत (शुद्ध) आय कर, (२) शुद्ध व्यापार लाभ पर लगे कर, (३) मद्यसार (alcoholic liquor) पर लगे कर और (४) तम्बाकू के इस्तेमाल पर लगे कर। १९४४ में इन चार समूहों के करों से प्राप्त राजस्व ८५ प्रतिशत से भी अधिक हो गया था। इस वृद्धि में युद्धकाल के लाभ का विशेषकर अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) एक विशेष कारण था। १९५३ में भी ये चार कर समूह केन्द्रीय कर राजस्व का लगभग तीन-चौथाई दे रहे थे। इसके कारण थे लाभ व व्यक्तिगत आय के ऊपर लागू रखे गए भारी कर और तम्बाकू कर की दरों में उल्लेखनीय वृद्धि।

---

१. युद्धपूर्व काल की ब्रिटिश कर-रचना के अधिक विस्तृत विवरण के लिए देखिए—Shirras & Rostas, The Burden of British Taxation और Barna, The Redistribution of Incomes through Public Finance, अन्तर्युद्ध काल में हुए कर परिवर्त्तनों के लिए देखिए U. K. Hicks, The Finance of

अब हमें करों के उन प्रकारों का संक्षिप्त परीक्षण करना चाहिए जिन से हमारे "कर-सीढ़ियों" के डण्डे बनते हैं। पहले तीन तो साथ-साथ लगे हुए ही है। वे हैं अन्तर्देशीय राजस्व विभाग द्वारा संग्रहीत कर,[1] जो प्रायः "प्रत्यक्ष कर" कहलाते हैं।[2] आर्थिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन करों का दायित्व करदाता की सामान्य आर्थिक स्थिति के ऊपर निर्भर है न कि विशिष्ट वस्तुओं पर उसके द्वारा किए गए व्यय के ऊपर।

सामान्य काल में पहले समूह का सबसे बड़ा सदस्य वैयक्तिक आय-कर है जो कि नाम के लिए दो कर [आय कर और उपरि कर (Surtax)] होते हुए भी वास्तव में वह एक ही आरोपण है जो एक न्यूनतम कर मुक्ति के स्तर (low minimum exemption limit) से प्रारम्भ होकर सब स्तरों की आय पर लगातार लगता जाता है।[3] ब्रिटेन में (और अब अधिकांश दूसरे देशों में भी) वैयक्तिक आय कर ही मुख्य क्रम-वर्धमान (progressive) कर है, अर्थात् दायित्व का अनुपात बड़ी आयों पर लगातार बढ़ता जाता है। मृत्यु कर भी क्रम-वर्धमान होते हैं—सम्पति के मूल्य के साथ बढ़ते हैं—वास्तव में ब्रिटेन में तो संसद् द्वारा स्वीकृत प्रथम क्रम-वर्धमान कर वही थे।[4] वे तब दिए जाते हैं जब स्वामी की मृत्यु पर सम्पत्ति दूसरे को मिलती है, और मृतक की कुल सम्पत्ति के मूल्य पर प्रत्यक्ष (direct) लगते हैं।

जिन वर्षों का हम विचार कर रहे हैं, उनमें दो प्रकार के लाभ कर लागू थे। पहला तो था फ़र्मों के अवितरित लाभ (undistributed profits) पर

British Government, और उस काल के बाद, British Public Finances, their Structure & Development, 1880-1952.

१. मुद्रांक शुल्क (Stamp Duty) भी और कुछ अन्य गौण कर भी जिनमें सब से रोचक है सत्रहवीं सदी का भूमि कर।

२. करों के वर्गीकरण के लिए देखिए अध्याय ६, अनुभाग १.

३. ब्रिटिश आय कर की रचना के विस्तृत विवरण के लिए देखिए अध्याय १२, 'सेक्शन' २.

४. देखिए अध्याय ८ 'सेक्शन' ४.

सामान्य कर जो "डी तालिका"[१] के भाग के एक रूप में वैयक्तिक आय कर के साथ संग्रह किया जाता है और दूसरा था (वितरण से पूर्व) कुल शुद्ध लाभ पर लगे कर। १९३८ में दूसरी प्रकार के करों में से केवल एक ही राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अंशदान (National Defence Contribution—N.D.C.) लागू था जो कि औद्योगिक फर्मों के लाभ का सर्व समान (flat) ५ प्रतिशत ले जाता था। युद्ध काल में जब अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax E.P.T.) भी लग गया, तब दोनों में से एक लगता था—चालू लाभ यदि सामान्य आय से कम होता तो पहला और अधिक होता तो दूसरा।[२] दिसम्बर १९४६ में "ई० पी० टी०" हट जाने के बाद एन० डी० सी० को "लाभ कर" के रूप में रख लिया गया। दरों को एक से अधिक बार बढ़ाया गया और साथ ही रोक लिये गए लाभ के पक्ष में विभेद भी आरम्भ किया गया।

१९४४ में जब युद्ध तेज़ी पर था, आय और लाभ करों के राजस्व के पाँच षष्ठांश (five sixths) लाभ अथवा "अवैयक्तिक (impersonal) आय" से आते थे। १९५३ तक यह अनुपात काफी घट चुका था, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि अवैयक्तिक आय का भाग युद्ध के पूर्व की अपेक्षा अधिक ही होता रहा। इस परिवर्त्तन का ध्वनित आर्थिक मतलब हमें बाद में देखना होगा।

सारी व्यवस्था के अन्य कर परम्परा से "परोक्ष" कहलाते हैं, कुछ अपवाद छोड़ कर वे "बहिःशुल्क व उत्पादन शुल्क बोर्ड" (Board of Customs and Excise) द्वारा संग्रह किए जाते हैं। ये कर अधिकांश में आय के साथ प्रतिगामी (regressive) स्वरूप के हैं—अर्थात् आय जितनी कम हो कर का अनुपात

---

१. "व्यापार व व्यवसायों आदि से लाभ।" (राष्ट्रीय आय व व्यय सम्बन्धित श्वेत पत्र प्रकाशित होने के बाद) १९३८ से ही इस कर का राजस्व, वैयक्तिक आय कर से पृथक् किया जा सकता है।

२. ई० पी० टी० के सविस्तार विवरण के लिए देखिए अध्याय १२ 'सेक्शन' ४ और अधिक विस्तार के लिए—The Taxation of War Wealth by J. R. & U. K. Hicks and L. Rostas.

उससे उतना ही अधिक होता है। इन करों में, जो धन के विशेष प्रकार से व्यय करने अथवा रखने पर लगाते हैं, काफ़ी अन्तर से सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं (जैसा हम पहिले भी देख चुके हैं) मद्य और तम्बाकू के उपभोग पर लगे कर। युद्ध के पूर्व दोनों में से मद्यसार सम्बन्धी करों का समूह अधिक राजस्व संग्रह करता था, किन्तु युद्ध के काल में स्थिति इसके उलट हो गई। यह परिवर्तन युद्ध के पश्चात् के पहिले-पहिले वर्षों में तम्बाकू कर के बढ़े दरों से और भी पक्का हो गया। उसके विपरीत शराब के करों के दरों में पिछले सालों में माँग की कमी के कारण बढ़ने की अपेक्षा घटने की ही प्रवृत्ति रही है। १६३८ में मद्य राजस्व का लगभग ६० प्रतिशत "बीयर" (beer) से प्राप्त होता था और बाकी का लगभग सारा "ह्विस्की" (whisky) से, १९४४ में "बीयर" का अनुपात बढ़ कर ८० से अधिक हो गया; १९५३ में "ह्विस्की" फिर से उपलब्ध होने के साथ युद्धपूर्व का अनुपात फिर स्थापित हो गया। इन कर-समूहों की महान् सम्भाव्यता (immense potentiality) का लाभ पहिले पहल १९१४-१८[1] के युद्ध में उठाया गया, तब से अब तक करों के दर कई बार और भी बढ़ाए जा चुके हैं।

१९३० की दशाब्दी में, जैसा आगे देखेंगे, खाद्य कर भी उपेक्षणीय नहीं थे। वे तीन प्रकार के थे। प्रथम देर से चले आ रहे चाय व चीनी के कर— १९२० की दशाब्दी में क्रमशः हटाये गए "ब्रेकफ़ास्ट टेबल करों" के अन्तिम अवशेष। दूसरे समूह में थे १९३२ के ओटावा राष्ट्रमण्डल करार (Ottawa Commonwealth Agreements) के अन्तर्गत लागू किए गए कुछ कर, जैसे सूखे और डिब्बों में बन्द फलों पर। अन्त में एक विशेष प्रकार का कर था जिसका उद्देश्य था ब्रिटिश किसान के लिए गेहूँ के मूल्यों को बढ़ाना। गेहूँ "आरोपण" (levy) कारखानेदारों से एकत्रित करके किसानों को दे दिया जाता था। यह अन्तिम तालिका में सम्मिलित नहीं है क्योंकि यह बजट

१. वैस्टमिन्स्टर में आयरलैण्ड के सदस्य न होते तो आसव करों (spirit duties) के इसके पहले ही बढ़ जाने की बहुत सम्भावना थी।

के बाहिर रखा गया था। यह युक्ति सोची गई थी इसे संसद् में मुक्त व्यापार के समर्थकों की आलोचना के बाणों से बचाने के लिए।

अन्तर्युद्ध काल में अधिकांश खाद्य करों के साथ एक 'इम्पीरियल प्रेफ़रेन्स' (Imperial Preference Rebate) लगा हुआ था जो कि विशिष्ट आधार पर निश्चित था, जिससे डोमिनियनों और उपनिवेशों (colonies) की उपज को ब्रिटिश बाज़ार में पर्याप्त सुविधा प्राप्त थी। समय बीतने के साथ खाद्य करों में ब्रिटिश किसान के लिए संरक्षण का एक वर्धमान अंश भी आ गया। गेहूँ आरोपण तो स्पष्टतया इसी उद्देश्य से लगाया गया था जो कि सरकने वाले पैमाने (sliding scale) के अनुसार पुराने "कॉर्न लॉज़" (Corn Laws) की याद दिलाता हुआ कार्य करता था और विश्व में मूल्य के बढ़ने के साथ धीरे-धीरे विलीन होता गया। चीनी का मामला तो और भी रोचक है। विक्टोरियन युग में यह पूर्णतया उष्ण प्रदेश की (tropical) वस्तु थी और इस पर एक सीधा राजस्व-आयात-शुल्क लगता था। शर्करा पालंक (sugar beet) के प्रथम महायुद्ध में एक ब्रिटिश फसल के रूप में प्रारम्भ होने पर उसके लिए साहाय्य की माँग खड़ी हो गई। स्वयं तो शर्करा पालंक सीमान्त के नीचे की फसल है किन्तु एक ओर फसलों का क्रम बदलने की पद्धति (crop rotation) में एक मद के रूप में, और दूसरी ओर एक सामरिक आरक्षित (strategic resevre) के रूप में इसके गुण इतने बलपूर्वक सामने लाए गये कि इसे काफ़ी ऊँचे स्तर के संरक्षण-साहाय्य का पात्र मान लिया गया। साहाय्य और भी अधिक देना पड़ा क्योंकि आयात शुल्क में जो संरक्षण का अंश था वह 'इम्पीरियल प्रेफ़रेंस' (imperial preference) की नीति के कारण बहुत कुछ उड़ गया।

युद्धोत्तर काल में स्थिति काफ़ी बदली है। प्रथम, आधारभूत खाद्यों (basic food) को युद्ध के दिनों में जो भारी साहाय्य मिला और वह पुनर्निर्माण के दिनों में भी जारी रहा, उसने जो बचा खुचा कर था उसे प्रायः लागू रहने ही नहीं दिया। विशिष्ट करों का महत्त्व मुद्रा के मूल्य में कमी के साथ-साथ अधिकाधिक घटता गया। और इस प्रकार अन्त में 'इम्पी-

रियल प्रेफ़रेंस' का अर्थ शून्यप्राय हो गया। तीसरा संरक्षणात्मक करों का स्थान अधिकाधिक रूप में मात्रा सम्बन्धी नियन्त्रण (quantitative control) ने ले लिया है (जो १९३० की दशाब्दी में ही बढ़ने लगा था) और विशिष्ट साहाय्य का स्थान ब्रिटिश किसानों को गारंटी किए गए मूल्यों ने। इन तीन कारणों का परिणाम यह हुआ कि खाद्य करों के राजस्व में पर्याप्त कमी आ गई। केवल चीनी के मामले में युद्धपूर्व की स्थिति का कुछ अंश बचा कर रखा गया। ब्रिटेन में उस गारण्टी के द्वारा (जो कुछ वर्षों तक चलती है) कि सब राष्ट्रमण्डलीय स्रोतों का कुछ "कोटा" (quota) वार्त्तालाप से तय पाई हुई और आरक्षित कीमत पर खरीदा जाएगा, पुराने 'इंपीरियल प्रेफ़रेंस' का कुछ अंश प्राप्त हो जाता है। इस कोटा के अतिरिक्त कुछ अन्य मात्रा भी 'इम्पीरियल प्रेफ़रेंस' के अवशेष के रूप में है—परिणामस्वरूप केवल सीमान्त की पूर्ति ही विश्व के अरक्षित बाजारों में बेचने की ज़रूरत पड़ती है। यह व्यवस्था मुख्यतः कुछ वैस्ट इंडियन द्वीपों के हित की है जिनकी मुख्य फसल ही चीनी है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रिटिश पालंक-शर्करा (beet sugar) का संरक्षण करते रहते हुए कार्य करना सम्भव रहा है।

अन्त में गेहूँ-आरोपण एक ऐसे कर के उदाहरण रूप में रोचक है जिसका राजस्व किसी विशिष्ट लक्ष्य के लिए पृथक् रक्षित (earmarked) होता है और इस कारण जो सामान्य आवश्यकताओं के लिए उपलब्ध नहीं होता। पृथक्-रक्षित कर देखने में तो बड़ी सरल सी युक्ति प्रतीत होती है किन्तु व्यवहार में यह बड़ी टेढ़ी है। शुरू में यदि लक्ष्य के लिए धन पर्याप्त हो तो भी इसका कोई भरोसा नहीं कि समय बीतने के बाद भी यह पर्याप्त रहेगा। सौभाग्य से ब्रिटिश चांसलरों को यह बात अब भली प्रकार समझ में आ गई है।[1]

महत्त्व की दृष्टि से इसके बाद आते हैं "मोटरिंग" (motoring) पर

---

१. एक कुख्यात विक्टोरियन पृथक-रक्षण (earmarking) की पद्धति थी कुछ राजस्व स्रोतों का स्थानिक शासन के कार्यों के लिए "सौंप दिया जाना"—विशेषकर मद्यपान से प्राप्ति के एक भाग का (जिसे बोलचाल में "ह्विस्की धन" कहा जाता था) उच्च शिक्षा के लिए।

लगे कर, जिनमें वाहन व ड्राइविंग के लाइसैंसों के शुल्कों के अतिरिक्त हाइड्रो कार्बन आयल्ज़ का सारा ही कर आ जाता है। अर्थात् निजी और व्यापारी दोनों प्रकार के मोटर वालों पर दो तरह से कर लगते हैं, एक तो वाहन के प्रकार या श्रेणी के अनुसार "उपरि" कर (overhead) और दूसरा एक "चालन-परिव्यय" कर (running cost charge) खर्च किए गए ईंधन के अनुसार। प्रत्येक देश में मोटरों के कर अधिकाधिक राजस्व देने वाले बन रहे हैं और उनमें प्राय: कुछ इस प्रकार का विभेद भी होता है (जिसका तर्कसंगत आधार है) परन्तु प्राय: किसी भी देश में दोनों प्रकार के करों के दर इतने ऊँचे नहीं है जितने ब्रिटेन में।

चाहे राजकोषीय दृष्टि से नहीं तो भी रोचकता की दृष्टि से इसके बाद आते हैं अन्य संरक्षणात्मक शुल्क। ये दो वर्गों में बँट जाते हैं। पहला उन शुल्कों का जो १६२० की दशाब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में लगाए गए, या तो सामरिक (strategic) कारणों से या "रेयन" (rayon) जैसे नए उद्योगों पर (जिस कर को स्पष्ट कारणों से सिल्क पर लागू करना पड़ा) या मोटरगाड़ियों और उप-साधनों पर,[1] और दूसरा उनका जो आयात कर सलाहकार बोर्ड की सलाह पर जिसे संरक्षणात्मक नीति को कार्यान्वित करने के लिए १६३२ में स्थापित किया गया, लागू हुए। इन संरक्षणात्मक शुल्कों में से कई तो उद्योगों के कच्चे माल और अर्ध-निर्मित वस्तुओं पर लगते हैं और शुरू में १६३१ की मन्दी के बाद औद्योगिक समुत्थान के लिए उनकी योजना हुई। उन्होंने सम्बन्धित उद्योगों को तो अवश्य ही सहायता दी और इस प्रकार रोजगार का सामान्य स्तर बढ़ाया। परन्तु जो नीति उनके और ओटावा करारों के पीछे थी उसके कारण पहली बार ब्रिटिश राजस्व प्राधिकारियों का दूसरे देशों विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका के साथ संघर्ष आया।

शेष सामान्य करों को हम शीघ्रता से समाप्त कर सकते है। 'स्टैम्प ड्यूटी' कर (Stamp Duties) मुख्यत: सम्पत्ति हस्तान्तरण पर संग्रह किए जाते हैं,

१. उदाहरणार्थ "मक्कन्ना" (१६१५), मूल उद्योग (१६२१), सिल्क तथा कृत्रिम सिल्क (१६२५), के कर (जिसमें 'नाइलन' और उससे मिलते-जुलते तन्तु भी सम्मिलित हैं)।

विशेषकर स्टाक एक्सचेंज की प्रतिभूतियों के, जिससे कि उनका महत्त्व स्टाक एक्सचेंज की तेजी के समय विशेष हो जाता है। दूसरे मुद्रांक (stamps) शुल्क हैं चैकों और रसीदों पर २ पैंस के टिकट से लगने वाले। मनोरंजन कर ६ पैंस से अधिक के प्रवेश शुल्क पर लगता है और ऊँचे दरजों पर काफ़ी तेज़ी से बढ़ाया होता है।

इनसे अधिक रोचक है युद्ध काल का क्रय-कर जो १६४० में पहली बार उपभोग को रोकने के मुख्य उद्देश्य से लगाया गया। खाद्य और "उपयोगिता" पदार्थों (utility goods) को छूट के और अन्य वस्तुओं की कमी के होते हुए भी क्रय-कर से युद्ध काल में लगभग १० करोड़ पौंड वार्षिक राजस्व प्राप्त होता रहा। युद्ध के पश्चात् यह तीव्रगति से बढ़ कर लगभग ३० करोड़ पौंड के स्तर पर पहुँच गया। ब्रिटिश क्रय-कर के पीछे सिद्धान्त सदा यह रहा है कि उसे अपेक्षाकृत अधिक से अधिक प्रगामी (progressive) बनाया जाए। पहले तो इसका क्षेत्र ध्यानपूर्वक चुन कर तय किया जाता है; विशेषकर सब खाद्य को और बच्चों के वस्त्रों को सदा छूट रही है। दूसरे, वस्तुओं की वे किस्में जो मुख्यतः साप्ताहिक वेतन भोगियों के द्वारा खरीदी जाती हैं, बहुत कुछ मुक्त रही हैं—शुरू में "उपयोगिता" योजना के अन्तर्गत जिसके द्वारा युद्ध के दिनों में और कुछ काल पश्चात् भी विशुद्धता और ठीक मूल्य दोनों की गारंटी होती थी, और बाद में, १६५२ से तथाकथित "डी" योजना ने उपयोगिता पद्धति का स्थान ले लिया है। इसकी विशेषता यह है कि एक विशिष्ट मूल्य (जो हर वर्ग के लिए पृथक् तय किया जाता है) के नीचे की वस्तुएँ कर से मुक्त होती है, क्रय-कर "डी" सीमा के ऊपर ही लगता है। यह दिखाई देगा कि इस प्रकार उपयोगिता पद्धति की अपेक्षा उत्तरोत्तर वृद्धि की मात्रा अधिक रहती है। अन्ततः कर के दरों में अन्तर रख कर (जो एक समय बढ़ कर १०० प्रतिशत हो जाता है) प्रयास किया गया है कि "विलास" (luxury) की वस्तुओं पर अधिक कर लगे। विलास-पदार्थ की सन्तोषजनक परिभाषा नहीं हो सकती, इस कारण कर के इस अंश के कुछ विचित्र परिणाम

भी हुए हैं[1]। दरों में अन्तर रख कर यह भी कोशिश की गई (शायद अधिक सफलतापूर्वक) कि जिनकी माँग घटाना विशेष आवश्यक था (जैसे बिजली के उपकरणों की) ऐसी वस्तुओं से माँग को हटा कर दूर कर दिया जाए।

ब्रिटिश क्रय-कर के ढंग के कर (जिन्हें प्रायः बिक्री कर कहा जाता है) अधिकांश देशों की कर पद्धतियों के सामान्य अंश बन गए हैं। किन्तु अन्य देशों में उनका क्षेत्र ब्रिटेन की अपेक्षा व्यापक और दरें उसकी अपेक्षा कम रहने की प्रवृत्ति है। किसी संघ राज्य में प्रादेशिक शासनों के लिए ये विशेष आकर्षक होते है क्योंकि इनमें ऊपर ऊपर की प्रशासकीय सरलता रहती है और राजस्व की दृष्टि से कमाऊ (productive) होते है। परन्तु व्यवहार में वे कोई अच्छी प्रकार के कर नहीं हैं। वे सीधे परिवार बजट पर पड़ते है और इनका क्षेत्र यदि सावधानी से नियन्त्रित न किया जाए तो इनका प्रभाव बहुत प्रतिगामी होता है। यदि उन्हें फुटकर-स्तर पर (बिक्री-कर के रूप में) लगाया जाए तो संग्रह पर बहुत खर्च आता है और अपवंचन (evasion) रोकना कठिन होता है। दूसरी ओर यदि उन्हें उत्पादन और वितरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं पर लागू किया जाए संपूर्ण उत्पादन अथवा संपूर्ण आय करों (gross turnover or gross income taxes) के रूप में तो निर्माण की हर अवस्था पर कर को पूरा करने के लिए कीमत बढ़ाए जाने से उपभोक्ता पर पड़ने वाला भार बहुत बढ़ जाता है। यदि क्षेत्र को सावधानी से चुना जाए और दर कम रखे जाएँ तो जो कुछ सैद्धान्तिक लाभ होने की आशा हो सकती है (जिनका परीक्षण हमें अध्याय ९ में करना होगा), उनकी तुलना में इन सब हानियों को रखना चाहिए। निष्कर्ष यह कि सामान्य काल में जब मुद्रास्फीति के दबाव को हटाने के लिए कर की आवश्यकता न हो तो इनका उपयोग बहुत सीमित होना चाहिए।

अब तक जितने करों का विचार किया गया है (एक गेहूँ आरोपण को छोड़ कर) वे सब बजट-कर हैं। किन्तु ब्रिटिश कर-व्यवस्था के दो और

---

१. जैसे, चित्र-कार्डों पर अधिकतम दर है।

महत्त्वपूर्ण घटक हैं जिनका परिचय आवश्यक है—स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा भवनों और भूमि (खेती की भूमि के अतिरिक्त) पर लगाए दर, और सामाजिक बीमा को अंशदान।[1] स्थानीय दर का राजकोषीय महत्त्व केन्द्रीय शासन के राजस्व की अपेक्षा बहुत देर से कम होता आ रहा है परन्तु अब भी वह बड़ा महत्त्वपूर्ण कर है। उसकी प्राप्ति (२१ करोड़ १० लाख पौंड १९३८ में और ४३ करोड़ ६० लाख १९५३ में) केवल एक आय कर से कम है। ६० प्रतिशत के लगभग राजस्व घरेलू सम्पत्ति से आता है और बाकी का अधिकांश दुकानों और कार्यालयों से, क्योंकि १९२९ के स्थानीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत कारखानों को उनके दायित्व के तीन चतुर्थांश से मुक्त कर दिया गया था।[2] बाद में एक स्थान पर हमें इस कर की ओर बहुत ध्यान देना पड़ेगा क्योंकि स्थानीय शासन वित्त का यह स्तम्भ है।[3]

सेवाओं के आरम्भ से ब्रिटेन में सामाजिक बीमा के लिए वित्त एक त्रिपक्षीय (tripartite) अंशदान के प्रबन्ध से आता रहा है—मालिकों से, उपकृत व्यक्तियों (beneficiaries) से और सामान्य राजस्व से। पहले प्रत्येक सेवा के लिए बनाई हुई पृथक् निधि में सारे अंशदान जमा हो जाते थे। सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के (राष्ट्रीय बीमा अधिनियम १८४६ के द्वारा) राष्ट्रव्यापी हो जाने पर उन निधियों को मिला कर एक बना दिया गया। उपकृतों के अंशदान में निस्सन्देह "बीमा" का एक शुद्ध तत्त्व है और इस कारण कुछ लोग यह भी प्रश्न उठाते हैं कि क्या उसे कर मानना भी चाहिए, किन्तु उस की अनिवार्यता के कारण उसे आर्थिक दृष्टि से कर ही गिना जाना आवश्यक है। इसलिए उपकृतों के अंशदान को प्रतिव्यक्ति कर कहना होगा अर्थात् एक

---

१. डाक घर की शुद्ध आय भी कई बार एक कर मान ली जाती है। प्रश्न यह है कि कहा तक उसे एक व्यापारी सेवा का सामान्य लाभ या एकाधिकार प्रभार (monopoly charge) समझा जाए। जैसा हमने देखा, चांसलर तो इसे कर ही समझते हैं।

२. उसी समय खेती की भूमि जिसको कुछ मात्रा में पहिले ही दर से छूट दी जा चुकी थी, बाकी दायित्व से भी पूर्णतया मुक्त हो गई।

३. देखिए अध्याय १५, सर्वत्र।

प्रति पुरुष के हिसाब से सामान्य आरोपण जिसके दर केवल लिंगानुसार (with sex) और कुछ सीमा तक आयु के अनुसार (with age) बदलते हैं। मालिकों का अंशदान साधनों पर लगे अन्य करों (जैसे उद्योग में खर्च आए पेट्रोल के कर) के साथ सम्बन्धित है।

•२. कर-रचना की अन्तर्राष्ट्रीय तुलना (International Comparisons of Tax Structure)—अन्य देशोंकी तुलना में ब्रिटिश कर-रचना कैसी है? इस प्रकार की तुलना बहुत सतर्कतापूर्वक की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, कर के दरों की तुलना बहुत बार भ्रामक होती है क्योंकि देश-देश में अपवंचन (evasion) की मात्रा और छूट की गुँजायश बहुत भिन्न होती है। प्रति व्यक्ति राजस्व की सीधी तुलना भी भ्रामक हो सकती है क्योंकि नाम के लिए एक जैसे कर आर्थिक व सामाजिक वातावरण के अन्तर के कारण वास्तव में बहुत भिन्न हो सकते है। उदाहरणार्थ कई कर आय कर कहलाते हैं जो कि ब्रिटिश आय कर की कल्पना से—जो एक बहुत क्रम-वर्धमान (progressive) आरोपण है और जिसका करदाता की स्थिति के साथ बड़ी बारीकी से समायोजन किया जाता है—बहुत भिन्न होत हैं; क्योंकि वास्तव में हर करदाता से एक सर्व समान अनुपात (flat proportion) में, राजस्व अधिकारियों द्वारा उसकी आय के एक स्थूल अनुमान के आधार पर करदाता के विषय में व्यक्तिगत विचार तक न करते हुए ले लिये जाते है! फिर कुछ करों को "सामान्य सम्पत्ति कर" नाम दिया जाता है जो कि किसी अर्थ में भी ब्रिटिश मृत्यु करों की तरह सम्पूर्ण सम्पत्ति या पूँजी के कर नहीं होते, बल्कि केवल भूमि और भवनों पर ही लगे होते हैं और इस प्रकार ब्रिटिश स्थानीय दर मे अधिक मिलते हैं।[1]

सब से रोचक तुलना इस बार भी संयुक्त राज्य अमरीका के साथ है—समानताओं के लिए भी असमानताओं के लिए भी। बजट की पद्धति की तरह साँझे उद्गम (origin) से निकल कर दोनों देशों का विकास प्रायः समानान्तर ढंग से हुआ है किन्तु राजकोषीय नीति की दृष्टि से उनमें दो बड़े

---

१. उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य में स्थानीय सम्पत्ति कर।

अन्तर है। पहला यह कि संयुक्त राज्य अमरीका परम्परा से ही बड़ा संरक्षणात्मक देश है और दूसरा यह कि क्योंकि उसका संविधान एकात्मक (unitary) नहीं, संघात्मक (federal) है, इस कारण मुख्य (संघ) शासन और गौण (राज्य व स्थानीय) शासनों में साधनों का बँटवारा ब्रिटेन में जैसा हमने देखा है उससे काफ़ी भिन्न है।

परम्परा से ही सीमाशुल्क यर एकाधिकार संघ वित्त (federal finance) का मुख्य आधार रहा है। कांग्रेस की अर्थोपाय समिति अभी भी मुख्यतः प्रशुल्क (tariff) के समायोजन का यन्त्र ही समझी जाती है। केन्द्रीय आय कर सबसे पहले १९१३ में स्थायी रूप से स्थापित हुआ। तब से आय और लाभ पर केन्द्रीय करारोपण बहुत बढ़ा है और द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों के ब्रिटिश कर के दरों के प्रायः बराबर ही हो गया है। संयुक्त राज्य अमरीका में हाल में हुए आय करों के विस्तार के कारण और ब्रिटेन में संरक्षण के फिर से अपनाए जाने के कारण दोनों देशों में कर-व्यवस्था पहले से अब अधिक समान हो गई है।

तालिका २ में १९३८ और १९५३ में दोनों देशों के कुल कर-राजस्व के विभिन्न स्रोतों में बँटवारे की तुलना की गई है। संयुक्त राज्य अमरीका परम्परा से एक अल्प कर वाला देश रहा है परन्तु पिछले वर्षों में उसकी राजस्व सम्बन्धी आवश्यकताएँ तेज़ी से बढ़ती गई हैं। १९५३ में सकल राष्ट्रीय उत्पादन के २५ प्रतिशत होने पर भी कर-राजस्व ब्रिटिश स्तर से काफी नीचा था परन्तु उसका धीरे-धीरे पूरा रूप बदल रहा था। अमरीका में कराधान का स्तर कम होने का कारण यही है कि वहाँ सामाजिक सेवाएँ अभी तक ब्रिटेन की अपेक्षा कम विकसित है। किन्तु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् से उनमें तीव्र गति से विस्तार हुआ है और आगे भी निस्सन्देह जारी रहेगा।

तालिका २. विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कुल कर राजस्व का प्रतिशत । १९३८ तथा १९५३

	संयुक्त राज्य अमरीका		ब्रिटेन	
	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३
	%	%	%	%
सीमा शुल्क तथा उत्पादन शुल्क, बिक्री (मोटर ईंधन निकाल कर)	२१	१४	२४	२९
वैयक्तिक आय कर	१०	३६	३२	२३
लाभ कर	१२	२४	७	१९
उपहार तथा उत्तराधिकार (पूंजी कर)	४	१	६	३
मोटरों पर (ईंधन तथा लाइसेंस)	१०	४	७	७
सामाजिक बीमा	१०	६	५	१०
सम्पत्ति (दर)	३२	१०	१७	८
अन्य	१	५	२	१
	१००	१००	१००	१००

दोनों देशों में राजस्व की स्थिति की तुलना करते हुए, दो सब से असामान्य परिवर्त्तन जो दोनों ओर दीखते हैं, ये हैं—एक ओर वैयक्तिक आयों की अपेक्षा लाभों के करारोपण में वृद्धि, और दूसरी ओर स्थानीय दर के तथा उसी प्रकार अमरीकी कर (लगभग पूर्णतया स्थानीय) सम्पत्ति-कर के महत्त्व में कमी, जिनके राजस्व का अधिकाँश भूमि और भवनों से प्राप्त होता है। इन दोनों में से पहला परिवर्त्तन तो एक तरह से युद्ध का अवशेष है जब दोनों देशों में अतिरिक्त लाभ करों के द्वारा लाभ का करारोपण बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँच गया था। कोरियाई युद्ध के कारण लाभ के करों की वैसे ही पड़े रहने की आवश्यकता थी और आर्थिक गतिविधि का जो ऊँचा स्तर चल रहा था उसके कारण बहुत गम्भीर आर्थिक दुष्परिणामों के बगैर यह होना सम्भव भी था। भूमि और भवनों पर स्थानीय कर की कमी दोनों देशों में मुद्रा-

स्फीति के काल में अन्य कीमतों की अपेक्षा भूमि के मूल्यों की क्रम बदलने की वृत्ति से सम्बन्धित है जिसके कारण मूल्यांकन वास्तविक मूल्यों के हिसाब से रहना कठिन होता है। ब्रिटेन में यह कठिनाई किराया-नियन्त्रण के बने रहने के कारण और भी अधिक हो गई है क्योंकि कोई भी प्रशासन अभी तक मूल्यांकन की ऐसी पद्धति नहीं बना पाया जो युद्ध-पूर्व के किरायों का युद्धोत्तर मूल्यों के साथ मेल बिठा सके।

दोनों देशों में हुए परिवर्त्तनों की तुलना की जाए तो दिखाई देता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में सब से बड़ी व अत्यन्त रोचक चीज हुई है आय तथा लाभ करों के महत्त्व में असाधारण वृद्धि। दूसरी ओर, ब्रिटेन में ये कर युद्ध काल में तो सब से अधिक महत्त्व वाले रहे परन्तु उसके बाद व्यय के करों की अपेक्षा इनका महत्त्व कम हो गया। दोनों देशों की ये प्रवृत्तियाँ निकटतम भूतकाल के वर्षों में रही हैं, १९५० के आँकड़ों में भी वे दिखाई देती हैं परन्तु कम उग्रता से। संयुक्त राज्य अमरीका में व्यय पर अब अपेक्षतया कम कराधान होने के मूल में एक कारण यह है कि कुछ बहुत ऊँचे दर होने के बाद भी अमरीका में प्रशुल्क से कोई बहुत राजस्व प्राप्त नहीं होता क्योंकि आयात का हुई वस्तुओं की मात्रा और उनके प्रकार दोनों बहुत सीमित हैं—विशेषतया तैयार वस्तुओं के। एक और सुसंगत अन्तर है ब्रिटेन में तम्बाकू का अत्यन्त भारी करारोपण, यदि अमरीका वाले धूम्रपान पर ब्रिटेन के समान भारी कर लगाना चाहें भी तो उनके मार्ग में कई भारी प्रावैधिक कठिनाइयाँ आएँगी क्योंकि वहाँ घर घर में होने वाली तम्बाकू की खेती का महत्त्व बहुत है।

तालिका ३ में शासन के भिन्न-भिन्न स्तरों के स्रोतों में आए परिवर्त्तनों और प्रत्येक स्रोत में केन्द्र के अंश में आए परिवर्त्तन की कुछ अधिक संक्षेप में तुलना की गई है। ब्रिटेन में तो इस दृष्टि से कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है। संयुक्त राज्य के संघ शासन के भाग की अन्यों की तुलना में जो वृद्धि हुई है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अब फिर उसी दिशा में प्रगति जारी है। १९५० में संघ शासन का भाग ७० प्रतिशत नहीं हुआ था। स्पष्ट है कि यह मुख्यतया

तालिका ३. शासन के विभिन्न स्तरों के सापेक्ष कर स्रोत, संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन, १९३८, १९५३

कर	संयुक्त राज्य अमरीका								ब्रिटेन			
	संघ-शासन के राजस्व का%		कर-राजस्व का स्रोतों में% वितरण						कर राजस्व का स्रोतों में % वितरण			
			संघ शासन		राज्य		नगर व स्थानीय		केन्द्रीय		स्थानीय	
	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३
सीमा-शुल्क, उत्पादन-शुल्क, बिक्रीः मद्य तथा तम्बाकू	७७	७०	१८	४	७	५	·७	उपेक्षणीय	२२	२२	—	—
अन्य	२१	२०	१०	८	१९	२२	६·०	६	१०	१०	—	—
मोटरिंग (motoring) (ईंधन तथा लाइसैंस)	१९	२३	५	२	३१	२८	·६	उपेक्षणीय	९	७	—	—
वैयक्तिक आय, लाभ, उपहार, दायभाग	८०	९६	५३	७७	१८	१७	—	उपेक्षणीय	४९	४८	—	—
भूमि, भवन तथा सम्पत्ति	—	—	—	—	६	३	८२	८९	—	—	१००	१००
सामाजिक बीमा	५१	७७	१२	७	१८	११	—	—	१०	१२	—	—
अन्य	३१	४२	२	२	१	१५	·७	६	उपेक्षणीय	१	—	—
योग	४६	७६	१००	१००	१००	१००	१००	१००	१००	१००	१००	१००

आय व लाभ करों के बढ़ने से ही हुआ है, और यहाँ भी प्रवृत्ति बिना बाधा के चल रही है। यह भी अर्थपूर्ण है कि जैसे-जैसे सामाजिक व्यय बढ़ रहा है, सामाजिक सुरक्षा अंशदानों के द्वारा राजस्व में संघ-भाग भी बढ़ रहा है। कुछ उल्लेखनीय अपवाद छोड़ कर इस क्षेत्र में संघ शासन, परम्परा से ही राज्यों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील रहा है।

राज्य-राजस्व के स्रोतों का विचार करते हुए यह दिखाई देगा कि युद्ध-पूर्व के समान अब भी तीन बड़े स्रोत हैं उत्पादन शुल्क (व्यवहार में बिक्री कर), मोटरों के कर और और आय तथा लाभ कर। इनमें से आय तथा लाभ कर युद्ध के दिनों में कुछ पीछे हटे क्योंकि एक ओर जितना व्यय राज्य कर सकते थे उसकी दृष्टि से उनके कोषागार पर्याप्त साधन-सम्पन्न थे; दूसरी ओर संघ राज्य के आय व लाभ कर (जो राज्यों के हिसाब के लिए व्यय माने जाते हैं) इतने भारी थे कि राज्यों के आय-करों की प्राप्ति बहुत कम और अनिश्चित थी। इस कारण युद्ध के दिनों में सांझे कर-स्रोतों के शासन के विभिन्न स्तरों द्वारा स्पर्द्धापूर्ण उपयोग में—जो संघात्मक शासन में सदा एक कठिन समस्या रहती है—कुछ कमी आ गई।

पिछले कुछ वर्षो में स्थिति बिलकुल पलट गई है और गति की दिशा भी पहले से विपरीत हो गई प्रतीत होती है। एक तरफ सम्पत्ति कर के राजस्व में कमी से और दूसरी तरफ सामाजिक सेवाओं के, विशेषतया शिक्षा के बढ़ते हुए खर्चों से दब जाने के कारण कुछ राज्यों में नगरों को भी स्थानीय आय-कर आरोपित करने का अधिकार दे दिया गया है। दूसरे राज्यों में भी ऐसे अधिकार पाने के लिए संघ-संविधानों के द्वार खटखटाए जाने लगे हैं। परन्तु जो वर्त्तमान स्थिति है इसमें स्थानीय आय-स्रोतों के युद्धपूर्व की तुलना में आज के वितरण में मामूली परिवर्त्तन ही आए हैं। सब से रोचक बात है "विविध स्रोतों" (miscellaneous sources) का विस्तार जिसमें गाड़ियों को खड़ा रखने के मीटर, लाइसैंस व अन्य छोटे-छोटे कर आते हैं जिन से प्रकट है कि आज अमरीका के कई नगर अपने आप को कितनी आर्थिक तंगी में पाते हैं।

परन्तु सामान्यतः दोनों देशों में महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है सार्वजनिक क्षेत्र की वृद्धि, जो सकल राष्ट्रीय उत्पादन की अपेक्षा कर राजस्व के बढ़ने और साथ ही केन्द्रीय शासन के हाथ में प्रभाव के एकत्रीकरण में दिखाई देती है। आर्थिक स्थायित्व की राष्ट्रीय नीति की सफलता के लिए इस बात का कितना महत्त्व है यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

स्थूल रूप में ब्रिटेन और संयुक्त राज्य से मिलती जुलती कर व्यवस्थाएं अब अधिकाँश औद्योगिक (industrial) व उन्नतिशील (advanced) देशों में बन गई हैं। पर्याप्त उत्तरोत्तर वृद्धि वाले आय कर प्रायः सर्वत्र दिखाई देते हैं चाहे उनमें से अधिकतर १९१४-१८ के काल से ही प्रारम्भ हुए हैं।[१] तम्बाकू और मद्य करारोपण पर बहुत निर्भरता भी अब व्यापक हो गई है चाहे कहीं भी ब्रिटेन के समान इन दोनों स्रोतों का उपयोग नहीं किया जा रहा। ब्रिटेन मोटरों के करों का भी और जैसा हम ने देखा है, दाय-करों (inheritance taxes) का भी दूसरे देशों से अधिक उपयोग करता है। अधिक पिछड़े हुए देशों को सीमा-शुल्कों का बहुत सहारा लेना पड़ता है, चाहे इन दिनों में उनमें से कइयों ने आय करों के प्रयोग भी किए हैं। ऐसे देशों को आपातिक स्थिति में सदा घाटा रहता है क्योंकि उनके राजस्व में, मुख्यतः आय करों से प्राप्त राजस्व की अपेक्षा बहुत कम लचीलापन होता है। अन्त में, स्थानीय आवश्यकताओं के लिए भूमि और भवनों का कर भी बहुत सामान्य है। चाहे यह बहुत देर का और कुछ प्राचीन प्रकार का कर है, इसमें शुद्ध स्थानीय उपयोग की दृष्टि में कुछ सुविधाएँ हैं जिन्हें हम बाद में देखेंगे।[२]

३. राजस्व के अन्य स्रोत (Other Sources of Revenue)—सामान्य काल में चालू आवश्यकताओं के लिए सार्वजनिक राजस्व का एकमेव अन्य स्रोत रहा है सार्वजनिक सम्पत्ति से आय—जिसमें व्यापारी सेवाएँ भी सम्मिलित हैं,

---

१. युद्ध के पश्चात् राष्ट्र संघ के संगठनों—ई० सी० ई०, ई० सी० एल० ए०, और ई० सी० ए० एफ० ई० ने कुछ उपयोगी तुलनात्मक आंकड़े करों के सम्बन्ध में प्रकाशित किए हैं।

२. देखिए अध्याय १५, अनुभाग ५।

तया ऋण और नियोजन पर ब्याज। ब्रिटेन में इस स्रोत से प्राप्ति बहुत सीमित रही है; पहले तो इस कारण कि सार्वजनिक सम्पत्ति ही कम थी, बाद में समाजीकृत उद्योगों (socialized industries) के लिए मूल्य व उत्पादन सम्बन्धी नीति के कारण। १९३८ में राष्ट्रीय शासन को अपनी सम्पत्ति से केवल १७० लाख पौण्ड आय थी, १९५३ में यह बढ़कर १८८० लाख हो गई थी परन्तु उसमें से ७० प्रतिशत से अधिक पहले के ऋणों पर (जिसमें से कई अन्य देशों के प्राधिकारियों को दिए गए थे) ब्याज के रूप में थी। १९३८ में स्थानीय प्राधिकारियों की सम्पत्ति से प्राप्त आय २९० लाख पौण्ड थी जिसमें से १६० लाख पौण्ड आरक्षितों (reserves) व पेन्शन निधियों (pension funds) के नियोजन पर प्राप्त ब्याज और नगरपालिका-संपदाओं के किरायों के रूप में था। अर्थात् व्यापारी सेवाओं के लाभ की मात्रा तो वास्तव में बहुत थोड़ी थी। १९५३ में मुख्य स्थानीय व्यापारी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण हो चुकने के कारण शुद्ध[1] आय इस से भी निश्चित कम रही होगी।

कुछ अन्य देशों (विशेषकर स्वीडन) की तुलना में ब्रिटेन में व्यापारी लाभ का, राजस्व के स्रोत के रूप में, बहुत थोड़ा उपयोग होता है। यह अधिकांश में भिन्न प्रकार के उद्योगों के समाजीकरण के कारण ही है।

जिन उद्योगों की एकाधिपत्य की ओर नैसर्गिक प्रवृत्ति है जैसे इंधन, शक्ति और परिवहन, उनमें उपभोक्ताओं से एकाधिकार लाभ कमाने में सरकार को एक स्वाभाविक झिझक रही है। वास्तव में इस प्रकार के 'शोषण' को रोकने की इच्छा राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी निश्चय में एक महत्त्व का हेतु रहा है।

१९३८ में केन्द्रीय शासन द्वारा ऋण सार्वजनिक वित्त का तीसरा स्रोत था किन्तु यह केवल युद्ध के अतिनिकट होने के भय के कारण ही था। युद्ध के समान आपातिक अवस्थाओं को छोड़ कर ब्रिटिश शासी निकायों का सार्वजनिक उधार दीर्घकालीन नियोजन की आवश्यकताओं तक ही सीमित रहा है। गम्भीर आपातिक स्थिति के उपस्थित होने पर केन्द्रीय शासन सदा मुक्तभाव से ऋण लेते रहे हैं; ऐसा करने का उन्हें अधिकार भी है और जब कभी

१. National Income and Expenditure में पृथक् उल्लेख नहीं है।

सार्वजनिक व्यय की आवश्यकता उस मर्यादा से बढ़ जाए जहाँ तक नागरिकों की आय में से अपेक्षा रखना उचित है। और वे बिना डर के ऋण ले सकते हैं क्योंकि उनकी करारोपण-शक्ति असीम है जिससे, (जबतक क्रान्ति हो जाने का भय न हो) ऋण को चुकाने के साधन सदा उपलब्ध हो सकते हैं, तथा अन्त में यदि राष्ट्र के दिवाले का संकट उपस्थित हो जाए तो उसे मुद्रा का अवमूल्यन कर के टाला जा सकता है। गौण शासनों [स्थानीय प्राधिकारियों अथवा संघ राज्य में संघटक (constituent) राज्यों] के लिए स्थिति काफ़ी भिन्न होती है। उनका चालू आवश्यकताओं के लिए मुक्त भाव से उधार लेना चाहे वे कितनी भी ज़रूरी क्यों न हों, उन्हें दिवाला निकलने के खतरे में डाल सकता है और वह स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होनी देनी चाहिए।

दीर्घकालीन नियोजन के लिए ऋण लेने के लाभ प्रायः भूतकाल में भी स्वीकार किए जाते रहे हैं। चालू व्यय में से ही मूल्य चुकाना पड़े तो उपकरणों का लाभ जब समाज उठा पाएगा, उससे बहुत पहले ऋण-वित्त की सहायता से उठा सकता है। ब्रिटिश स्थानीय प्राधिकारियों ने पूर्वकाल के नियोजन से हुए अतिरिक्त लाभ की ओर ध्यान देने की बजाय ऋण ब्याज के अतिरिक्त व्यय की अधिक चिन्ता करने के कारण, कई बार इस लाभ का उपयोग जितना कर सकते थे उतना नहीं किया। यह ऐसा प्रश्न है जिसकी हमें बाद में चर्चा करनी होगी। भूतकाल में सार्वजनिक उधार बोर्ड (Public Works Loan Board)[1] की कार्रवाइयों को छोड़कर जो वास्तव में स्थानीय नियोजन के लिए वित्त का प्रबन्ध करने में लगा है, ब्रिटिश शासन के द्वारा नियोजन के उद्देश्य से लिया गया ऋण केवल डाक सेवाओं तक ही सीमित रहा है।

ब्रिटिश शासन की भूतकाल की संयत ऋण-नीति प्रायः समझदारी की ही रही है। जो केन्द्रीय शासन अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके सामान्य काल में आकस्मिक (casual) बजट न्यूनताएँ (budget deficits) उत्पन्न होने देता

१. देखिए अध्याय १५, अनुभाग ५,

है वह व्यय के प्रावैधिक नियन्त्रण को बहुत शिथिल करने का खतरा मोल लेता है और नागरिक सेवा में सब प्रकार के दोषों के लिए द्वार खोल देता है। साथ ही यदि शासन मुद्रा-सम्बन्धी अवस्था को संभालने में भी असमर्थ रहता है तो यह डर रहता है कि कहीं वह ऋण-ब्याज का इतना बोझा न जमा कर ले जो बजट के लिए सदा परेशानी बनाए रखे, और इस प्रकार ऐसी दुर्गम स्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमें मुद्रा का बार बार अवमूल्यन करना पड़े। नपोलियन के युद्धों के पश्चात् फ्रांस का राजकोषीय इतिहास इस बढ़ते रोग के दोषों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता है।

वर्त्तमान अवस्था में परिस्थिति काफी भिन्न है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि न्यून काम (underemployment) के दिनों में राष्ट्रीय आय को थामे रखने के लिए सबसे अधिक प्रभावी उपाय है शासन जितना धन के द्वारा करों से ले उससे अधिक व्यय करे—इस प्रकार प्रभावपूर्ण ढंग से ऋण लेना; और पूर्ण रोजगार व मुद्रास्फीति के दबाव के काल में व्यय से अधिक करसंग्रह करना। राष्ट्रीय आय लेखा पद्धति की नई प्रविधि में शासन की बजट के घाटों अथवा बचतों के द्वारा संचालित संपूरक वित्त (compensatory finance) नीति एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र बन गया है। राष्ट्रीय संतुलन के लिए उचित मात्रा में उधार लेना उपयुक्त नीति है और इससे डरने का कोई कारण नहीं। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका हमें भाग ३ में विस्तार से विचार करना होगा।

अध्याय ६

सार्वजनिक क्षेत्र का संतुलन-पत्र

(The Balance Sheet of the Public Sector)

१. बजट लेखा और उसका महत्त्व (The Budget Accounts and Their Significance)—राज्य एक ओर किस प्रकार विभिन्न सेवाओं पर अपने साधनों (resources) को बाँटता है और दूसरी ओर किस प्रकार आवश्यक धन का प्रबन्ध करता है यह देख लेने के बाद, हमारा अगला काम है लेखा के दोनों पक्षों का सम्पूर्ण बजट के रूप में विचार करना। "बजट" जैसा हमने देखा है, बजट रात्रि को 'चांसलर ऑफ़ दि एक्सचेकर' (Chancellor of the Exchequer) के द्वारा प्रस्तुत, केन्द्रीय शासन की कार्रवाइयों का वृत्त होता है। वह निस्सन्देह अर्थ-व्यवस्था के सार्वजनिक क्षेत्र का कोई सम्पूर्ण विवरण नहीं होता। अन्तर्युद्ध काल में सार्वजनिक प्राधिकारियों के चालू खाते के कुल व्यय का लगभग दो-तिहाई भाग इसमें आता था। किन्तु १९५३ तक वह बढ़कर लगभग चार-पंचमांश तक हो गया। बजट का सम्बन्ध मूलतः चालू खाते में व्यय और उसके लिए आवश्यक राजस्व—इनसे ही होता है। किन्तु कुछ पूँजी मदें (capital items) "वित्तीय विवरण" (financial statement) की एक संलग्न तालिका में दी जाती हैं, जिसे पृथक् "रेखा के नीचे" (below the line) रखा जाता है।

पूरे सार्वजनिक क्षेत्र के लेखे का विचार करने के लिए हमें दो अन्य बजट समूहों को भी सम्मिलित करना होगा—एक ओर तो सामाजिक बीमा व्यवस्था के और दूसरी ओर स्थानीय प्राधिकारियों के। दूसरे कुल मिलाकर

लगभग १३०० हैं परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में इंगलैंड व वेल्ज में ८३ 'काउंटी बॉरोज़' (county boroughs) और ६१ वैधानिक काउंटीज (statutory counties) और स्काटलैण्ड तथा उत्तरी आयरलैण्ड में उनके समान निकायों का विचार कर लिया जाए तो पर्याप्त हो जाता है क्योंकि छोटे 'काउंटी' प्राधिकारियों की कार्रवाइयों के अधिकांश भाग का 'काउंटी' परिषदें ही वास्तविक नियन्त्रण करती हैं।

इस प्रकार सरल करने के प्रयत्न के बाद भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र के लेखों को जोड़ना एक जटिल कार्य है। कुछ वर्ष पूर्व तो ऐसा बड़े स्थूल रूप में ही किया जा सकता था और वह भी जिस काल से सम्बन्धित लेखा होता था उसके लगभग दो वर्ष पश्चात्। इतने विलम्ब से होने के बाद नीति के निर्धारण के लिए उसका कोई उपयोग होने का प्रश्न ही नहीं हो सकता था। राष्ट्रीय आय व व्यय के प्राक्कलनों (जिनमें से पहला पाठकों को स्मरण होगा कि १९४१ के बजट के साथ प्रस्तुत किया गया था) की माला के प्रारम्भ हो जाने से स्थिति काफ़ी सुधर गई है। अब हमारे पास न केवल सार्वजनिक क्षेत्र का अधिक अच्छा लेखा होता है बल्कि सारी अर्थ-व्यवस्था का एक विवरण भी (जिसका जैसा हम आगे देखेंगे, नीति के निर्देशन के लिए बहुत महत्त्व है)। किन्तु स्थानीय प्राधिकारियों की गतिविधियों का ब्योरा उपलब्ध होने में अब भी कई वर्ष लग जाते हैं।

चांसलर का बजट केवल बीत चुके वर्ष के लेखा और आरम्भ हो रहे वर्ष के प्राक्कलनों तक ही सीमित होता है, चाहे वित्तीय विवरण में गत कुछ वर्षों के अन्दर कुल एकत्र हुए राजस्व और कुल व्यय की सूची भी दी होती है। स्थानीय प्राधिकारियों का सामान्य लेखा किसी एक पद्धति के अनुसार नहीं रखा जाता (जिसका अर्थ यह भी होता है कि जो प्रविवरण (returns) वे केन्द्रीय शासन को भेजते हैं वे बिलकुल समान नहीं होते)। स्थानीय प्राक्कलनों की जाँच का कोई अवसर नहीं होता सिवा उसे प्रसिद्धि के जो परिषदें स्थानीय पत्रों में देने का निर्णय कर लें।

केन्द्रीय शासन के स्थानीय प्राधिकारियों के इरादों से पूरी तरह अनभिज्ञ

होने का परम्परागत कारण यही है कि उनकी व्यय-योजनाएँ काफ़ी सीमा तक उनका निजी मामला होती हैं। और स्थानीय दर के रूप में उनके पास राजस्व का एक स्वतन्त्र स्रोत है जिसे वे कुछ हद तक अपनी पसन्द के अनुसार बरत सकते हैं। परन्तु केन्द्रीय शासन के बजट को स्थानीय प्राधिकारियों के बजटों से जोड़ने वाली चीज़ है राजकोष अनुदान जिनसे उनके व्यय का पर्याप्त भाग पूरा होता है। इसी प्रकार के सम्बन्ध में केन्द्रीय शासन का बजट राष्ट्रीय बीमा निधि के बजट से जुड़ा होता है अर्थात् निधि के प्रति राजकोष के अंशदान (contribution) से।

सार्वजनिक लेखा को ठीक प्रकार देखने के लिए चांसलर के बजट से शुरू करना सुविधाजनक होगा। उसके बाद (राष्ट्रीय आय प्राक्कलनों की सहायता से) हम सम्पूर्ण सार्वजनिक पक्ष के "सन्तुलन-पत्र" को ले सकते हैं। और अन्त में, फिर प्राक्कलनों की सहायता से, हम लेखा को बढ़ाकर सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था तक व्यापक बना सकते हैं। इस प्रकार हम सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों का सापेक्ष महत्त्व देख सकेंगे। इस तुलना का नीति के निर्देशन के लिए महत्त्व स्पष्ट है।

बजट कला दो तरफ़ दृष्टि रखकर होने वाला कार्य है। भविष्य की योजनाओं को भूतकाल के अनुभव के आधार पर ही खड़ा करना होता है। इसके लिए व्यवस्था इस प्रकार है कि बजट भाषण को परम्परा से ही तीन भागों में बाँटा जाता है। पहले में समाप्त होने वाले वर्ष का आय-व्यय लेखा होता है। दूसरे में यह कि कर के वर्त्तमान दर प्रारम्भ होने वाले वर्ष के प्राक्कलनों के लिए (जो कुछ महीनों से संसद् के सामने पहले ही आए हुए होते हैं) कहाँ तक पर्याप्त अथवा अधिक रहेंगे। और अन्तिम में करों में प्रस्तावित समायोजन होते हैं जिनके द्वारा वर्ष के अन्त में वांछित सन्तुलन प्राप्त किया जाने वाला है।

केन्द्रीय शासन का लेखा प्रस्तुत करने की पद्धति का सब से स्पष्ट दर्शन वित्तीय विवरण के अन्त में लगे हुए बजट प्राक्कलन को देखने से होता है। १९३८ और १९५३ के राजस्व और व्यय का परीक्षण हम कर चुके हैं,

तालिका ४, १९३८-३९ तथा १९५३-५४ के वित्त-वर्षों के लिए बजट-प्राक्कलन

(निकटतम १० लाख पौंड तक)

प्राक्कलित राजस्व				
अन्तर्देशीय राजस्व (Inland Revenue)	१९३८		१९५३	
आयकर	३४१		१७८२	
उपरि कर (surtax)	६२		१२७	
मृत्यु कर	८८		१६०	
स्टैम्प्स (stamps)	२४		५२	
लाभ कर आदि[1]	१		३१५	
		५३७		२४३६
सीमा-शुल्क तथा उत्पादन-शुल्क				
सीमा-शुल्क	२२८		१,०४४	
उत्पादन-शुल्क	११६		६८०	
		३४४		१,७२५
मोटर गाड़ियाँ		६२		६९
कुल कर		९१७		४,२३०
डाक घर		११		२
राजकीय भूमि (crown lands)		१		—
प्रकीर्ण ऋण[2] (sundry loans)		१५		२५
विविध[6]		११		१११

प्राक्कलित व्यय				
	१९३८		१९५३	
राष्ट्रीय ऋण	२३०		६१५	
उत्तरी आयरलैण्ड को भुगतान	९		४८	
विविध एकीकृत निधि (Misc. Cons. Fund)	३		.१०	
		२४२		६७३
पूर्त्ति सेवाएँ				
प्रतिरक्षा				
सेना	८६		५२६	
जल सेना	९४		३३०	
वायु सेना	७३		४९८	
विभागीय[3]	—		१४३	
अन्य	—		१३९	
		२५३		१,६३६
नागरिक 'वोट्स'				
प्रशासन	५३१		२८२	
सामाजिक सेवाएं	३३२		१,४६२	
आर्थिक[4]	४१		१७२	

			कर-संग्रह का व्यय	१४	४४
			अनुपूरकों (Supplementaries) के लिए मात्रा	१०	—
			कुल पूर्त्ति	४५०	१,९६०
			कुल व्यय	९४५	४,२६९
			प्राक्कलित बचत[5]		९९
कुल राजस्व	९४५	४,३६८		९४५	४,३६८

नोट—लेखा की व्यवस्था को अधिक कार्यात्मक बनाने के लिए वित्तीय विवरण के ढंग से कुछ बदल दिया गया है।

१. एस० डी० सी०, "लाभ कर," १९४८ के अतिरिक्त लाभ आरोपण का १९५२ में विशेष अंशदान, और समाप्त हो चुका अतिरिक्त लाभ कर।

२. ब्याज और पूँजी प्रत्यादान।

३. पूर्त्ति (प्रतिरक्षा) मन्त्रालय और प्रतिरक्षा मन्त्रालय।

४. सड़कों का केन्द्र का अंश मिलाकर।

५. वास्तव में, १९३८ में साढ़े ३ लाख पौंड, बजट के बाहिर के प्रतिरक्षा ऋण छोड़ कर।

६. ब्राडकास्टिंग रिसीविंग (Broadcasting Receiving) के लाइसेंस मिला कर।

इन्हीं दो वर्षों के अप्रैल मास में संसद् के सामने प्रस्तुत की गई योजनाओं को देखना रोचक होगा। क्योंकि लेखा में व्यय और राजस्व के आमने-सामने रखे हुए प्राक्कलनों का संक्षेप मात्र ही होता है इसलिए पृथक मदों पर विस्तृत टिप्पण की आवश्यकता नहीं है। (देखिए तालिका ४)

जैसा हम देख चुके हैं, १९३८ का वर्ष १९१३ की तरह सांख्यिकीय आधार वर्ष के रूप में माना गया था और बाद में आने वाले उतार चढ़ाव उससे मापे जाते रहे। दुर्भाग्य से, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के कारण वह कोई बहुत सामान्य वर्ष नहीं था, और यह बात इससे प्रकट है कि ९ करोड़ पौंड का प्रबन्ध किया गया जिसे ऋण से प्राप्त करने का अनुमान था और १ करोड़ पौंड अनपेक्षित संभावनाओं के लिए सुरक्षित रखा गया। १९५३ जैसा कोई अधिक सामान्य वर्ष होता तो उसके बजट में ऋण का कोई उल्लेख न रहता, और संभाव्यताओं (contingencies) के लिए कोई स्थान न रखा गया होता क्योंकि चांसलरों से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वर्ष[1] के प्रारम्भ में सब सम्भावनाओं के लिए ठीक-ठीक व्यवस्था करें ताकि लेखा के ऊपर कोषागार का नियन्त्रण यथासम्भव पूर्ण रहे।

हुआ यह कि १९३८ में करों का संग्रह प्राक्कलन से १६० लाख पौंड कम रह गया, किन्तु क्योंकि प्रतिरक्षा व्यय उस गति से नहीं बढ़ा जिसकी कल्पना की गई थी इसलिए कुल व्यय प्राक्कलन से १२ करोड़ ३० लाख पौंड कम रहा, अर्थात् अन्त में बचत ही रही। उस कठिन वर्ष में जो कई पहले न सोचे जा सकने वाले (unpredictable) कारक थे उनको देखते हुए यह बजट क्रिया असन्तोषजनक नहीं मानी जानी चाहिए। १९५३ में राजस्व की प्राप्ति बिलकुल प्राक्कलन के अनुसार ही हुई किन्तु करों का संग्रह प्राक्कलन से ५३० लाख पौंड कम था और यह कमी "विविध" की मद बढ़ जाने से पूरी हुई थी। दूसरी ओर, कुल व्यय प्राक्कलन से १५० लाख पौंड अधिक था जिससे बचत योजना की अपेक्षा कुछ कम रही। किन्तु प्राक्कलन से जो अन्तर

१. वास्तव में, १९५३ में मुद्रा-स्फीति के प्रभाव को कम करने के लिए पर्याप्त बचत वाला बजट बनाया गया था।

रहा वह जितने बड़े-बड़े आंकड़े बजट के थे उनकी दृष्टि से कम ही कहना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि लेखा की यह व्यवस्था आर्थिक वास्तविकताओं से विशेष संबंधित नहीं है, यह तो एक ऐतिहासिक अवशेष है। बजट की परम्परागत व्यवस्था से (जैसा हम आगे देखेंगे) यह किसी प्रकार भी नहीं जाना जा सकता कि वास्तव में घाटा है या बचत। सामान्य काल में राजस्व और व्यय के ब्रिटिश प्राक्कलन कुछ सौ पौंड तक ठीक आते रहे है। यह तथ्य वित्तीय प्रशासन की दक्षता को विशेष रूप से प्रकट करता है, इस प्रविधि के परिमार्जन में जो कई शताब्दियाँ लग गई हैं उनका स्मरण करके और अन्य देशों को इतनी कुशलता पाने के लिए भी जो कठिनाइयाँ आ रही हैं उन्हें देख कर ही इस ऋणता[1] का भी महत्त्व समझा जा सकता है।

बजट-क्रिया जिस अर्थ में देर से इंगलैंड में समझी जाती है अधिकाँश देशों में अपेक्षाकृत थोड़े समय से आई नवीनता (innovation) ही हैं। १९१४-१८ के युद्ध का धुआँ हटते-हटते अधिकांश देशों के शासन किसी न किसी रूप में कराधान व सार्वजनिक व्यय का कोई वार्षिक वृत्त प्रस्तुत करने लग गए थे। परन्तु बहुतों में वह अधूरा सा ही होता था। संयुक्त राज्य में वित्तीय नियन्त्रण की पद्धति में बहुत बड़े-बड़े सुधार पिछले दिनों के में होने के बाद भी जैसा हमने देखा है,[2] अभी तक एक समेकित वित्त-विधेयक (consolidated finance bill) पेश करने की प्रथा नहीं है। राजस्व तभी उपलब्ध होता है जब कांग्रेस एक-एक कर के आवश्यक करों के लिए अपनी स्वीकृति देती है। इस ढंग में वित्तीय प्रशासन अनिवार्य रूप से कमजोर होता है। यह भी सम्भव होता है कि जब करों से ही पर्याप्त राजस्व उपलब्ध होना चाहिए तब भी बहुत सा अल्पकालीन ऋण लेना पड़े।

इससे भी बड़ी एक कमजोरी यह है (और यह भी विरली नहीं है) कि

---

१. यह दावा किया गया है कि "इंगलैंड में एक आश्चर्यजनक सीमा तक पूर्व काल में सुसंगठित वित्त व्यवस्था के चिन्ह मिलते हैं"—उदाहरणार्थ नवीं शताब्दी में राजा एल्फ्रेड के शासन में। देखिए, एफ० एम० स्टैटन, ऍग्लो सैक्सन इंगलैंड।

२. देखिए, अध्याय ४।

जो चालू व्यय स्वीकार किया जा चुका है उसके लिए आवश्यक कर-राजस्व (कर-अपवंचन के कारण) एकत्र न हो पाए अथवा (शासन की दुर्बलता के कारण) सम्भवतया उसकी योजना भी न बन पाए। ऐसी कठिनाई में फँसे शासन प्रायः बाकी रहा हुआ सारा व्यय—चाहे वह किसी प्रकार का हो— "असाधारण" अथवा "कैपिटल" "बजट के रूप में इकट्ठा बांध डालते हैं, जिसका प्रबन्ध कम से कम दृश्य भविष्य में तो बहुत कर के केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर ही करना पड़ता रहा है। यदि इस प्रकार "दोहरा बजट" चलने लग जाए तो भय यह है कि वित्तीय संस्थाओं (financial institutions) में विश्वास हिल जाए क्योंकि उनका स्थायित्व शासन के आग्रह के कारण खतरे में पड़ सकता है, और उस राजनीतिक व्यवस्था में भी जिसमें शासन अपने कार्य को ढंग से नहीं चला सकते।

किन्तु अन्तर्युद्ध काल में कुछ देशों में (जैसे डैनमार्क व स्वीडन में) एक अन्य प्रकार का दोहरा (बल्कि विभाजित) बजट चलाया गया जिसमें पूंजी व्यय का पृथक वृत्त सामान्य बजट के परिशिष्ट के रूप में साथ लगा दिया जाता था। यह पद्धति उस स्थिति से जिसमें "पूँजी" बजट दुर्बलता और अदक्षता को छिपाने के लिए परदा मात्र होता है न केवल बहुत भिन्न है, यह परम्परागत ब्रिटिश पद्धति में काफी सुधार भी है क्योंकि यह नीति के एक यन्त्र के रूप में भी काम आ सकता है जैसा कि परम्परागत रूप का ब्रिटिश बजट नहीं काम आ सकता, आगे चल कर, बजट प्रविधि में हुए इस व अन्य सुधारों की ब्रिटेन की परिस्थितियों में उपयुक्तता[1] का हमें विचार करना होगा। बजट में सुधारों की आवश्यकता का मूल कारण यह है कि अब लेखा की आवश्यकता एक नए उद्देश्य के लिए होती है।

परम्परागत ब्रिटिश बजट का उद्देश्य होता है पहले (प्राक्कलनों में) संसद् की एक विशिष्ट व्यय योजना के लिए स्वीकृति को 'रिकार्ड' करना जिसके लिए राजस्व (वित्त अधिनियम के द्वारा) उपलब्ध किया गया होता है, और बाद

---

१. देखिए, अध्याय २०, अनुभाग २।

में (विनियोग लेखा में) संसद् को साक्षी देना कि राजस्व को स्वीकृति के अनुसार उपलब्ध कराया और लगाया गया है। संसद् के लिए इन मामलों में इस प्रकार विशेष ध्यान रख कर छोटी-छोटी बातें पक्की करने की आवश्यकता उन दिनों की निशानी है जब राजा लोग संसद् की ओर से सार्वजनिक सेवाओं के लिए प्राप्त धन को अपने मतलब के लिए लगा लेते थे। वास्तव में अब इस तरह की कोई गड़बड़ न हो इसके लिए संसद् कोषागार पर निर्भर रहती है, और प्राक्कलनों का सविस्तर ब्योरा जिस पर बजट आधारित होता है इसी लिए रहता है कि कोषागार नियन्त्रण का अपना परम्परागत कर्त्तव्य पूरा कर सके।

किन्तु जैसा हमने देखा है[1], संसद् लेखा को प्रस्तुत करने के इस ढंग का एक दूसरे लक्ष्य के लिए उपयोग करने की भी आदी हो गई है। पूर्ति समिति में बहस के लिए उपयुक्त विषय चुनने की दृष्टि से प्राक्कलनों में व्यय का शीर्षकों व मतों में बँटवारा, एक सुविधाजनक वर्गीकरण है। प्राक्कलनों का यह दूसरा उद्देश्य लेखा पद्धति के सुधार को अधिक कठिन बना देता है। परन्तु विषयों की अधिक संक्षिप्त तालिका के द्वारा भी यह पूरा हो सकता है। उस अवस्था में लेखा पद्धति में अधिक लचीलापन आ सकता है।

लोक-लेखा को प्रस्तुत करने की पद्धति मात्र ही उन परिस्थितियों की बची हुई निशानी नहीं है जो बीत चुकीं, रोग इससे काफ़ी गहरा है। लेखा की जो पद्धति काम में लाई जाती है उसमें आर्थिक व राजनीतिक विकास की ऐसी अवस्था झलकती है जब लेखा शैली पर वैयक्तिक अथवा पारिवारिक व्यय के लिए उपयुक्त रीतियों का ही प्रभाव था। कोषागार द्वारा नियन्त्रण के परम्परागत ढंग की सुविधा के लिए शासन के विभागों का लेखा कड़ाई से रोकड़ आधार (cash basis) पर रखा जाता है, अर्थात् सम्बन्धित अवधि में जो भुगतान वास्तव में किए गए हों वही उसके लेखा में दर्ज होते हैं। लेखा की अवधि में जो कोई अन्य सौदे हुए हों और जिनका सम्बन्ध भी उसी से हो, तब तक दर्ज नहीं होते जब तक नकद धन न दिया जाए। इसलिए सार्वजनिक

१. देखिए अध्याय ४।

लेखा तो केव नकदी का हिसाब ही होता है, व्यय का वास्तविक लेखा नहीं। इसलिए उसमें शासन की वर्ष भर की गतिविधि का कोई पूरा वृत्तान्त नहीं होता। और प्रावैधिक दृष्टि से वह इकन्नी रोकड़-बही (penny cash book) से विशेष अच्छा नहीं होता।

फिर, प्रावकलनों में, व्यय विषयों के अनुसार वर्गों में बँधा होता है, सेवाओं के अनुसार नहीं। एक अनियत उदाहरण लेना हो तो। १९३५ में वर्ग ६, मत १, शीर्षक 'ए' (व्यापार बोर्ड का सामान्य प्रशासन) निम्न प्रकार बँटा हुआ था : 'ए १', वेतन आदि; 'ए २' यात्रा व प्रासंगिक व्यय; 'ए ३' विशेष सेवाएँ; 'ए ४' तार व टैलीफ़ोन; 'ए ५' रञ्जक (dyestuffs) के व्यय (आयात नियन्त्रण अधिनियम १९२०-२४) (अन्तिम मद के विषय में शंका यह होती है कि उसे कोई दूसरा अधिक अच्छा नाम (pigeon hole) उपलब्ध न होने के कारण इस शीर्षक के नीचे रखा गया था।) इस लेखा पद्धति से किसी एक सेवा के कुल व्यय की गणना करना असम्भवप्राय है। जैसे, यदि हम स्थानीय रोज़गार दफ़्तरों की सेवाओं का व्यय जानना चाहें तो हम स्थानीय कर्मचारी वर्ग के वेतनों का व्यय पता तो कर सकते हैं—यह वर्ग ६ में पृथक् ही दर्ज होता है, लेकिन इसके आगे केन्द्रीय कर्मचारी वर्ग का जो समय इस सेवा के साथ सम्बन्धित होने के कारण लगता है—जो होता भी पर्याप्त है—उसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। भवनों और 'फ़र्नीचर' तथा लेखन की और अन्य सामग्री का क्रय, इन्हीं वस्तुओं पर हुए अन्य विभागों के व्यय में सम्मिलित होता है—जिनकी गिनती प्रायः वर्ग ७ के शीर्ष "सामान्य सेवाएँ" में होती है, जिसके कारण उन्हें ठीक तरह से पृथक् नहीं किया जा सकता।

लेखा की इस पद्धति का परिणाम यह है कि पुनरीक्षण करने वाली किसी भी सत्ता के लिए चाहे वह कोषागार हो, लोक लेखा समिति हो या राष्ट्रीय व्यय के लिए नियुक्त कोई तदर्थ (ad hoc) समिति यह कहना असम्भव होता है कि कोई विभाग कार्य ठीक प्रकार कर रहा है या नहीं। किसी विभाग के प्रमुख के लिए यह बताना प्रायः असम्भव होता है कि उसके विभाग पर किसी

समय कितना खर्च हो रहा है, यह कह सकना तो दूर कि किसी अन्य विभाग की या गत वर्षों की तुलना में उसकी स्थिति क्या है ? संक्षेप में सार्वजनिक लेखापद्धति ऐसी है कि बेईमानी तो प्रकट हो जाती है परन्तु अयोग्यता (incompetence) नहीं।

१९१४-१८ के महायुद्ध के समय जो राष्ट्रीय व्यय समिति बिठाई गई थी उसने व्यय के विवेकपूर्ण नियन्त्रण के मार्ग में आने वाली इस बाधा को अच्छी प्रकार अनुभव किया था। उनके बार-बार जोर देने के परिणामस्वरूप व्यापारी सेवाओं की लेखा पद्धति में कुछ सुधार किया गया। डाकघर (टेली-फोन व तार सेवाओं सहित) ने अपने लेखा को किसी व्यापारी संस्था के अधिक समान बना लिया। तत्पश्चात् इसका प्राक्कलनों के साथ तालमेल बिठाने के लिए एक समाधान लेखा (reconciliation account) बनाया गया। इस समिति की सलाह पर सैनिक लेखा की व्यवस्था में भी एक रोचक प्रयोग किया गया। परम्परागत "प्रातीतिक" (subjective) वर्गीकरण (उदाहरणार्थ सेना के लिए पैट्रोल जहाँ भी खर्च हुआ हो) एक "वैषयिक" (objective) अथवा संशोधित इकाई व्यय पद्धति [उदाहरणार्थ सैनिक चिकित्सालयों में जन-शय्या-घण्टों (man bed hours) का व्यय] का प्रयोग कुछ वर्षों तक किया गया। दुर्भाग्य से यह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग उस समय के लिए अधिक महत्त्वाकांक्षायुक्त सिद्ध हुआ। किन्तु हमें अभी इन प्रश्नों पर अधिक समय नहीं लगाना चाहिए क्योंकि भाग ३ में इनका पर्याप्त विचार करना होगा।

परम्परागत बजट की जो त्रुटियाँ आज भी चल रही हैं उनमें से एक यह है कि वह विभिन्न प्रकार के व्यय में आर्थिक महत्त्व के अनुसार भेद नहीं कर पाता, चालू खाते में लोक प्राधिकारियो द्वारा इनमें से किसी के भी क्रय पर व्यय हो सकता है—सामूहिक (जैसे स्कूलों में) उपभोग की अथवा व्यापारी सेवाओं में काम आने वाली वस्तुओं पर या नागरिक कर्मचारियों तथा अन्य नौकरों की सेवाओं पर। अन्यथा नागरिकों के एक समूह की आय में से लेकर दूसरे को हस्तान्तरण का रूप भी यह ले सकता है। ऐसे हस्तान्तरण दो प्रकार

के होते हैं, युद्ध ऋण या अन्य सरकारी ऋण के पत्र जिनके पास हों उनको राष्ट्रीय-ऋण-ब्याज का भुगतान, तथा सामाजिक हस्तान्तरण उदाहरणार्थ पैशनें व अन्य भुगतान जो सामान्य सामाजिक व आर्थिक नीति के अंश के रूप में किए जाते हैं।

लेखा में इस दो प्रकार के सार्वजनिक व्यय में आसानी से भेद किया जा सके यह बहुत वाँछनीय है क्योंकि पहला—वस्तुओं व सेवाओं पर हुआ व्यय—प्रत्यक्ष नवीन आय को जन्म देता है जबकि हस्तान्तरण ऐसा नहीं करते चाहे यह सच है कि अतिरिक्त आय बाद में उत्पन्न हो सकती है यदि नई आय प्राप्त करने वाले उसे खर्च करें जबकि जिनसे वह ली गई है वे उसे खर्च करने की बजाय बचाते।

चालू और पूँजी मदों को बजट पर्याप्त ढंग से पृथक् नहीं कर सकता इस बात पर भी बल देना आवश्यक है। चांसलर का परम्परागत ढंग का बजट ऐसा होता है कि उसमें पूँजी मदें लेखा के दोनों ओर रह सकती हैं। व्यय की ओर देखा जाए तो सड़कों और भवनों के व्यय का एक बड़ा भाग वास्तव में राजस्व में से किया गया नवीन नियोजन होता है। और राजस्व की ओर, ऋण का व्याज और वापसी दोनों उसमें शामिल होते हैं। "विविध" नाम की मद भूतकाल में इसके लिए बदनाम थी, उसमें कोई भी भुगतान रखे गए हों, उससे वाँछित उत्तर निकाल लिया जाता था। निकट भूतकाल की अवस्थाओं में भी उसमें कुछ पूँजी मदें शामिल किए जाने की प्रवृत्ति रही है। पहले पूँजी और चालू मदों में भेद न कर पाना बहुत महत्त्व की चीज़ नहीं थी, परन्तु सक्रिय अर्थ-नीति के स्वीकार किए जाने के साथ ही इसका महत्त्व बहुत अधिक हो गया। ये प्रश्न भी भाग ३ में हमारे विचाराधीन आएँगे।

परम्परागत बजट की इन त्रुटियों के कारण इसमें कुछ आश्चर्यजनक नहीं है कि महायुद्ध की वित्तीय आवश्यकताओं ने इन दोनों शीर्षों से सम्बन्धित अधिक जानकारी का एक नया स्रोत (राष्ट्रीय आय तथा व्यय सम्बन्धी श्वेत-पत्र (White Paper) उत्पन्न किया जो अर्थ-व्यवस्था की सारी स्थिति के बारे में भी काफ़ी ज्यादा जानकारी देने वाला है। किन्तु ब्रिटेन के राष्ट्राय

आय लेखा का बजट के साथ विलय नहीं किया जा सकता क्योंकि वह भिन्न अवधि से सम्बन्ध रखता है—वित्तीय वर्ष की बजाय कैलेण्डर वर्ष से। १९४१ से अब तक लोक लेखा को नीति के यन्त्र रूप में ढालने की दिशा में जो बहुत प्रगति हुई है उसके बाद भी अभी बहुत कुछ होना बाकी है।

२. **सार्वजनिक क्षेत्र का समेकित लेखा** (The Consolidated Account of the Public Sector)—राष्ट्रीय आय तथा व्यय लेखा सार्वजनिक क्षेत्र के प्रत्येक अग का एक "सन्तुलन" उपस्थित करता है अर्थात् केन्द्रीय शासन, राष्ट्रीय बीमा निधि व स्थानीय प्राधिकारी इन सब का। किन्तु अब तक सब स्थानीय प्राधिकारियों का समेकित लेखा प्रस्तुत नहीं किया गया चाहे पिछले दिनों राष्ट्रीय बीमा निधि के आय व्यय का केन्द्रीय शासन लेखा के साथ विलय कर दिया गया है। तो भी स्पष्टतः यह जानने योग्य है कि लोक प्राधिकारियों ने समूचे तौर पर राष्ट्रीय आय और उसके पुर्नवितरण में कितना अंशदान दिया और उनकी कार्रवाइयों का अन्तिम परिणाम अर्थ-व्यवस्था में कुल बचत के परिमाण को बढ़ाने का हुआ या घटाने का। इसलिए आइए जिन दो वर्षों की चर्चा हम करते रहे हैं—१९३८ और १९५३ उन्हीं के विषय में इस शून्य को भरने का प्रयत्न करें। १९५३ के बारे में तो लगभग हर पग का अनुमान हम नील पुस्तक (Blue Book) के आंकड़ों को दोबारा छांट करके लगा सकते हैं, किन्तु १९३८ के लिए कम आंकड़े उपलब्ध हैं इसलिए हमें स्रोतों की संख्या पर निर्भर रहना होगा जिनके आधार व अवधियाँ पूर्णतया तुलनीय नहीं हैं। फिर भी जो परिणाम हम निकाल पाएँगे उसके बहुत अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं है।

पृथक् लेखा का एकीकरण करते हुए दोहरी गिनती से बचने के लिए एक प्राधिकारी से दूसरे को किए गए सभी भुगतानों को बाहर रखना आवश्यक है। अतः केन्द्रीय शासन के लेखा में से राजस्व की ओर, हमें स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा दिए गए कर निकालने पड़ेंगे और बीमा निधि के राजस्व लेखा में से सेना के निमित्त दिया गया केन्द्रीय अंशदान निकालना होगा। इसी प्रकार स्थानीय प्राधिकारी राजस्व लेखा में से हमें छोड़ने होंगे केन्द्रीय

शासन के. भुगतान, चालू लेखा में अनुदान तथा राजकीय भूमि (crown land) के दरों के बदले में भुगतान, केन्द्रीय शासन की ओर से गृह-व्यवस्था-साहाय्य, और अन्य स्थानीय प्राधिकारियों से प्राप्त ब्याज। प्रत्येक सम्बन्धित लेखा के व्यय पक्ष में से भी तदनुसार कटौती करनी होगी। इनमें से अधिकांश समायोजन सरलतापूर्वक किए जा सकते है, सब से बड़ा अपवाद है पैट्रोल, गाड़ियों के लाइसैंस और अन्य करारोपित वस्तुओं के लिए जिनका वे उपयोग करते हैं, दिए गए व्यय करों का। इनके कोई आंकड़े नहीं है इसलिए हमें स्मरण भर रखना होगा कि समेकित लेखा या राजस्व पक्ष समेकन की अपूर्णता के कारण कुछ न कुछ फूला हुआ (inflated) रहेगा।

एक बात और भी है। किसी सार्वजनिक प्राधिकारी का राजस्व लेखा ठीक वही वस्तु नहीं है जो आर्थिक अर्थ में चालू खाता होता है क्योंकि उसमें ऐसी मदें होती हैं जो वास्तव में पूँजी खाते को स्थानान्तरित की जाती हैं या किसी अन्य क्षेत्र के पूंजी खाते में गिनी जाती है। ऐसी मुख्य मदें हैं—राजस्व पक्ष में मृत्यु-कर, और व्यय पक्ष में युद्ध-क्षति के लिए भुगतान, तथा फ़र्मों को अतिरिक्त लाभ कर की वापसी और स्थानीय प्राधिकारियों को पूँजी अनुदान। आंकड़े (कम से कम १९५३ के) शासन के परम्परागत ढंग के लेखा की बजाय केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय के प्राक्कलनों से लिये गए हैं इसलिए उनमें वर्ष के सभी सौदों का हिसाब समाविष्ट है चाहे उनका भुगतान वास्तव में किया गया है या नहीं। इसलिए लेखा का सन्तुलन करने वाली मद—सार्वजनिक प्राधिकारियों द्वारा शुद्ध बचत, जहाँ तक न्यास (data) पहुँचता है, आर्थिक दृष्टि से ठीक है।

प्राक्कलन का परिणाम तालिका ५ में दिखाया गया है। लेखा की शायद सब से ध्यान देने योग्य वस्तु है स्थानीय प्राधिकारियों की स्थिति की सापेक्ष स्थिरता (अथवा कठोरता—rigidity) जब उसकी केन्द्रीय शासन अथवा राष्ट्रीय बीमा निधि के साथ, व्यय और राजस्व दोनों पक्षों में, तुलना की जाती है। बीमा निधि के विस्तार का कारण तो सामाजिक सुरक्षा का

तालिका ५—ब्रिटिश सार्वजनिक प्राधिकारियों का एकीकृत चालू लेखा १९३८ और १९५३ में

(दस लाख पौंड)

आय	१९३८		१९५३	
१. कर-प्राप्ति				
केन्द्रीय शासन	७७३		४,०३०	
सामाजिक बीमा	१०९		५२६	
स्थानीय प्राधिकारी	२११		४३६	
		१,०९३		४,९९२
२. सम्पत्ति से आय				
केन्द्रीय शासन	२२		१७७	
सामाजिक बीमा	उपेक्षणीय		४८	
स्थानीय प्राधिकारी	४९		१०२	
		७१		३२७
३. बाहर से चालू अनुदान		—		१०५
कुल आय		१,१६४		५,४२४

व्यय	१९३८		१९५३	
१. चालू वस्तुओं व सेवाओं पर				
केन्द्रीय शासन	४५५		२,३५२	
सामाजिक बीमा	१४		३२	
स्थानीय प्राधिकारी	३५५		७३७	
		८२४		३,१२१
२. स्थानान्तरण व्यय				
केन्द्रीय शासन	३१२		१,३८५	
सामाजिक बीमा	१३६		५२४	
स्थानीय प्राधिकारी	२३		४७	
		४७१		१,९५६
३. बाहर से चालू अनुदान		—		५६
सार्वजनिक प्राधिकारियों का शुद्ध व्यय		१,२९५		५,१३३
सार्वजनिक प्राधिकारियों की शुद्ध बचत		१३१		२९१

राष्ट्रव्यापी बनाया जाना है।[1] केन्द्रीय शासन का चारों ओर विस्तार हुआ है चाहे कुछ मदों में दिखाई यह देता है कि किसी अन्य क्षेत्र से स्थानान्तरण हुआ है न कि नई सेवाओं का निर्माण। जैसे सम्पत्ति से आय में वृद्धि अधिकांश में स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा दिए गए ब्याज के कारण हुई है क्योंकि पहले वे निजी क्षेत्र से कर्ज़ लिया करते थे। वस्तुओं व सेवाओं पर केन्द्रीय व्यय की बड़ी मद (१५,४५० लाख पौंड) तो एक न एक ढंग से प्रतिरक्षा पर लगी, दूसरी बड़ी मद है राष्ट्रीय स्वास्थ्य पर हुआ ख़र्च—४४१० लाख पौंड। बदल कर आई हुई मदों में सब से बड़ी है राष्ट्रीय ऋण सेवा के लिए ६२५० लाख पौंड। दूसरी बड़ी मदें हैं राष्ट्रीय बीमा लाभ के लिए, और अन्य पैंशनों, व्यक्तियों को दिए गए अनुदानों तथा सहायता के लिए ४२७० लाख पौंड। विदेशी अनुदानों में मुख्यतया औपनिवेशिक विकास तथा कल्याण अधिनियम हैं; महायुद्ध के पूर्व इस प्रकार का व्यय अत्यन्त अल्प था।

तालिका से प्रकट होता है कि १९३८ में इस हिसाब मे काफी घाटा रहा जब कि बजट में ऊपर-ऊपर से तो बचत ही दीखती थी। यह परिणाम प्रतिरक्षा की तैयारी के कारण हुआ न कि आर्थिक नीति के, चाहे यदि क्षतिपूरक वित्त (compensatory finance) की नीति का स्पष्ट रूप से पालन किया जाता तो काफी बड़ा घाटा रखना आवश्यक होता। इसके विपरीत १९५३ में काफी बचत रही और जानबूझ कर रखी गई। इसके पीछे स्फीतिगर्भित स्थिति को रोकने का हेतु था। किन्तु यदि "पारस्परिक सहायता" के अन्तर्गत अमरीकी शासन के अनुदान न मिले होते तो बच्त इससे काफी कम रहती।

स्पष्टीकरण के लिए एक शब्द और : जो बचत इस प्रकार दिखाई गई है वह "शुद्ध" (net) है—इस अर्थ में कि वह समेकित है, किन्तु वह इस अर्थ में "सकल" (gross) है कि उसमें से अवमूल्यन निकाला नहीं गया। वास्तव

१. स्थायी मूल्यों के हिसाब से १९५३ के आंकड़ों को लगभग २$\frac{१}{४}$ से विभाजित करना चाहिए।

में सार्वजनिक प्राधिकारी अपनी व्यापारी सेवाओं को छोड़ कर (जिनके लिए "नील पुस्तक" के अनुसार १९५३ में केन्द्र का अंश ३७० लाख पौंड की नाममात्र राशि है) अवमूल्यन व्यय में लगाया ही नहीं जाता। केन्द्रीय विभागों और स्थानीय प्राधिकारियों दोनों के पास कुछ अचल पूँजी होती है जिसको बनाए रखना होता है, और यह भी कहा जा सकता है कि उसे ठीक प्रकार बनाए रखने का तरीका बजट में उनके अवमूल्यन के लिए प्रबन्ध करना है। यह प्रश्न बजट सम्बन्धी प्रविधि के अन्य प्रश्नो के साथ भाग ३ (अ०२०) में हमारी चर्चा का विषय बनेगा।

३. राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र (The Public Sector in the National Economy)—राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के सापेक्ष महत्त्व की पूरी कल्पना के लिए पूँजी खाते को भी मिलाना आवश्यक है। वह तालिका ६ में १९३८, १९४४ तथा १९५३ के लिए प्रकट किया गया है। पूंजी निर्माण सकल रूप में दिया गया है, अर्थात् वर्त्तमान पूँजी का बनाए रखना और नई स्थाई पूँजी का निर्माण दोनों सम्मिलित हैं। पूँजी का संपूर्ण चित्र सामने लाने के लिए यह भी आवश्यक होगा कि कच्चे माल व अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के स्टॉक में हुए परिवर्त्तनों को भी ध्यान में लिया जाए। पहले के सालों के लिए तो यह सम्भव ही नहीं है और १९५३ के लिए भी जो आंकड़े हैं वे उतने विश्वसनीय नहीं हैं जितने अचल पूँजी सम्बन्धी। सौभाग्य से नियोजन की दृष्टि से, स्टॉक के परिवर्त्तनों का महत्त्व सामान्यतया अचल पूँजी निर्माण में हुए परिवर्त्तनों की अपेक्षा काफी कम होता है।

तालिका ६—ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के निजी व सार्वजनिक क्षेत्र

निजी क्षेत्र	१९३८	१९४४	१९५३
उपभोग पर वैयक्तिक व्यय	४,१५३	५,२१६	११,०७६
निजी सकल पूंजी निर्माण[1]	५५०	२२४	१,०१६

१. सम्पत्ति के उपार्जन व हस्तान्तरण का व्यय मिला कर।

सार्वजनिक क्षेत्र	१९३८	१९४४	१९५३
चालू वस्तुओं व सेवाओं पर सार्वजनिक व्यय (सार्वजनिक उपभोग) . .	८१४	५,२२१[1]	३,०७४
स्वदेश में सार्वजनिक सकल पूंजी निर्माण	२३५	६३	१,३१७[2]

महायुद्ध का प्रभाव दोनों लेखों में बहुत स्पष्ट है। युद्ध की तेजी के समय दोनों क्षेत्रों में शुद्ध नियोजन ऋण (नकारात्मक) था। अनुमान यह लगाया गया है कि १९४४ में, स्वदेशी शुद्ध नियोजन निजी क्षेत्र में लगभग २०२० लाख पौंड तक ऋण (नकारात्मक) था और सार्वजनिक क्षेत्र में ४२० लाख पौंड। निजी क्षेत्र में १९४४ में जो अपनियोजन हुआ (नियोजन में कमी आई) उसके पहले भी ४ वर्षों में ७३०० लाख पौंड का अपनियोजन हो चुका था। आन्तरिक पूँजी की स्थिति की पूरी कल्पना इससे भी नहीं होती क्योंकि इसमें सब प्रकार की घरेलू वस्तुओं व पूँजी के अवमूल्यन के लिए छूट नहीं दी गई है। विदेशी आदेयों (Assets) का जो बलिदान युद्ध के कारण हुआ उसका हिसाब भी शामिल करना जरूरी है। १९३८ में ही उसका मूल्य ७ करोड़ पौंड हो चुका था (वैसे उसमें से साढ़े ५ करोड़ पौंड तो पहले कुछ सालों में जो सोना प्राप्त किया गया था उसकी बिक्री के कारण था)। १९४४ तक विदेशी अपनियोजन बढ़ कर साढ़े ६५ करोड़ पौंड तक पहुँच गया था। यही ढंग साल के बाद साल १९४७ तक चला। १९५२ में कहीं जा कर ऐसा दिखाई देता है कि नए विदेशी नियोजन का एक स्थायी प्रवाह फिर से चल सका।

निजी क्षेत्र में यह दिखाई देगा कि स्थिर मूल्यों में मापा जाए तो १९५३ में उपभोग पर हुआ व्यय प्रायः १९३८ जैसा ही था। १९४४ में वह वास्तविक रूप में स्वाभाविकतया काफी कम रहा। दूसरी ओर वास्तविक रूप में पूंजी निर्माण १९३८ की अपेक्षा १९५३ में काफी कम था। इसका मुख्य कारण तो वह अन्तर है जो गृह-निर्माण में पड़ा। गृह-निर्माण का कार्य १९३८ में तो जोरों पर था, किन्तु १९५३ में उन बन्धनों से कुछ कुछ निकलने लगा

१. उधार पट्टे व तत्समान व्यवस्थाओं के द्वारा वित्तपोषित व्यय छोड़ कर।

२. सार्वजनिक निगमों को मिलाकर।

ही था जो उस पर पुनर्निर्माण काल में लगाए गए थे। १९३० की दशाब्दी में मंदी के असर से फीकी पड़ी हुई लाभ की उपेक्षाओं के कारण औद्योगिक विकास का जो न्यून स्तर रहा वह चिन्ता का विषय बनने लग पड़ा था। तब से नियोजन के प्रोत्साहन के लिए कर-रिबेट (tax-rebate) के अनेक उपाय (जिनका हमें अध्याय २९ में विचार करना होगा) बरते गए हैं परन्तु अभी तक यह नहीं कहा जा सकता कि अवस्था पूर्णतया सन्तोषजनक हो गई है।

निजी क्षेत्र की अपेक्षा, जैसा हम जानते हैं, सार्वजनिक क्षेत्र तीव्र गति से फैलता गया है। सार्वजनिक सकल-पूंजी-निर्माण में जो वृद्धि हुई है वह और भी अधिक महत्त्व की है क्योंकि वह अधिक स्थायी वस्तु है। निकट भविष्य में वैयक्तिक उद्यम के द्वारा गृह-निर्माण में वृद्धि के साथ निजी सकल-पूंजी-निर्माण के भी बढ़ने की आशा हो सकती है। इसी प्रकार औद्योगिक नियोजन के विस्तार की भी उम्मीद है। दूसरी ओर सार्वजनिक पूंजी-निर्माण के कम होने की सम्भावना विशेष नहीं है, राष्ट्रीयकृत उद्योगों की आवश्यकताओं के कारण और गन्दी बस्तियों के सुधार (slum clearance) का विशाल कार्यक्रम विचाराधीन है उसके कारण भी।

भाग २

कराधान के सिद्धान्त

(THE THEORY OF TAXATION)

अध्याय ७

सार्वजनिक वित्त की कला

(The Art of Public Finance)

१. राजनीतिक व आर्थिक पहलू (Political and Economic Aspects)—भाग १ में हमने सार्वजनिक वित्त की पद्धति के प्रशासी यन्त्र की जाँच की। किसी भी यन्त्र के विषय में पूछने की सबसे पहली बात यही होती है कि उसका काम क्या है। सार्वजनिक वित्त के परिणामों की जाँच के प्रारम्भ में ही यह उपयोगी होगा कि थोड़ी देर रुक कर हम यह देख लें कि सार्वजनिक वित्त का स्वभाव क्या है और समाज में उसका क्या कार्य होना चाहिए।

भाग १ में हमारी जाँच से प्रकट हुआ कि सार्वजनिक वित्त का राजनीति अर्थात् शासन-कला से निकट सम्बन्ध है। यह आवश्यक भी है क्योंकि सार्वजनिक वित्त का शासी निकायों की कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्पर्क आता है। किसी देश के वित्त का योग्य रीति से संचालन शासन का ही एक पहलू है और स्पष्ट है कि किसी भी पहलू का सफल अध्ययन उसको अलग-अलग रखते हुए नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि सार्वजनिक वित्त को समझने के लिए सम्पूर्ण राजनीतिक संगठन का सम्बन्ध आता है। उदाहरण के लिए, एक विभागीय प्राक्कलन का महत्त्व देश की राजनीतिक व्यवस्था पर निर्भर है (ब्रिटेन और संयुक्त राज्य जैसे समान लोकतन्त्रों की भी पद्धतियों की तुलना करके देखिए)। फिर, वित्तीय आयोजन की वार्षिक समय सारणी जिसका हमने सविस्तार अध्ययन किया है, ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के द्वारा

सीमित होती है। तब भी, सार्वजनिक वित्त राजनीति का विभाग नहीं है, इसका सम्बन्ध जन सामान्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति से है, शासन की कला से नहीं।

सार्वजनिक प्राधिकारियों का अस्तित्व नागरिकों की आवश्यकताओं के समाधान के लिए है यह तथ्य सार्वजनिक वित्त को निश्चित रूप से अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रख देता है। इसका अर्थ यह है कि उसके अध्ययन (और स्वाभाविकतया, सफल संचालन) के लिए आर्थिक व्यवस्था की गतिविधि का ज्ञान होना एक शर्त्त है। यह भी स्पष्ट है कि यह शुद्ध अर्थशास्त्र का नही व्यावहारिक अर्थशास्त्र का विषय है। सार्वजनिक वित्त एक कला है, इसका सम्बन्ध वास्तविक प्रश्नों से है। यदि उसके विश्लेषण का व्यवहार में कहीं प्रयोग होना हो तो प्राय. प्रारम्भ में ही एक विशिष्ट अर्थ-व्यवस्था को मान कर चलना चाहिए क्योंकि जिन साधनों का इस्तेमाल होना है, उनके परिणाम और किसी अर्थ में वांछित लक्ष्य भी, ये दोनों आर्थिक व्यवस्था के प्रकार पर निर्भर होते हैं।

अतः, जैसा हमने देखा है किसी कृषि-प्रधान समाज में आय-कर का बहुत उपयोग नहीं किया जा सकता। फिर, ऊपर से एक जैसा दीखने वाले आय-कर का परिणाम दो प्रकार के समाजों में बहुत भिन्न हो सकता है—एक ऐसा जिसकी सामान्य व्यापारिक इकाई छोटी 'परिवार-फर्म' है और इस कारण जिसमें नियोजन मुख्यतया निजी बचतों में से ही होता है, और दूसरा ऐसा जिसमें सामान्य व्यापारिक इकाई बड़ी हो और बाजार लगभग एकाधिकारी ढंग का। ऐसे अन्तरों में सबसे महत्त्वपूर्ण वे हैं जो शेष अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र की अनुकूलतम मर्यादा (optimum size) से सम्बन्ध रखते हैं। एक ऐसी अवस्था सम्भव है जिसमें राष्ट्र का अधिकतम हित इसमें हो कि सार्वजनिक क्षेत्र छोटा हो और बढ़ रहे बाजारों में मुक्त नियोजन के वास्ते निजी उद्यम के लिए अवसर छोड़ दिया जाए। अपने विकास की किसी अन्य अवस्था में उसी राष्ट्र के लिए यह ज़रूरी हो सकता है कि जीवन-स्तर को उन्नत करने के लिए ऐसे उपायों को काम लाना पड़े जो उतने स्पष्ट रूप

से लाभप्रद नहीं किन्तु जो अन्यथा प्रगति के लिए सबसे उपयुक्त हैं और परिणामस्वरूप इस दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र को बहुत अधिक बढ़ाना ही एक-मात्र रास्ता हो। यह ऐसा प्रश्न है जिस पर भाग ३ में हमें फिर विचार करना होगा।

इन दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में प्रायः सम्मिलित किए जाने वाले अन्य विषयों के साथ सार्वजनिक वित्त के सम्बन्ध का बहुत ध्यानपूर्वक विचार होना चाहिए। समाज के प्रति अर्थशास्त्री के दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं। प्रथम तो वह उसकी आर्थिक पद्धति की कारवाइयों का विश्लेषण कर सके और द्वितीय उस विश्लेषण के आधार पर उसके सुधार के लिए सलाह दे सके। इस प्रकार अर्थशास्त्र का अनुशासन दो स्पष्ट धाराओं में बँट जाता है। पहले को विधेयात्मक (positive) क्षेत्र कह सकते है, जिसका कार्य है समाज की आर्थिक संस्थाओं का वर्णन (उदाहरणार्थ, उद्योग का संगठन) और आर्थिक तथा अन्य प्रेरणाओं (stimuli) के प्रति इन संस्थाओं की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध का विश्लेषण करना। अनुशासन का यह भाग अर्थशास्त्र का शारीरिक रूप कहा जा सकता है।

दूसरा और उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग है आदर्श (normative) क्षेत्र जिसका कार्य केवल नीति की ठीक कसौटी तय करना ही नहीं बल्कि उसके आधार पर अनेक सम्भव आर्थिक लक्ष्यों में से सर्वोत्तम चुनने का उपाय उप-लब्ध करवाना अथवा किसी निश्चित आर्थिकेतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से सबसे उपयुक्त मार्ग चुनना। अपनी 'मेडिकल' शब्दावलि में इसे अर्थशास्त्र का बचाव और चिकित्सा वाला पक्ष कहा जा सकता है।

सार्वजनिक वित्त के भी अर्थशास्त्र के सामान्य अध्ययन का एक भाग होने के नाते, विधेयात्मक (positive) और आदर्श (normative) दो पक्ष हैं किन्तु कला के कार्य-क्षेत्र में होने के कारण उनकी अपनी कुछ विशेषताएँ अवश्य है।

विधेयात्मक सार्वजनिक वित्त का एक भाग सार्वजनिक व्यय तथा राजस्व के निर्धारण व संग्रह के यन्त्र (machinery) के वर्णन व विश्लेषण से सम्बन्ध

रखता है। इस यन्त्र के कार्य को समझने के लिए इसके पुर्जों का ज्ञान आवश्यक है। यह वैसे ही है जैसे राजकोषीय नीति का कोई पग—व्यय का नया प्रकार या कर सम्बन्धी परिवर्त्तन—अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव डालेगा, यह कहना यन्त्र के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। राष्ट्रों के संविधानों और रूढ़ियों में भिन्नता के कारण, जैसा हम ने देखा है, करों के महत्त्व अथवा राजकोषीय नीति के सामान्य निर्देशन के लिए व्यवहार्य साधनों में काफ़ी अन्तर पड़ सकता है। भाग १ में ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के इस यन्त्र का अध्ययन हमारा कार्य रहा है।

विधेयात्मक सार्वजनिक वित्त का एक दूसरा और अधिक मौलिक भाग है उस वास्तविक प्रक्रिया का विश्लेषण—जिससे कि किसी विशेष प्रकार के कर (अथवा साहाय्य और हस्तान्तरण—जो केवल नकारात्मक कर ही होते हैं) आर्थिक व्यवस्था में अपना कार्य करते हैं। राजकोषीय परिवर्त्तनों के आर्थिक परिणामों की खोज करने के लिए यह विश्लेषण अनिवार्य है। सारी प्रक्रिया का बड़ी बारीकी से शोध करके ही किसी एक लक्ष्य को प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न उपायों के गुण-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है और इसके पश्चात् ही सर्वोत्तम उपाय चुनना सम्भव है। इस विश्लेषण का सुविधाजनक नाम है—कराधान या कर-आपात के सिद्धान्त—यद्यपि इसका सम्बन्ध कई प्रकार के व्यय से भी है। हम इस प्रकार का विश्लेषण भाग दो में करेंगे। यह ध्यान देने की बात है कि हमारा ढंग "एक समय में एक ही काम" का है जो सामान्य आर्थिक विश्लेषण का सर्वपरिचित ढंग है। अर्थात्, जब हम एक विशेष राजकोषीय परिवर्त्तन के परिणामों की बात सोचते हैं तो हम आर्थिक ढाँचे में आए उन परिवर्त्तनों की ओर ध्यान नहीं देते जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसी के कारण नहीं आए। हाँ, परिवर्त्तन के बाद जो पूरा का पूरा नया ढाँचा होता है उसका विचार अवश्य करना होता है।

विधेयात्मक सार्वजनिक वित्त का तीसरा और अन्तिम भाग है (जिसका हम भाग ३ में विचार करेंगे) सार्वजनिक वित्त की सम्पूर्ण व्यवस्था के राष्ट्रीय

आय पर होने वाले इकट्ठे परिणामों का विश्लेषण। इसमें चालू व्यय, नियोजन, कराधान और उधार के क्षेत्रों में सार्वजनिक प्राधिकारियों की राजकोषीय नीति आती है। यह विश्लेषण स्पष्टतया उच्च आर्थिक गतिविधि की सुव्यवस्थित नीति के लिए और सामाजिक नीति के निर्देशन के लिए आवश्यक आधार है, परन्तु इस बात का प्रबन्ध करने के लिए कि गतिविधि का उच्च स्तर प्राप्त करने के वास्ते अपनाए गए साधन अन्य दृष्टियों से भी सन्तोषजनक हों, कर आपात के सिद्धान्त का ज्ञान भी इतना ही आवश्यक है। यह दिखाई देगा कि सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में कर-आपात का सिद्धान्त वही स्थान रखता है जो सामान्य आर्थिक विश्लेषण में फ़र्म अथवा उद्योग का सिद्धान्त और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक वित्त का सिद्धान्त व्यापारिक गतिविधि के सामान्य आर्थिक सिद्धान्त से सम्बन्धित है।

२. **नीति का चुनाव** (The Choice of Policy)—किन्तु सार्वजनिक वित्त का विधेयात्मक पक्ष बहुत देर तक आदर्श पक्ष से पृथक् नहीं रखा जा सकता। करों अथवा व्यय के कार्य का विश्लेषण स्वयमेव ही कोई लक्ष्य नहीं है, वह तो सर्वोत्तम नीति के चुनने की क्रिया में एक कदम ही है। आदर्श पक्ष में फिर सार्वजनिक वित्त अर्थशास्त्र का एक विभाग मात्र ही प्रकट होता है।

जैसे विधेयात्मक वित्त आर्थिक विश्लेषण के विशेष विभाग से सम्बन्धित है, अर्थात् प्राधिकारियों की वित्तीय गतिविधियों के परिणामों से, उसी प्रकार आदर्श सार्वजनिक वित्त विशेष प्रकार की आर्थिक नीतियों के औचित्य विषयक निर्णयों से सम्बन्ध रखता है अर्थात् ऐसी नीतियों के कि जिन पर व्यय अथवा राजस्व-संग्रह के कार्यक्रमों के द्वारा आचरण हो रहा है या हो सकता है। किन्तु जिन उद्देश्यों को प्राप्त करने का यत्न इस ढंग से किया जाता है वे उसी तरह के हैं जैसे अन्य प्रकार की आर्थिक नीतियों के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, और सार्वजनिक वित्त की अपेक्षा दूसरे उपायों से अधिक सुविधापूर्वक उन पर आचरण हो सकता है।

कोई राष्ट्र जिस नीति को अपनाता है (उदाहरणार्थ जिस वार्षिक वित्तीय कार्यक्रम का हम विचार करते रहे हैं उसमें जैसी नीति रखी गई हो) उसके

कुछ सूत्र होते हैं, जिनमें से कुछ का तो आर्थिकेतर (noneconomic) कानूनी अथवा मनोवैज्ञानिक आधार होता है—जैसे कानूनी समता की इच्छा—जिसकी पूर्त्ति एडम स्मिथ के कहे हुए दूसरे कर्त्तव्य द्वारा होती है, अथवा धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की व्यवस्था। परन्तु नीति का अधिकांश ऐसी आवश्यकताओं की पूर्त्ति से सम्बन्ध रखता है जो बाज़ार-यन्त्र के द्वारा पूर्ण होने वाली (अथवा हो सकने वाली) आवश्यकताओं से मिलती-जुल ी है। इस अर्थ में वे वैयक्तिक आर्थिक आवश्यकताएँ हैं—यद्यपि उन्हें सामूहिक रूप से अधिक सुविधापूर्वक पूर्ण किया जा सकता है।

जैसे-जैसे सार्वजनिक क्षेत्रों का प्रदेश फैलता जाता है, सार्वजनिक व्यय तथा राजस्व और इसी कारण वित्तीय नीति का जो अंश इन आर्थिक उद्देश्यों के लिए लगता है, वह भी बढ़ता जाता है। कारण यह कि शासकीय कृति के द्वारा तुष्ट हो सकने वाली आर्थिकेतर आवश्यकताएँ अनिवार्य रूप से आर्थिक आवश्यकताओं की तुलना में अधिक सीमित होती हैं। अतः सार्वजनिक क्षेत्रों के फैलाव के साथ यह अधिकाधिक ज़रूरी होता जाता है कि किसी ऐसी ठोस वस्तुनिष्ठ (obj ctive) कसौटी के आधार पर नीति तय हो जिस पर सभी योजनाओं को तोला और इनके बारे में निर्णय किया जा सके। एक निश्चित ध्रुव लक्ष्य के बिना नीति की नौका पतवार हीन होती है और विशिष्ट स्वार्थों की लहरों की दया पर रहती है। ऐसी अवस्था में सार्वजनिक प्राधिकारियों द्वारा क्या क्या किया जाना चाहिए और क्या-क्या नहीं इसका सन्तोषजनक कार्यक्रम बनाना असम्भव होता है। इतना ही नहीं, ऐसी भिन्न-भिन्न नीतियों के लिए किसी युक्तियुक्त पद्धति से प्राथमिकताओं का निश्चय करना भी असम्भव होता है जो सब की सब उचित मानी जाती हैं परन्तु जिन सब को एक साथ हाथ में लेना अर्थ-व्यवस्था के साधनों के बूते की बात नहीं।

नीति का जो भी भाग सार्वजनिक कृति द्वारा पूर्ण होने वाली आर्थिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित है उसके लिए युक्तियुक्त रीति से ऐसी वस्तुनिष्ठ कसौटी खोज करके निश्चित करना संभव होना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्रों में चालू विकास के कारण यह प्रश्न अत्यधिक विशिष्ट महत्त्व का है परन्तु

दुर्भाग्य से इसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। हमारा विश्लेषण उधर ही लटकता न रह जाए और हम स्पष्ट परिणामों पर पहुँच सकें इस दृष्टि से हम कितने भी संक्षिप्त और अपर्याप्त ढग से क्यों न हों, नीति की उस कसौटी का वर्णन करने के प्रयत्न को टाल नहीं सकते।

यह जानते हुए नीति का अन्तिम लक्ष्य है आवश्यकताओं की पूर्ति हमारी खोज की पहली सीढ़ी है यह कथन कि आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधनों को, अर्थात् उत्पादन को अधिकतम बढ़ाना होगा। स्पष्ट है कि यदि उत्पादन को अधिकतम न किया गया तो बँटवारा किसी भी तरह हो, समाधान जितना होना चाहिए या हो सकता है उतना नहीं होगा। अतः उत्पादन का अधिकतम करना, "उत्पादन-प्रशस्त" (production optimum) साधनों के बँटवारे से सम्बन्धित है; उत्पादन के अधिकतम होने की शर्त यह है कि उत्पादों के किसी भी एक जोड़ में, *साधनों के पुनर्वितरण के द्वारा किसी एक वस्तु का उत्पादन दूसरी के उत्पादन को घटाए बिना बढ़ाना असम्भव होना चाहिए*।[1] यह कसौटी शायद उस शर्त का स्पष्ट रूप मात्र ही है जो साधनों को सम सीमान्त उत्पत्ति मिले इस रूप में प्रायः कही जाती है, किन्तु इसकी अधिक विशेषता यह है कि वस्तुओं को किसी भी पद्धति से मूल्य-भार (price weights) दिए जाएँ, इसमें अन्तर नहीं आता इसलिए यह सामान्य रूप में सब जगह लागू होती है।

अभी तक कोई तर्क-विषयक कठिनाई नहीं है, यद्यपि अविभाज्यताओं (indivisibilities), बाहरी किफ़ायतों और साधनों की परस्पर पूरकता के द्वारा खड़े किए गए प्रश्नों का जब हम विचार करते हैं तो उत्पादी-प्रशस्त (productive optimum) प्राप्त करने की नीति पर आचरण करने के मार्ग में अनेक औद्योगिक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। आर्थिक परम (absolute) की प्राप्ति के लिए प्रयास की दूसरी सीढ़ी अधिक जटिल है। उत्पादन प्रशस्तों में से हमें वह ढाँचा चुनना होगा जो हमें अधिकतम तुष्टि प्रदान करे। और यहाँ

---

१. एक अधिक स्पष्ट किन्तु मूलतः इसी प्रकार की परिभाषा के लिए देखिए: P.A. Samuelson, Foundations of Economics, अध्याय ७, विशेषरूप से पृष्ठ २३०.

हमारे सामने समस्या आ खड़ी होती है कि एक व्यक्ति के समाधान की दूसरे के समाधान के साथ तुलना कैसे की जाए ? उपयोगिताओं की अतुलनीयता की उलझन में से निकलने का सब से सीधा दिखाई देनेवाला रास्ता है—क्षतिपूर्ति (compensation) के द्वारा। यदि वस्तुओं का कोई पुर्नवितरण एक व्यक्ति को पहले से इतना अधिक सन्तुष्ट कर दे कि वह दूसरे व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कर के भी प्रारम्भ से अधिक सन्तुष्ट[1] रह जाए तो दोनों को मानना होगा कि परिवर्त्तन लाभकारी रहा है। तुष्टियों के अधिकतमकरण "उपयोगिता प्रशस्त" (utility optimum) का अब उत्पादन आदर्श के समान ही स्पष्ट वर्णन किया जा सकता है। *उपयोगिता अधिकतम तब होता है जब एक व्यक्ति की तुष्टि कम किए बिना दूसरे की तुष्टि बढ़ाना (उसकी स्थिति सुधारना) असंभव हो, अर्थात्* क्षतिपूर्त्ति के लिए अवकाश छोड़ने के बाद।

उपयोगिता प्रशस्त स्पष्टतया हमें नीति के दिशा-निर्धारण की ओर आगे ले जाता है क्योंकि यह अन्तिम लक्ष्य को भी हमारी दृष्टि में ला देता है, जो कि है—वास्तविक आय न कि वास्तविक उत्पादन। यह किस उपाय से करता है वह ? उत्पादन के संगठन में अन्यथा जो स्वतन्त्रता रहेगी उसको हटा कर। उपयोगिता कसौटी जैसी ही एक और वस्तु की खोज की गई है—सम-सीमान्त सामाजिक शुद्ध उपज (equi-marginal social net products)। परन्तु सामाजिक शुद्ध उपज की कल्पना में बहुत सी ऐसी मात्राएँ आती है जो मापी नहीं जा सकती इसलिए प्रत्यक्ष नीति के आधार के रूप में उसका उपयोग कठिन है। उत्पादन और उपयोगिता – दोनों के प्रशस्त (optima) जिस रूप में अभी कहे गए है, सांख्यिकीय और अर्थमितीय (econometric) जाँचों में काम आ सकते हैं और इस प्रकार नीति के व्यावहारिक निर्देश भी बन सकते हैं।

वैसे तो यह स्पष्ट है किन्तु शायद इस पर बल देना उचित होगा कि दोनों कसौटियों को प्रावैगिक (dynamic) अर्थ में लेना चाहिए। जिस उत्पादन को अधिकतम किया जाना है वह इस वर्ष या अगले वर्ष का नहीं है,

---

१. अर्थशास्त्र की भाषा में, "अपने तटस्थता चित्र में अधिक ऊँचे बिन्दु पर।"

बल्कि एक भावी उत्पादन प्रवाह का वर्त्तमान मूल्य है, किसी भी ऐसे दर से कटौती (discount) करके जो व्यक्ति की नश्वरता और समाज की अमरता के मध्य में समझौते के रूप में स्वीकार किया जा सके। इसी प्रकार उपयोगिता प्रशस्त की कल्पना भी करनी चाहिए—कालान्तर में प्राप्त होने वाले एक तुष्टि प्रवाह के रूप में। इस प्रशस्त की ओर प्रगति के तौर पर समाधान में जो वृद्धि होगी, उसमें से कुछ का ढंग तो होगा पहले से अनुभव की जा रही आवश्यकताओं के लिए अधिक अच्छा प्रबन्ध किन्तु बहुतेरा ऐसा क्षेत्र भी है जिसमें आवश्यकता-चेतना का विकास होगा जो अन्त में तुष्टि को अधिक उच्च स्तर पर पहुँचा देगी। इस क्षेत्र में सार्वजनिक प्राधिकारी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं।

३. **नीति का परिपालन** (The Implementation of Policy)—नीति के लिए कसौटी तय करने के बाद अब यह देखना होगा कि उसे नीति के वास्तविक निर्देशन में कैसे लागू किया जा सकता है। जैसे कि चाहिए, एक चालू कार्य के रूप में अर्थ-व्यवस्था को लेकर देखें तो हमारे पास साधनों की एक मात्रा होती है जो अल्पकाल में उनकी पूर्त्ति का सम्भाव्य होता है, अर्थात् वर्त्तमान उपकरणों की सहायता से उत्पादन के या विनिमय के द्वारा जो श्रम और पूँजी उपस्थित है, या शीघ्र उपलब्ध हो सकती है। उत्पादन-प्रशस्त के लिए प्रथम शर्त्त यह है कि ये साधन पूर्णतया और निरन्तर काम में लगे रहें। उसके बाद हमें उपयोगिता प्रशस्त को लागू कर के देखना होगा कि किस किस का इस्तेमाल ठीक किस तरह होना चाहिए।

किसी भी अर्थ-व्यवस्था में इस बात की सम्भावना सदा है कि असंख्य ऐसी योजनाएँ रहें जो उपयोगिता-प्रशस्त के अन्तर्गत रखी जा सकती हों—इस अर्थ में कि उनमें से प्रत्येक पृथक्-पृथक्, खोए हुए समाधान के लिए क्षति-पूर्त्ति देकर भी समाधान बढ़ा सकती हो और उसका व्यय निकालने के बाद बचत रह जाती हो। विभिन्न योजनाओं की इन बचतों की मात्रा के सापेक्ष अनुमान से, सिद्धान्त रूप में प्राथमिकताओं की एक निश्चित वस्तुनिष्ठ (objective) पद्धति बनाई जा सकती है। व्यय सम्बन्धी पर्याप्त सांख्यिकीय जानकारी हो

तो यथोचित परिशुद्धता (accuracy) से ऐसा करना सम्भव होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में कठिनाइयाँ आ सकती हैं, उदाहरणार्थ जहाँ न्यूनतम व्यय बहुत हों वहाँ असंततियों (discontinuities) के कारण। तो भी, अधिकांश में ऐसे सीमान्त-समायोजन करना सम्भव होना चाहिए जो नियन्त्रण की इकाई की दृष्टि से बड़े होते हुए भी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से मामूली हों।[1]

विषय को इस ढंग से रखने से प्रशस्तों को प्राप्त करने के कार्य में सार्वजनिक वित्त का यह महत्त्वपूर्ण कार्य स्वयमेव प्रकट हो जाता है। उत्पादन-प्रशस्त साधनों के प्रौद्योगिक दृष्टि से ठीक बँटवारे के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। और व्यवहार में कई कारणों से वैसा बँटवारा करना कठिन होता है। उदाहरण के लिए बाजारों के ऊपर एकाधिकारों का नियन्त्रण रुकावट पैदा कर सकता है। अपर्याप्त शिक्षा-पद्धति भी राष्ट्र की प्रज्ञा (talent) का सर्वोत्तम उपयोग होने के मार्ग में अड़चन बन सकती है। इस प्रकार की प्रौद्योगिक बाधाएँ वित्तीय साधनों के द्वारा, अर्थात् विशेष करों के अथवा विशेष प्रकार के व्यय के विकास के द्वारा आसानी से दूर की जा सकती हैं। फिर, समूचे सार्वजनिक वित्त के साथ सकल अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध के स्तर पर राजकोषीय नीति दो कामों की दृष्टि से निर्देशित हो सकती है, सार्वजनिक क्षेत्र को अर्थ-व्यवस्था में सहायक और संतुलन लाने वाला अंग बनाया जाए और निजी क्षेत्र की गतिविधियों को नीति की कसौटी की अनुकूल दिशा में प्रभावित किया जाए।

यह अनुभव में आएगा कि उत्पादन उपयोगिता-प्रशस्त राजनीतिक संगठन के प्रकार से अलिप्त हैं, सिद्धान्त रूप में बहुत भिन्न-भिन्न राजनीतिक रंग वाले शासन भी उनके लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं चाहे उपयोगिता-प्रशस्त के सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप शासन के प्रकार के साथ अवश्य बदलेगा।

अतः पुनरीक्षण करने के लिए कोई ऐसी संस्था चाहिए (जिसके लिए अन्ततः शासन उत्तरदायी रहेगा) जो नीति-सम्बन्धी कार्यक्रमों को तय करते समय वैयक्तिक कार्यों के "सामूहिक परिणामों" का जो कि व्यक्ति को दिखाई

---

१. आयोजन सम्बन्धी कठिनाइयों की अधिक चर्चा के लिए देखिए अध्याय १८।

नहीं देते, ध्यान करे। (उदाहरणार्थ 'क' के कार्यों का 'ख' पर जो असर होता है उसका 'क' ध्यान नहीं करेगा क्योंकि वे उसकी निजी लेखा पद्धति के अन्दर नहीं आते, न उपभोक्ता होने के नाते उपयोगिता लेखा में और न उत्पादनकर्त्ता के नाते फ़र्म के उत्पादन लेखा में।) उत्पादन के क्षेत्र में इस प्रकार के परिणाम बहुत दिनों से एक प्रकार की "बाह्य बचत" उसके उलट या अपव्यय माने जाते हैं किन्तु अब तक नीति में उनका विचार प्राय: बिलकुल नहीं किया गया। उपभोग के क्षेत्र में इस प्रकार के "सामाजिक" अथवा "पड़ौस के" परिणाम कम महत्त्व रखते हैं और अब तक उनकी तरफ़ बहुत थोड़ा ध्यान दिया गया है।[1]

इस प्रकार राज्य के, नीति का पुनरीक्षण और एकीकरण से सम्बन्धित कार्य चाहे प्रत्यक्ष विधानमण्डल द्वारा किए जाएँ या किसी प्रतिनिधि संस्था (जैसे विधान मंडलीय निर्देशन के अन्तर्गत कार्य करते हुए न्यायपालिका) के द्वारा, उनका राजकोषीय नीति से निकट सम्बन्ध होता है। वे इस प्रकार पूरे किए जाएँ कि समाज का पूर्ण समाधान हो इसके लिए आवश्यक है कि शासन जहाँ तक सम्भव हो, जनता की भावनाओं का सही प्रतिनिधित्व करे। यह अर्थशास्त्र के विषय की बात नहीं है कि कौन से ढंग का राजनीतिक संगठन इस शर्त को सब से अच्छी तरह पूरा करता है, उसी तरह जैसे नीति का ताना बाना पूर्ण करने के लिए आर्थिक के अतिरिक्त जो बाक़ी सूत्र होते हैं उनका निश्चय करना हमारा कार्य नहीं है। किन्तु अर्थशास्त्री की, नीति के अन्य सूत्रों के प्रत्यक्ष आचरण के लिए जिम्मेदारी होने के कारण उसे उनकी प्रकृति का ज्ञाता होना चाहिए।

नीति के कुछ आर्थिकेतर सूत्र व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। वास्तव में, तुष्टियों के अधिकतमकरण की उपयोगिता-प्रशस्त के अर्थ में हमने जो परिभाषा की है उससे वे हमें आगे ले जाते हैं। इसका प्रमाण इतनी बात में ही मिल जाता है कि समाज के घटक अपने

---

१. देखिए, Meade, "Mr. Lerner on the Economics of Control," *E. J.*, April 1945.

परिवारों व अपनी सन्तान की खातिर जिस प्रकार की व्यवस्था चाहते हैं उसे पाने के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार की नीति में एडम स्मिथ ने जिन मूलभूत शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का विचार कर के "सम्राट् के प्रथम और द्वितीय कर्त्तव्य" का उल्लेख किया था, वे भी सम्मिलित करनी होंगी। इस प्रकार की नीति के लिए यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि उसके लिए साधन बचाना सम्भव है या नहीं क्योंकि नीति के सामान्य प्रशस्तों की शर्त बने या न बने, किन्तु इसे पूर्वता मिलना आवश्यक है।

समाज में मनुष्य की इन मूलभूत आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताएँ भी होती हैं जो कुछ कम मौलिक होते हुए भी विशिष्ट समाजों के आदर्शों में बहुत गहरी बैठी हुई होती हैं और परिणामतः, नीति को क्रियान्वित करने के विषय में सलाह देते हुए अर्थशास्त्री को जिनका ध्यान होना चाहिए। वैसे यहाँ भी, नीति की तह में जो आदर्श हैं उन्हें उसको दी हुई सामग्री के रूप में स्वीकार करना होगा। इस प्रकार का एक नीति सूत्र जो ब्रिटेन में विशेष बल रखता है—सामाजिक न्याय का विचार है, जो वर्त्तमान पीढ़ी के काल में आय के पुनर्वितरण की मांग के रूप में प्रकट हुआ है किन्तु वैसे बहुत पुराने समय के कर-आदर्शों में भी दिखाई देता है।[1] इस नीति के संबंध में अर्थशास्त्री को एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य पूरा करना होता है। उसे समाज को प्रगति के विषय में सूचित करते रहना होता है, उदाहरणार्थ पुनर्वितरण के लिए उठाए गए किन्हीं विशिष्ट पगों (अथवा पुनर्वितरण की सामान्य गति) के क्रमशः उत्पादन और उपयोगिता-प्रशस्तों पर हुए परिणामों के संबंध में। इस प्रकार की नीति यदि चरम सीमा तक चलाई जाए तो प्रशस्तों की प्राप्ति के प्रयत्न के साथ उसका टकरा जाना संभव है। ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्री के विवरण को लेकर, यह कार्य शासन का है कि परस्पर-विरोधी लक्ष्यों में से चुनने का निर्णय करे। इससे भिन्न प्रकार की नीतियों का भी चाहे वे बहुमत की पसन्द की हों, प्रशस्तों की साधना के साथ अधिक जोर का संघर्ष हो सकता है। (उदाहरण के लिए हम किसी

१. देखिए, अध्याय ८।

ऐसे उद्योग की स्थापना का निश्चय ले सकते हैं जिसके लिए परिस्थिति अनुकूल नहीं।) इस प्रकार की नीति को अपनी कसौटी पर बड़ी सावधानी से तोलना जरूरी है। दुर्भाग्य से, यह बहुमत के अधिकार में होता है कि ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रयास करके जिनके वास्ते साधन उपलब्ध नहीं, एक अर्थ-व्यवस्था को सदा के लिए हानि पहुँचा लें।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होगा कि किसी विकसित समाज में नीति के बड़े क्षेत्र का निर्णय आर्थिक पहलुओं से होता है। इस प्रकार सार्वजनिक वित्त की कला नीति को क्रियान्वित करने के अन्य उपायों के साथ स्थान पा लेती है, जिन में एक ओर तो प्रत्यक्ष नियन्त्रण (राशन व्यवस्था, निर्देशन और अनिवार्य भरती) है और दूसरी ओर मुद्रा-संबंधी नीति के द्वारा निजी उत्पादन और उपभोग का परोक्ष नियन्त्रण है।

नीति को क्रियान्वित करने के ये तीन उपाय—सार्वजनिक वित्त, प्रत्यक्ष नियन्त्रण और मुद्रा-प्रबन्ध परस्पर बहुत निकटता का सम्बन्ध रखते हैं। व्यवहार में वे प्रायः एक दूसरे के समर्थन व अनुपूरण के लिए प्रयोग किए जाते हैं, जैसे युद्ध-काल में आवश्यक खाद्यों पर साहाय्यों के समर्थन के लिए राशनिंग प्रणाली लागू की जाती है। सार्वजनिक वित्त और मुद्रा-नीति का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ है क्योंकि दोनों का आघात मुद्रा-संस्थाओं और विशेषतया पूँजी बाज़ार पर होता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुद्रा के राजकोषीय प्रयत्न परस्पर-विरोधी न हों, पूरक हों। इस गहरे सम्बन्ध के होते हुए भी नीति को क्रियान्वित करने के दोनों उपायों का क्षेत्र स्पष्टतया भिन्न है; मुद्रा नीति के लिए तो पूँजी बाज़ार और मुद्रा संस्थाओं पर होने वाला प्रभाव **लक्ष्य** ही होता है जबकि सार्वजनिक वित्त का वह *परिणाम* हाता है।

नीति क्रियान्वित करने के इन तीन उपायों में सार्वजनिक वित्त सबसे प्रभावी, और जहाँ ठीक तरह से काम में लाया जा सके, प्रायः लाभदायक ही होता है। कारण, एक तो सामान्य काल में मौलिक स्वाधीनताओं पर चोट पहुँचाए बिना प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के लिए अवकाश ही बहुत नहीं होता, दूसरी ओर

राजकोषीय नीति में मुद्रा-नीति की अपेक्षा यह लाभ होता है कि वह जिस स्थान पर प्रेरणा (incentive) या दबाव की ज़रूरत हो. ठीक उस जगह लागू की जा सकती है जबकि मुद्रा नीति का इसके विपरीत, सारी अर्थव्यवस्था में सोंटा चलाते फिरने का स्वभाव है।

और भी, जहाँ मुद्रा नीति परोक्ष प्रभाव के द्वारा ही कार्य कर सकती है, राजकोषीय नीति इच्छानुसार, तुष्टियों के प्रत्यक्ष निर्माण के लिए भी चलाई जा सकती है। और निजी क्षेत्र के उत्पादन के उद्दीपन (प्रेरणा) अथवा नियन्त्रण के द्वारा परोक्ष निर्माण के लिए भी। जैसे, राजस्व संग्रह के विशिष्ट उपायों का परिणाम प्रति-व्यक्ति आय को बढ़ाने में भी हो सकता है (उदाहरणार्थ औद्योगिक कुशलता को बढ़ा कर), और बाजार में पसन्द (preferences) को अधिक अच्छी तरह प्रकट करने में (उदाहरणार्थ मूल्यों को सीमान्त लागतों के अधिक समीप ला कर)। साथ ही साथ इस राजस्व का व्यय प्रशस्तों (optima) की ओर प्रगति को बढ़ाता है (उदाहरणार्थ अधिक अच्छी गृह-व्यवस्था अथवा शिक्षा के द्वारा उपयोगिता-आदर्श का गतिशील विकास हो सकता है।)

यद्यपि आर्थिक विश्लेषण के आधुनिक विकास की सहायता से ही हम आज नीति की कसौटी ठीक तरह तय कर सकते हैं, किन्तु जब संसद् को अन्ततः राजस्व पर पूर्ण नियन्त्रण मिला, सत्रहवीं शताब्दी के उसी क्षण से, ब्रिटिश राजकोषीय नीति के निर्माताओं के दिमाग में मोटे तौर पर वह रहा यह दिखाया जा सकता है। किन्तु उन्नीसवीं सदी के काफ़ी बीतने तक भी प्रशस्तों की खोज लगभग पूर्णतया करों की ओर ही जारी रही। यह होना ही था क्योंकि राजस्व का अधिकांश समाज की मूलभूत (आर्थिकेतर) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लग जाता था जिनको, जैसा हमने देखा, बाकी आवश्यकताओं पर पहल दी ही जानी चाहिए। अत. अभी-अभी तक सार्वजनिक वित्त के आदर्श जो भी थे वे कर-आपात के सिद्धान्त में ही थे। ग्लैडस्टन युग से पहले यह समझा तक नहीं जाता था कि सारी कर-रचना को

नीति की दृष्टि से एक इकाई के रूप में लिया जा सकता है या लेना चाहिए।

एक बार प्रत्येक अंग के बारे में पृथक्-पृथक् सोचने के स्थान पर संपूर्ण कर-रचना के बारे में इकट्ठा विचार करना सम्भव हो जाने के बाद कर-रचना सम्बन्धी नीति के विषय में एक अधिक विशाल दृष्टिकोण प्राप्त हो गया। ऐसा दिखाई देने लगा कि स्वयं कर-रचना का भी नीति के साधन रूप में प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि कर-आपात (tax incidence) के सिद्धान्त पर ही मुख्यतः बल दिया जाता रहा, इसलिए सार्वजनिक वित्त की नीति पर १९ वीं शताब्दी का सब से प्रमुख परामर्श यही था कि सार्वजनिक क्षेत्र को यथा-सम्भव छोटा रखा जाय। १९ वीं शताब्दी के मध्य में जबकि जन-संख्या और बाज़ारों का अधिक तेज़ी से विस्तार हो रहा था, यह आर्थिक दृष्टि से बहुत अच्छा था। निजी उद्यम के विस्तार के लिए महान् अवसर थे। इसलिए क्रिया-शीलता का उच्च स्तर प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं थी। अपर्याप्त परिवहन साधनों और एक अविकसित नागरिक सेवा वाले सार्वजनिक क्षेत्र के लिए यह सम्भव भी नहीं था कि वह नीति में सक्रिय भाग ले सके।

जैसा कि प्रायः होता है, सार्वजनिक क्षेत्र को कम करने की नीति उस स्थिति में अधिक काल तक जीवित रही जिसमें कि यह देखने में आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होती थी, परन्तु जब तक सामाजिक और आर्थिक व्यय के विचार अपेक्षाकृत अविकसित थे, सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का क्षेत्र सीमित ही रहा।

समग्र रूप में सार्वजनिक वित्त के प्रभावों का आधुनिक विश्लेषण और अर्थ-व्यवस्था में राजकोषीय नीति का स्थान उस व्यापारिक गतिविधि के सिद्धान्त के विकास के शीघ्र बाद आता है जो कि विशेषतः विकसैल और स्वीडन में उसके शिष्यों के नाम के साथ और इसके थोड़े समय बाद ब्रिटेन में लार्ड कीन्स और दूसरे व्यक्तियों के साथ संबद्ध है; इन नए सिद्धान्तों का सर्व-

प्रथम स्वीडन में सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में प्रयोग किया गया।[1]

नये विश्लेषण का व्यावहारिक प्रयोग इस स्थिति में उत्पन्न हुए दो नये कारकों पर आश्रित था, पहला तो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थाओं में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार (व्यापारिक सेवाओं और सार्वजनिक नियोजन के अन्य रूपों की अभिवृद्धि तथा सामाजिक सेवाओं के विकास के कारण); दूसरे १६ वीं शताब्दी के कठोर स्वर्णमानक के एक बार परित्याग के बाद अर्थ-नियन्त्रण के लिए एक अधिक अच्छे तकनीक की प्राप्ति। इस दूसरे परिवर्त्तन के बिना नीति-सम्बन्धी नवीन परिवर्त्तन में, आर्थिक पक्ष की ओर संकट का भय था।

---

१. १६२८ से आर्थिक नीति द्वारा अर्थ-व्यवस्था के नियन्त्रण पर ऐरिक लिण्डाल के खोजपूर्ण ग्रन्थ के बाद गुन्नर मिर्डल का "The Economic Effects of Public Finance" देखें। इन विश्लेषणात्मक विकासों से उत्पन्न वैचारिक क्रान्ति पर और अधिक विचार-विमर्श के लिए १७ वाँ अध्याय देखिए।

अध्याय ८

कर-आदर्श

(Tax Ideals)

१. ब्रिटिश कराधान के सिद्धान्त (The Principles of British Taxation)—जब कोई वित्त मन्त्री, इसका चुनाव कर रहा होता है कि उसके बजट में कौन-कौन से कर रहें तब उसके मन में किन बातों का विचार रहना चाहिए ? यह प्रश्न हर नागरिक पर प्रभाव डालता है इसलिए सार्वजनिक वित्त में प्रायः सब से पहले इसी की ओर ध्यान जाता है। इंगलैंड में कर-संबंधी आदर्शों के बारे में विचारों की एक दीर्घ परम्परा देखी जा सकती है। कुछ विशिष्ट करों को लेकर एक-एक के कार्य का आधिक विश्लेषण करने से पहले यह देखना लाभदायक होगा कि समय-समय पर जो आरोपण वास्तव में लागू होते रहे हैं उनके पीछे कौन से सामान्य सिद्धान्त थे।

कोई वित्त मन्त्री किसी कर को स्वीकार करने से पूर्व, स्थूल रूप में तीन प्रकार के प्रश्न पूछ सकता है। एक तो वह यह पूछ सकता है कि सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजस्व संग्रह करने के अतिरिक्त क्या कोई और भी हेतु उनसे पूरा हो सकता है, और हां सकता है तो क्या। दूसरा, वह उनके भार का वितरण किस प्रकार होगा, इसके बारे में पूछ सकता है, अर्थात् जनता के किन वर्गों से वास्तव में राजस्व का अधिकांश आएगा। तीसरा उसे उनकी एक नैपुण्य परीक्षा लेनी होगी, यह देखने के लिए कि एक निश्चित राजस्व संग्रह के लिए सब से कम खर्च और प्रभावी उपाय कौन से हैं, अथवा अन्य निश्चित उद्देश्यों की दृष्टि से कौन-कौन से कर योग्यतम हैं।

कम से कम सोलहवीं शताब्दी से तो, ब्रिटिश संसदों द्वारा जो कर चुने गए उनसे प्रायः इन प्रश्नों के काफी स्पष्ट उत्तर लिये गए। उत्तर तीन

सिद्धान्तों के रूप में कहे जा सकते हैं। प्रथम, राजस्व का मुख्य उद्देश्य सार्व-जनिक सेवाओं के लिए वित्त की व्यवस्था होनी चाहिए इसलिए इस विचार से जो कर सब से अधिक काम के हों उनको चुना जाना चाहिए। तो भी किन्हीं परिस्थितियों में यह संभव है कि कुछ ऐसे कर चुने जाएँ जिनका मुख्य हेतु किसी स्वीकृत गौण उद्देश्य को पूरा करना हो जैसे, उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय लेखा में भुगतान-शेष अथवा बैलेंस आफ़ पेमैन्ट्स (Balance of Payments) की स्थिति सुधारना, या किसी अवाँछनीय प्रकार के उपभोग-व्यय को रोकना। द्वितीय सिद्धान्त यह है कि नागरिकों पर उनकी देने की क्षमता के अनुपात में कर लगने चाहिएँ। वह ऐसी कसौटी है जिसमें व्यक्ति की पारिवारिक परिस्थिति तथा धन—दोनों का कुछ ध्यान रहना चाहिए। तृतीय-कर सर्वव्यापी होने चाहिएँ अर्थात् एक समान अवस्था के नागरिकों के मध्य व्यक्ति-व्यक्ति में भेद किए बिना वे लागू किए जाने चाहिएँ।

नीति के उद्देश्यों की दृष्टि से जिनकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर रहे थे, इन सिद्धान्तों में से पहला उत्पादन की कसौटी से संबंधित माना जा सकता है। किसी भी दी हुई परिस्थिति में, उत्पादन प्रशस्त (production optimum) केवल योग्यतम करों के उपयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। कोई देश यदि राजस्व के द्वारा बहुत से गौण उद्देश्यों को एक साथ प्राप्त करने का यत्न करेगा तो लगभग निश्चित है कि वह प्रशस्त प्राप्त करने की आशा कम कर लेगा। दूसरा सिद्धान्त सामाजिक न्याय के प्रश्न के साथ संबंधित है, किन्तु वह उपयोगिता के मानदण्ड से भी संबंध रखता है। "क्षमता" का ठीक अर्थ लगाते समय अनिवार्य रूप से मतभिन्नता प्रकट होती है। सवाल यह होता है कि जिन विभिन्न कारकों पर क्षमता निर्भर मानी जा सकती है उनको कितना-कितना सापेक्ष महत्त्व (भार) दिया जाए। इस प्रश्न को व्यक्ति-निरपेक्ष रूप से तय नहीं किया जा सकता, अर्थात् सिद्धान्त की व्याख्या नीति का प्रश्न ही रहेगा जिसका निर्णय करना संसद् का काम होगा। दूसरे सिद्धान्त का अर्थ स्वाभाविकतया, आर्थिक व सामाजिक विकास की अवस्था के साथ बदलता रहा है।

तीसरा सिद्धान्त भी एडम स्मिथ के कहे हुए "दूसरे कर्त्तव्य" के द्वारा सामाजिक न्याय की धारणा से सम्बन्धित है। ब्रिटिश दृष्टिकोण की यह एक विशेषता है कि इस पहलू की ओर बहुत ध्यान दिया गया है और जो कर अन्यथा स्वीकार किए जा सकते थे, निन्दा योग्य समझे गए बल्कि छोड़ भी दिए गए, यदि वे इस दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं बनाए जा सकते थे। तीसरा सिद्धान्त नैपुण्य-परीक्षा से भी सम्बन्धित है चाहे बहुत स्पष्ट रूप से नहीं। वैसे पुरानी चर्चा में इस को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया किन्तु एडम स्मिथ द्वारा बनाए गए कर-सिद्धान्तों में उक्त सम्बन्ध अधिक स्पष्ट कर दिया गया।

सार्वजनिक राजस्व के अध्याय में एडम स्मिथ ने कराधान के चार सिद्धान्त या नियम घोषित किए हैं जिन्हें इतनी प्रसिद्धि मिली है कि जिसकी उनमें पात्रता मानना कठिन है क्योंकि वे उस समय की विचारधारा का ही प्रतिबिंब हैं। पहला तो केवल वितरण-सिद्धान्त की पुनरुक्ति ही है। दूसरा और तीसरा सिद्धान्त क्रमशः यह कहते हैं कि कर सुनिश्चित होने चाहिएँ स्वैच्छिक नहीं, और संग्रह का समय करदाता की सुविधा के अनुसार रखा जाना चाहिए—जो कुछ तो फिर से समता का प्रश्न है और कुछ निपुणता का। चौथा सिद्धान्त मितव्ययिता से सम्बन्ध रखता है। वह कहीं अधिक रोचक है और पूरा उद्धृत करने योग्य है: "प्रत्येक कर की रूपरेखा ऐसी होनी चाहिए कि लोगों की जेबों से जितना लिया और रोका जाता है तथा शासन के कोष में जितना पहुँचता है, इन दोनों में अन्तर कम से कम हो।"

यहाँ एडम स्मिथ के मन में संभवतया उस समय के कतिपय करों का संग्रह करने में होने वाले भारी व्यय से सम्बन्धित कुछ प्रश्न थे (जैसे ऊँचे सीमा शुल्क (customs) जिनसे बच कर होने वाले अवैध व्यापार को रोकने के लिए राजस्व अधिकारियों की एक पूरी सेना आवश्यक होती थी)। बाद के आर्थिक विश्लेषण ने प्रकट किया है कि करदाता की हानि व राजस्व के लाभ के मध्य के अन्तर को न्यूनतम करने के सिद्धान्त से, करों के लिए एक महत्त्व-पूर्ण कसौटी प्राप्त होती है जो न केवल उत्पादन-प्रशस्त की दृष्टि से ही

महत्त्वपूर्ण है, बल्कि उपयोगिता मानदंड की दृष्टि से और भी अधिक ।[1]

स्मिथ के सिद्धान्तों से यह तो स्पष्ट है कि उनको किसी नैपुण्य-परीक्षा की आवश्यकता अनुभव होती थी। उन्होंने उसे अधिक स्पष्ट रूप में नहीं कहा। इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं रहता जब हम यह सोचते हैं कि उन दिनों में किसी ऐसे कर का भी जो सिद्धान्त रूप से अच्छा हो, व्यवहार में सन्तोषजनक होना कठिन था क्योंकि निर्धारण और संग्रह में बहुत कठिनाइयाँ थीं। स्मिथ आय-कर के बड़े उग्र विरोधी थे, जो कि वैसे उनके सिद्धान्तों के पूर्णतया अनुकूल दिखाई देगा। इसका कारण सम्भवतः उनका यह विश्वास होगा कि व्यवहार में वह अनिश्चित और निरंकुश रहेगा।

आज कुशल राजकोषीय प्रशासन की एक शताब्दी के बाद, ऐसा मालूम होगा कि कराधान के जो सिद्धान्त हमने ऊपर कहे हैं वे इतने स्वतःसिद्ध हैं कि उन्हें आदर्शों के रूप में प्रतिष्ठित करने का कोई अर्थ नहीं है। परन्तु उन पर इस देश में भी सदा भली प्रकार आचरण नहीं हुआ और अन्यत्र तो कई बार नीति पर बहुत भिन्न आदर्शों का प्रभाव रहा है। प्रत्येक देश के इतिहास में इस प्रकार के दृष्टान्त सुलभ हैं जब राजस्व को विशिष्ट हितों के लाभ के लिए विकृत किया गया, जैसे विदेश अथवा औद्योगिक नीति के क्षेत्र में। इसका सब मिला कर परिणाम अधिकतर अवस्थाओं में यह हुआ है कि विशिष्ट समूहों की खातिर कुल उत्पादन को हानि पहुँची। एडम स्मिथ के दिनों में ब्रिटिश कर-रचना में इस प्रकार के आरोपणों व साहाय्यों की भरमार थी जो भिन्न-भिन्न समयों पर विशिष्ट हितों के लाभ के लिए लगाए गए थे। बहुत अंश में इसी कारण नैपोलियन के विरुद्ध हुए युद्धों के लिए पर्याप्त राजस्व उपलब्ध कराने में वह बुरी तरह असफल रही।[2]

उसी समय फ्रांस में कर-रचना ने बहुत अधिक मात्रा में एडम स्मिथ के सिद्धान्तों का उल्लंघन किया। यह कुख्यात है कि पूर्वकाल (ancien regime) में अधिकतर कर निर्धनों पर आरोपित किए जाते थे और रईस व धनी व्यक्ति

१. देखिए अध्याय १०, अनुभाग ३०।

२. आय-कर के प्रारम्भ तक।

बहुत कुछ करों से मुक्त ही रहते थे। समाज के विभिन्न वर्गों में व राजस्व के बँटवारे को विकृत करने का एक बड़ा सामान्य ढंग रहा है—राज्य कर्मचारियों को आय करों से मुक्त रखना और इस प्रकार उन्हें एक विशेष कृपापात्र वर्ग बना देना। जहाँ यह है वहाँ प्रायः इन विशेष अधिकारों के साथ उन्हें सामान्य न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से भी बाहिर रखा गया। जर्मनी का इतिहास और फ्रांस का भी उन बुराइयों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है जो इन खास अधिकारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

एक और सामान्य राजकोषीय विशेषाधिकार रहा है राष्ट्रीय ऋण के व्याज की आयकर से मुक्ति। सयुंक्त राज्य में यह व्यवस्था परम्परा से है। आज संघटक राज्यों का इतना ऋण कर-मुक्त है कि अमरीकी करोड़पति अपना धन सार्वजनिक ऋण में लगाकर उपरि-कर की कठोरता से बहुत कुछ बच जाते हैं। इस त्रुटि से ब्रिटिश कर-रचना भी सदा पूरी तरह बची नहीं रही[1] किन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस देश ने जिस प्रकार कानून के क्षेत्र में विशेषाधिकार को सहन नहीं किया, वैसे ही राजकोषीय विशेषाधिकार को भी नहीं सहा। पिट्ट ने जब राष्ट्रीय ऋण-व्याज और शासन-कर्मचारियों के वेतन को बिल्कुल अन्य आय के समान ही आय-कर के अधीन किया तो इसी तथ्य से यह निश्चित हो गया कि जब आय-कर, कर-रचना का एक स्थायी अंग बनेगा तो उसमें ऐसे कोई विशेषाधिकार नहीं रहेंगे।

२. कर-आदर्शों का विकास (The Development of Tax Ideals)—परन्तु सिद्धान्त तय करना एक बात है और उन्हें क्रियान्वित करना दूसरी। समय-समय पर ब्रिटेन में जो कर लगाए जाते रहे है, वे कहाँ तक इन आदर्शो पर पूरे उतरते है? इस बारे में अत्यन्त संक्षेप[2] में ही यहाँ विचार किया जा

---

१. १९१४-१८ के महायुद्ध में कुछ युद्ध-ऋण कर-मुक्त रखे गए। देखिए U. K. Hicks, The Finance of British Government, cit., Chapter XX.

२. इस क्षेत्र में अभी बहुत शोध कार्य की जरूरत है। पहले काल के लिए W. Kennedy, English Taxation, 1640 to 1799 अमूल्य है। प्रथम आय कर पर A. Hope Jones, The Income Tax in the Napoleonic Wars

सकता है क्योंकि उससे थोड़ा भी अधिक करने पर हम अपने वर्त्तमान रास्ते से भटक कर कहीं दूर निकल जाएंगे। किन्तु इतना संक्षिप्त विचार भी आज तक जो पर्याप्त ध्यान कर आदर्शों की ओर, विशेषकर समान वितरण के आदर्श की ओर दिया गया है, उस पर प्रकाश डालेगा।

— एलिजाबेथ प्रथम के समय से पूर्व प्रारम्भ करने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि परम्परा की जड़ें सम्भवतया उससे काफ़ी पहले भी खोजी जा सकती हैं।[1]

सोलहवीं और सत्रहवी शताब्दियों में कर-राजस्व के दो स्रोत थे, व्यय पर अनेक प्रकार के आंशिक कर और सम्पत्ति पर एक सामान्य कर। इस काल के शुरू में इन आंशिक करों में से अधिकांश आयात की गई वस्तुओं पर लगते थे और इस कारण तत्कालीन सिद्धान्त के अनुसार सामान्य वितरण-सम्बन्धी धारणाओं से परे थे क्योंकि यह माना जाता था कि वे आयात करने वालों द्वारा दिए जाते हैं, और उन्हें नौसैनिक व्यय के लिए पृथक् रक्षित कर रखा गया था। राजस्व की आवश्यकता बढ़ने और सीमा-शुल्कों की संख्या बढ़ने के साथ इस सिद्धान्त पर विश्वास बनाए रखना कठिन हो गया और आयात-करों के वितरण-सम्बन्धी प्रभावों की ओर ध्यान देना जरूरी हो गया। अधिकांश में प्रयत्न यह था कि उन्हें "अच्छी व कोमल वस्तुओं" जैसे रेशम, मदिराओं और तम्बाकू पर केन्द्रित किया जाए जिनके करारोपण से निर्धनों को बहुत चोट लगने की सम्भावना न हो।[2]

वितरण-सम्बन्धी सिद्धान्त की मुख्य रुचि सम्पत्ति के सामान्य कर में थी।

ने नया प्रकाश डाला और बाद के विकास पर F. A. Shehab, Progressive Taxation ने।

१. मध्ययुगीन १० वां और १५ वां, हेतु से सम्पत्ति के अनुपात में थे। १३८१ के पोल टैक्स (poll tax) कांड से प्रकट होता है कि इतने पुराने समय में भी निर्धनों पर करारोपण तूफ़ान खड़ा कर सकता था। स्थानीय दर के आधार के निरन्तर विकास की भी तुलना कीजिए (Cannan, History of Local Rates)।

२ यह ध्यान रखना चाहिए कि कर विषयक अंग्रेज़ी सिद्धान्त में सर्वत्र, "निर्धन" का अर्थ है शारीरिक-श्रमिक-वर्ग, न कि निर्धन-सहायता पाने वाले लोग।

इसका हेनरी अष्टम ने "साहाय्य" के नाम से सुधार किया था। आय पर पौंड में ४ शिलिंग अथवा आय के स्रोत के पूंजीगत मूल्य पर २ शिलिंग ८ पैन्स के हिसाब से दायित्व निश्चित किया गया था। यह समझा जाता था कि कर मुख्यत: धनवानों या "मध्य वालों" पर पड़ता है। निर्धनों को मुक्त करने का एक क्रमिक ढंग दिखाई देता है जो एलिजाबेथ के राज्यारोहण तक पूर्ण हो गया। दुर्भाग्य से, सार्वजनिक सेवा साहाय्य के उद्देश्य को जारी नहीं रख सकी और शताब्दी के अन्त तक अंशदान "रूढ़िबद्ध" (रूढ़ निर्धारणों से बँधा हुआ) हो गया। इसका परिणाम था राजस्व से संग्रह होने वाली राशि में क्रम वर्धमान न्यूनता।

गृह-युद्ध की धन-विषयक आवश्यकताओं के कारण साहाय्य को दोबारा जारी करने के लिए एक के बाद एक प्रयत्नों की एक श्रृंखला हुई जिनमें से सब से महत्त्वपूर्ण था १६४५ का संसदीय "मासिक परिगणन।" इस समय सभी निर्धारणों के लिए आय का आधार स्वीकार किया गया; किन्तु प्रशासन का कार्य अधिक से अधिक सरल बनाने के लिए, जितने करदाताओं के लिए संभव हुआ श्रेणी या पद के अनुसार निर्धारण किया गया, केवल शेष बचे हुओं का वेतन अथवा अन्य आय से निर्धारण हुआ। जल्दी संग्रह के लिए यह जरूरी समझा गया कि स्थानिक निर्धारकों पर ही निर्धारण की योग्यतम प्रणाली चुनने का काम छोड़ा जाए, और शीघ्र ही यह आवश्यक अनुभव हुआ कि प्रत्येक ज़िले के नाम पर एक निश्चित न्यूनतम राजस्व लगा दिया जाए। इससे जल्दी ही कर एक खेदजनक अधोगति को प्राप्त हो गया और देश के विभिन्न भागों में इसके बोझ में भारी असमानता हो गई।

सम्पत्ति के सामान्य कर की इस दूसरी अधोगति के कारण, विलियम तृतीय के समय में जब राजस्व की आवश्यकता फिर से तीव्र हुई तो अधिक सुधार का प्रयत्न करना जरूरी हो गया। नई "सामान्य सहायता" के पीछे भी अभिप्राय "वार्षिक लाभ के अनुसार" एक अनुपाती कर का ही था। व्यवहार में इसका निर्धारण तीन प्रकार होता था—वेतनों पर प्रत्यक्ष, चल सम्पत्ति से प्राप्त आय पर परोक्ष—पूंजीगत मूल्य पर प्रतिशत आरोपण कर के और अन्त

में स्थावर सम्पदा से प्राप्त आय पर किसानों से कर संग्रह कर के, जो उसे अपने किराए में से काट लेते थे।[1] शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अभी भी वैयक्तिक सम्पत्ति की आय पर कर-संग्रह करना प्राधिकारियों के बूते के बाहर की बात है, जिससे वास्तव में "सहायता" एक भूमि-कर ही बन गई। पूरी अठारहवीं शताब्दी में वह राजस्व का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत रहा; और आज भी कुछ पुराने मकानों पर दिया जा रहा है जिन पर वह कभी एक इकट्ठे भुगतान द्वारा पूरा चुका नहीं दिया गया, (परन्तु अब उसका कोई राजकोषीय महत्त्व नहीं रहा है)।

इन प्रयत्नों से स्पष्ट है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में विधान-मण्डल की यह इच्छा थी कि राजस्व का एक बड़ा भाग कर देने की क्षमता के अनुपात में लगाए गए एक सामान्य कर के द्वारा प्राप्त किया जाए। समकालीन लेखों से यह प्रतीत होता है कि प्रायः धन और पारिवारिक परिस्थितियों का भी उसमें कुछ ध्यान रखा जाता था।[2] जो स्वरूप अन्त में बना वह वास्तविक सम्पत्ति की आय पर आंशिक कर का था। यह कुछ हद तक उस अपेक्षाकृत सरलता के कारण था जिससे इस स्रोत की आय का निर्धारण और कर संग्रह हो सकता है। साथ ही, भूमि ही पर्याप्त अन्तर से आय का सब से बड़ा स्रोत रही, जब तक उन्नीसवीं सदी का भी एक भाग निकल नहीं गया, जिससे कि अगर वास्तविक रीति से सामान्य कर लागू किया जाता तो उसकी प्राप्ति का भी अधिकाँश भूमि से ही आता। कर का आंशिक होना अठारहवीं शताब्दी के काफी बीत जाने तक किसी बड़ी शिकायत का विषय नहीं बना।

इस में कोई सन्देह नहीं कि ये "सामान्य" कर मुख्यतः धनी लोगों पर ही पड़ते थे और निर्धन प्रायः मुक्त ही थे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की

---

१. जैसे आजकल अनुसूची 'ए' का आयकर संग्रह किया जाता है, बिलकुल उसी तरह।

२. उदाहरणार्थ तुलना कीजिए, Gibbons, Discourse on the Diminution of the Subsidy, (Kennedy, उ० ग्र० में उद्धृत), "निर्धारकों को व्यक्ति के परिवार के भार को देखना चाहिए तब ही वे ठीक बता सकते हैं कि उसकी क्षमता के अनुसार कितना कर उस पर लगना चाहिए।"

नीति का परिणाम इस धारणा को स्थिर करने में हुआ कि न्याय्य कर-वितरण के लिए आय ही उपयुक्त मापदण्ड है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर भाग और अठारहवीं के पूर्व भाग में दीर्घकालीन युद्धों के परिणामस्वरूप राजकोष पर पड़े भार के कारण राजस्व के एक नए स्रोत की खोज आवश्यक हो गई। यह मिला देश में बनी वस्तुओं के उत्पादन पर लगे करों के रूप में जो "उत्पादन शुल्क"[1] कहलाते हैं। असाधारण कठिनाई और व्यय-भार के दिनों में (जैसे 'कामनवेल्थ' के राज्य में और फिर मार्लबरो के युद्धों के समय) अधिकतर निर्धनों द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं (विशेष रूप से 'बीयर' मदिरा, चमड़ा और नमक) पर भी मुक्त भाव से उत्पादन शुल्क लगाए गए। प्रारम्भ में वे राजकोष की विशेष तंगी के कारण स्वीकार किए गए, और बाद में उन्हें उनकी निष्पक्षता के कारण चलने दिया गया, और तत्पश्चात् यह युक्ति दी जाने लगी कि उत्पादन-कर आखिर वितरण-दृष्टि से भी असंतोषजनक नहीं है क्योंकि निर्धन परिवारों की अपेक्षा धनी परिवार कर-ग्रस्त वस्तुओं को प्रति व्यक्ति अधिक मात्रा में खरीदते हैं। बहुत थोड़े मस्तिष्क इतना स्पष्ट विचार कर सकते थे कि उत्पादन-कर फिर भी असंतोषजनक है जब तक धनवान *अनुपात* से निर्धनों की अपेक्षा अधिक नहीं खरीदते—जिसकी सम्भावना बहुत नहीं थी।

सामान्य उपभोग पर करों के पक्ष में एक अधिक प्रबल युक्ति लॉक के राजनीतिक दर्शन[2] से निकली जो अठारहवीं सदी का फैशन बन गया था। इसमें राज्य की कल्पना स्वेच्छा से बनाई गई एक संस्था के रूप में की गई जिसका केवल मात्र उद्देश्य प्रारम्भिक सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति है क्योंकि इन आवश्यकताओं में सबका हिस्सा ज़रूरी है इसलिए न्याय्य यही है कि प्रत्येक उनकी पूर्ति में अपना अंशदान दे चाहे कोई कितने भी छोटे दरजे

१. इस सीमित अर्थ में "उत्पादन शुल्क" शब्द का प्रयोग १६४३ में शुरू हुआ दिखाई देता है जब कर की यह प्रकार और नाम दोनों डच लोगों से लिये गए। संयुक्त राज्य में इस शब्द का अधिक सामान्य अर्थ जो इंगलैण्ड में पहले प्रचलित था, चलता रहा। देखिए O.E.D.

२. जिसका विवेचन Treatise on Government, 1690 में किया गया।

का व्यवित हो। यह विचार किसी भी समय पूर्ण मतैक्य से स्वीकार नहीं किया गया,[1] संसद् में (जिसके अधिकतर सदस्य ज़मींदार थे) सदा ही निर्धनों के हित में सजीव रुचि ली जाती रही क्योंकि उसी श्रेणी में से अधिकतर सदस्यों के कृषक थे और इस कारण उन पर कर लगाने में एक स्वाभाविक झिझक थी।[2]

अतः यह विचार कि कर-अंशदान कर देने की क्षमता के अनुसार निर्धारित होने चाहिएँ, कभी भी त्यागा नहीं गया किन्तु अठारहवीं सदी के पर्याप्त भाग में राजकोषीय इतिहास के किसी अन्य समय की अपेक्षा उस विचार की ज्योति कम थी। फिर भी शताब्दी के मध्य के लगभग जब राजस्व पर बोझा कुछ घटा तो वास्तव में कर कम प्रतिगामी थे। सामान्य उपयोग की वस्तुओं पर उत्पादन शुल्कों के दर बहुत घटा दिए गए थे और विलास-वस्तुओं पर ऊँचे दर रख कर काम चलाया जा रहा था। अठारहवीं शताब्दी ने इस प्रकार के करों को न केवल इस कारण स्वीकार किया कि वितरण-दृष्टि से वे अधिक स्वीकार्य थे बल्कि इसलिए भी कि वे कुछ सीमा तक ऐच्छिक माने जाते थे। कोई करदाता किस ढंग से राजस्व में अपना अंशदान देता है यह थोड़ा बहुत उसकी अपनी पसन्द पर भी छोड़ा जा सकता है। राजस्व की क्षीण आवश्यकता वाले किसी युग में ही यह बात दृष्टि से छूट सकती थी कि सेवाओं का मूल्य ऐच्छिक करों के द्वारा नहीं चुकाया जा सकता।

शताब्दी के अन्त के समीप, जब राजस्व की आवश्यकता फिर बढ़ने लगी तो दोबारा नए करों की ज़रूरत पड़ी। इस बार सम्पत्ति के कुछ बाह्य चिह्नों को (जैसे मकान में कितनी अंगीठियाँ अथवा खिड़कियाँ हैं) चुना गया। इस प्रकार की वस्तुओं की गिनती बहुत सुलभ थी और उनका स्वामित्व स्थूल रूप

---

१. उदाहरणार्थ, हॉब्स के लगभग समकालीन दर्शन में राज्य की एक "कार्यात्मक" धारणा उपस्थिति की गई जिसके अनुसार निर्धनों को कर से मुक्त रखना चाहिए क्योंकि अपने कार्य के मूल्य के द्वारा वे राज-निकाय को पर्याप्त अंशदान दे देते हैं।

२. १७२६ में वालपोल ने विकार ग्रस्त "सामान्य सहायता" के स्थान पर उत्पादन शुल्क लगाने का जब प्रयत्न किया तो संसद् में जो तूफान उठा वह इसी रवैये को प्रकट करता है। उपयोगिता मानदण्ड के आधार पर वालपोल की योजना जैसी मालूम होती है इससे अच्छी थी। देखिए अध्याय १०, विशेषतया अनुभाग ३ और ६।

से सम्पत्ति के अनुपात में माना जा सकता था। निस्सन्देह ये कर, पुरानी परम्परा की ओर लौटने की प्रवृत्ति दर्शाते हैं। छोटे मकान पूरी तरह मुक्त थे; और खिड़की-कर का तो दर भी खिड़कियों की संख्या में वृद्धि के साथ कुछ बढ़ता जाता था।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पुनः वैसी ही तीव्र वित्तीय कठिनाई का समय आया जैसी सौ साल पहले आई थी। एक बार फिर कर-आदर्शों को ताक पर रख कर राजस्व के लिए हाथ पैर मारे जाने लगे। भान्ति-भान्ति के उत्पादन-कर लगाए गए और नैपोलियनीय युद्धों के चलते तक जारी रहे। अब फिर उन्हें युद्ध-काल की आवश्यकता के कारण क्षम्य समझा गया परन्तु बहुत सम्भव है कि उन्होंने युद्ध के दिनों में वही कार्य किया जो १९४० के क्रय कर ने किया, अर्थात् युद्ध-प्रयास की स्पर्द्धा में आने वाले उपभोग को रोका।

"ऐच्छिक" करों के अवशेष रूप अंगीठी और खिड़की करों और पूर्वकाल की बची हुई अन्य ऐसी निशानियों के रहते हुए नए उत्पादन-करों के आरोपण से कर-संरचना अत्यन्त अव्यस्थित हो गई। मुख्यतः पुराने करों की अधोगति के कारण, १७९७ तक राजस्व प्रारम्भिक सामूहिक आवश्यकताओं की एक न्यूनतम पूर्ति और नए युद्ध-ऋणों के ब्याज भार के लिए ही पर्याप्त होता था। (जिस ढंग से वे अब तक आरोपित किए गए थे) उस प्रकार के सम्पत्ति पर लगे सामान्य करों की असाम्यता के विरुद्ध निरन्तर प्रतिकूलता रहने के कारण तब तक कोई उपाय करना सम्भव नहीं हुआ, जब तक कि अन्त में पिट्ट ने संसद् को आय-कर के रूप में सम्पत्ति के सामान्य करारोपण को पुनः लाने के लिए तैयार नहीं कर लिया।

१७९७ का पिट्ट का आय-कर उस समय तक के किसी भी सामान्य कर से बहुत अधिक प्रभावी था। उससे अपेक्षा से कहीं बढ़ कर राजस्व प्राप्त हुआ और उससे भी अधिक विशेषता की बात यह थी कि पहले के सब सामान्य करों के समान कुछ वर्षों के पश्चात् भ्रष्ट हो जाने की बजाय यह जितना पुराना होता गया उतनी ही इससे प्राप्ति बढ़ती गई। निस्सन्देह इसका एक कारण तो युद्ध-काल में धन रूप में आयों की वृद्धि थी। किन्तु साथ ही राजस्व अधि-

कारियों की नई निपुणता भी इसमें दीखती है।[1]

पूर्व काल के सामान्य करों की तरह आय-कर के सामने निष्पक्ष आनुपातिक वितरण का आदर्श था, किन्तु इसने अवहारों ('रिबेटों' rebates) की एक पद्धति के द्वारा पारिवारिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा और न्यून आयों पर लगाया भी कम दर से गया। आय का वृत्त (returns) देना अनिवार्य नहीं था परन्तु छूटों का दावा करने के लिए घोषणाएँ जरूरी थीं। ये वृत्त ठीक निर्धारण के लिए बड़ी सहायता देते थे। और भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने बाद की उस अनिवार्य वृत्त-पद्धति के लिए उसे पूर्वोदाहरण बना दिया जिसे अनुभव ने भली प्रकार सिद्ध कर दिया है यह समान और प्रभावी आय-कर के लिए पहली शर्त्त है।

अधिक निपुणता के आने पर भी आय-कर का सामान्य भाव संदिग्ध था। लाभ रूप में आने वाली आयों को वह पर्याप्त ढंग से पकड़ नहीं सकता था और अधिकतर भार अब भी भूमि पर ही पड़ता था। यह एक कारण था और सम्भवतः मुख्य कारण[2] उस विरोध का था जो इस पर उठा और जिसके परिणामस्वरूप पुनर्निर्माण काल के शुरू में ही इसे छोड़ दिया गया। चाहे पहला आय-कर १८१६ में हट गया और उसके चिह्न भी मिटाने का हर समय प्रयत्न किया गया, यह विश्वास किसी को नहीं होता था कि वह दोबारा कभी नहीं लगेगा। योग्यता के अनुसार करारोपण की पुरानी परम्परा के लिए एक बार फिर द्वार पूरा खोल दिया गया था। विक्टोरियन युग के किसी व्यक्ति ने भी उसके औचित्य में कोई गम्भीर शंका प्रकट नहीं की चाहे उन्हें अठारहवीं सदी से अंशतः परस्पर-विरोधी सिद्धान्त मिला हुआ था कि सभी को शासन के व्यय

१. नई निपुणता का मुख्य कारण यह था कि पहली बार शासन कर-संग्राहकों का एक विश्वस्त और प्रभावी समुदाय प्रशिक्षित करने में सफल हुआ। इस विशेषज्ञ संगठन की न्यष्टि की समरसेट हाउस ने स्थगन काल में आग्रहपूर्वक व गुप्त रीति से रक्षा की। इस सब के लिए, ऐसा प्रतीत होता है कि पिट्ट की बजाय एडिंग्टन को ही श्रेय देना चाहिए। देखिए, Hope Jones उ० ग्र०, व Shehab, उ० ग्र०।

२. कर-संग्राहकों की कड़ी जाँच-पड़ताल के तरीकों के विरुद्ध भी बहुत शोर मचा; इससे मुख्यतः लाभ-आयों पर प्रभाव पड़ता था, इसलिए ऐसी संभावना है कि उन पर इतना कम कर नहीं लगाया गया जितना कि जमींदारों का विश्वास था।

में अंशदान देना चाहिए। अभी-अभी ही इन दोनों आदर्शों का सफलतापूर्वक मेल विठाया जा सका है।

३. **करारोपण के गौण उद्देश्य** (The Subsidiary Aims of Taxation)—एक बार आय-कर गया तो कर-रचना अनिवार्य रूप से बिगड़ कर फिर से कुछ न कुछ अठारहवीं सदी के समान वितरण पर पहुँच गई। जैसे १८२८ में ७० प्रतिशत से अधिक राजस्व सीमा-शुल्कों और उत्पादन-शुल्कों से आता था, एक-चौथाई से अधिक खाद्य और मदिरा के अतिरिक्त पेयों से और शेष का पर्याप्त भाग ईंटों, काँच, खालों और अन्य ऐसी वस्तुओं के उत्पादन-शुल्कों से जो निश्चय ही वेतनभोगियों के उपभोग में आती हैं। यह कर-संरचना निर्धनों पर भी कम से कम उतना भार तो डालती ही थी जितना बाद की सत्रहवीं और शुरू की अठारहवीं सदी में था। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से यह भिन्न थी—राजस्व के गौण उद्देश्यों के विषय में। वितरण-सम्बन्धी आदर्श के आधुनिक विकास की खोज करने से पहले एक ओर हट कर हमें उस विषय में हुए विचार-परिवर्त्तन की चर्चा कर लेना सुविधाजनक होगा।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से भिन्नक आयात और निर्यात शुल्कों के द्वारा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्त्ति करने के लिए एक बढ़ती हुई इच्छा दिखाई देती है। पहले तो प्रमुख लक्ष्य था कच्चे माल के आयात को प्रोत्साहित और निर्यात को निरुत्साहित करना जिससे देश में रोज़गार का स्तर बढ़े। धीरे-धीरे स्वदेशी उद्योगों के प्रत्यक्ष संरक्षण और निर्यात के प्रोत्साहन की तरफ अधिक ध्यान आकर्षित होने लगा। अठारहवीं शताब्दी के राजस्व-चिंता से छूटे हुए काल में संसद् ऐसे भिन्नक शुल्कों के प्रयोग कर सकी जो विशिष्ट हितों के समर्थन के द्वारा "उत्पादन-प्रत्यय" को प्राप्त करने के लिए बनाए गए थे। जैसा प्रायः होता है, इन प्रयत्नों में से कई तो सीमा को भी लाँघ गए।

राज्य द्वारा उद्योग के प्रोत्साहन के अनिच्छित परिणाम का एक विलक्षण उदाहरण था—एक आयात-कर का देश में मद्य के उत्पादन पर प्रभाव।

अठारहवीं सदी में आसवों (spirits) के निर्माण को दिए गए संरक्षण[1] से उत्पादन में इतनी भयंकर वृद्धि हुई और मूल्यों में कमी आई कि श्रमिक वर्ग में 'जिन' (gin) पीने के रोग ने बढ़ कर सारे देश को चकित और स्तंभित कर दिया। (कहावत के अनुसार, हालत यह थी कि "इकन्नी में नशा और दुअन्नी में मदहोश)।[2] इस दुरवस्था के परिणामस्वरूप मादक द्रव्यों पर भारी कर लगाने की उस नीति का प्रारम्भ हुआ जिसका स्पष्ट उद्देश्य ही उनके उपभोग को घटाना है और जो आज परम्परागत बन चुकी है। १८२८ में ही राजस्व का एक-तिहाई मद्य और तम्बाकू से प्राप्त हो रहा था (तम्बाकू पर लगे करों का कुछ उद्देश्य व्यय को नियन्त्रित करना भी था।) जैसा हमने देखा है यह नीति आज तक निरंतर चल रही है और मानना पड़ता है कि इससे राजस्व को पर्याप्त लाभ भी हुआ है।

शोधन शेष (balance of payments) के संरक्षण के उद्देश्य से लगाए गए आयात शुल्क अधिक आर्थिक महत्त्व के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विदेशी विनिमय पर दुःसह भार पड़ रहा था, जिसके कारण एक के बाद एक ऐसे कई संकटकाल आए तथा ब्याज दर उच्च और घटती बढ़ती रही। दबाव के कारण जटिल थे, उदाहरणार्थ कुछ तो उत्तरोत्तर युद्धों की थकान, और कुछ डच विनिमय की (उस देश की धीरे-धीरे बढ़ती दरिद्रता के परिणामस्वरूप) दुर्बलता और उसके प्रभाव से हालैण्ड के नागरिकों के द्वारा तब तक इंगलैण्ड में लगाई अपनी पूँजी को वापस लेने के प्रयत्न।

जैसे सीमा-शुल्कों के द्वारा अठारहवीं सदी में समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया वे बेढब और निस्सन्देह अकुशल थे। एडम स्मिथ को उस समय की कर-रचना बहुत नापसन्द थी और निस्सन्देह उनका यह विश्वास ठीक था कि असंख्य करों और साहाय्यों का परिणाम यह है कि वे साधनों के

१. इस नीति के पीछे हेतु जितना देशी उद्योगों के संरक्षण का था उतना ही फ्रांस की मदिराओं के प्रति वैर भाव का भी था। ऊपर के वर्गों में इससे 'क्लेरट' के स्थान पर 'पोर्ट' का इस्तेमाल होने लग पड़ा।

२. Drunk for a penny, dead drunk for tuppence."

बँटवारे को बुरी तरह बिगाड़ देते हैं और इस प्रकार उत्पादन-प्रशस्त के मार्ग में बाधा बनते हैं। सिद्धान्त रूप से तो पिट्ट भी प्रशुल्क घटाने के पक्ष में थे परन्तु युद्धकाल में विनिमय-स्थिति के कारण नरमी के लिए अवकाश नहीं था; वास्तविकता तो यह है कि बैंक ग्राफ़ इंगलैण्ड के द्वारा नकद भुगतान बंद करने का अर्थ ही शोधन शेष का पूर्ण पतन था।

किन्तु युद्ध की समाप्ति के थोड़ी देर बाद ही राजस्व में विशेष कमी आने दिए बिना हस्किसोन कर-संरचना को अत्यधिक सरल करने में सफल हो गए। यह सुधार स्मिथ के सिद्धान्त के अनुसार पूर्णतया ठीक तो था ही, उसने अबाध व्यापार के मार्ग पर बाद में आने वाले करों के घटाव के लिए भूमिका बना दी। फिर भी, अठारहवीं शताब्दी के पूर्वभाग में बार-बार आए विनिमय-संकट और (देश में घटिया फसलों के कारण) हुए खाद्य के असाधारण आयात के साथ उसके स्पष्ट संबंध से यह प्रकट होता है कि भुगतान शेष उन्नीसवीं सदी के मध्य के करीब तक डाँवाडोल ही रहा। बहुत संभव है कि कॉर्न लाज़ (Corn Laws) का सब महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिणाम आयात को रोकना ही रहा हो।

१८६० की दशाब्दी से लेकर १९२५ के बाद तक भुगतान शेष कभी किसी बड़ी कठिनाई में नहीं पड़ा। विक्टोरियन युग के लोग जो तीव्रता से बढ़ते हुए बाज़ारों और अभूतपूर्व गति से पूँजी-निर्माण के आदी हो चुके थे हैरान होकर बीते हुए उस समय को याद करते थे जब सीमा-शुल्कों की संख्या बढ़ाने को समझदारी माना जाता था और मुद्रा तक के निर्यात को रोकने का प्रयत्न किया जाता था। और आज के ज़माने में जब भुगतान शेष फिर बिगड़ता रहता है, हम उस युग का अधिक कोमल भावों से स्मरण कर सकते हैं जिसमें शासनों को एक अत्यन्त कठिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का सामना करना होता था, जो भी पुराने व भद्दे शस्त्र उनके हाथ में थे उन्हीं के भरोसे।

संरक्षणात्मक शुल्कों के, और सब से ऊपर, १८४६ में 'कार्न लॉज़' के हटाए जाने से अन्ततोगत्वा, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य की परिस्थिति में राष्ट्रीय आय तथा जीवन-स्तर में चाहे पर्याप्त वृद्धि हुई किन्तु उस समय के लिए तो राजस्व में भारी कमी आ ही गई जिसको कभी न कभी दूर करना

आवश्यक था। संकोचपूर्वक क्यों न हो, इसका अर्थ यह लगाया गया कि आय-कर फिर से लगेगा। इस प्रकार १८४२ में आय-कर लौटा—इस साफ़ और कड़ी शर्त पर कि वह आपातों के लिए अस्थायी आरक्षित (reserve) रहेगा। किन्तु शीघ्र ही यह दिखाई देने लगा कि इसके विरुद्ध जो पुरानी आपत्तियाँ थीं उनमें कुछ बल नहीं बचा था। कुछ तो "अन्तर्देशीय राजस्व" की बढ़ी हुई निपुणता के कारण और कुछ व्यापार-जगत् की बढ़ती हुई नैतिकता के कारण, अब निर्धारणों पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता था। ग्लैडस्टन अपने अन्तिम समय तक घोषणा करते रहे कि आय-कर स्थायी ही है परन्तु वास्तविकता यह है कि जब वे उठा सकते थे तब भी उन्होंने उसे उठाया नहीं।

४. **क्रमवर्द्धमान सिद्धान्त का स्वीकरण** (The Acceptance of the Progressive Principle)—इस प्रकार यह सिद्धान्त पक्की तरह स्थापित हो गया कि राजस्व का एक काफ़ी बड़ा भाग ऐसे कर के द्वारा संग्रह करना चाहिए जिसमें करदान-क्षमता का मुख्य विचार रखा गया हो। "क्षमता" का वह बचा हुआ अर्थ लगाने में जो क्रमवर्द्धमान कराधान के द्वारा ही पूरा होता है, अभी कुछ दशाब्दियाँ और लगनी थीं। १८९४ में आरोपित सर विलियम हारकोर्ट के क्रमवर्द्धमान मृत्यु-कर इस नई दिशा में पहला पग थे परन्तु समूचे रूप में कर-रचना बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी तक बिल्कुल आनुपातिक ही रही। फिर भी क्रमवर्द्धमान करारोपण की कल्पना और सार्वजनिक वित्त के द्वारा आय का अधिक न्याय्य बँटवारा करने की नीति, परम्परागत कर-आदर्शों की तर्कानुसार व्याप्ति से अधिक कुछ नहीं थी। कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल से लेकर हम आधुनिक दृष्टिकोण को धीरे-धीरे स्वरूप धारण करता हुआ देख सकते हैं।

अठारहवीं शताब्दी तक प्रगतिवादी विचार (यदि यह शब्द-प्रयोग ठीक हो तो) श्रमिक वर्ग के कर-भार को कम करने के (निरन्तर अनुरोध युक्त) प्रयत्नों तक ही सीमित था। ऐसे प्रयत्नों के उदाहरण हैं—उत्पादन-शुल्कों के चुनाव में श्रमिक वर्ग के खरीदने की चीज़ों को न लेना, और अगीठी खिड़की करों की मुक्ति परिसीमाएँ (exemption limits)। पुराने आय-कर

में छोटी आयों पर की "कम दर" संभवतः एक और छोटा सा पग समझा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया क्रमवर्द्धमान आय-कर की श्रृंखला की वह पहली कड़ी सिद्ध हुई। निर्धनों के लिए इस प्रकार के कोमल भाव मानवता की भावना पर आधारित थे और किसी युक्तिवाद द्वारा समर्थित नहीं थे; वास्तव में सच तो यह है कि लॉक के इस दावे के सामने कि सभी को राज्य के खर्च में हिस्सा देना चाहिए, खड़ी रह सकने वाली कोई युक्ति ही नहीं ढूँढी जा सकी।

किन्तु अठारहवीं शताब्दी के बीतते-बीतते अर्थशास्त्री शुद्ध आर्थिक आधार पर इस बात के लिए कारण देने लग पड़े थे कि निर्धनों को करारोपण से मुक्त रखा जाए। क्योंकि (आंकड़ों से सिद्ध किए जाने की बजाए सर्व-सम्मति से मान लिया जाता है कि) निर्धन निर्वाह[1] की सीमा पर रहते हैं; इसलिए मूल्यों में कोई वृद्धि, जैसी कि उनके प्रयोग की वस्तुओं पर करारोपण से होगी, उन्हें सीमा से नीचे धकेल देगी। यदि मालिक कर की क्षतिपूर्ति करने के लिए वेतन न बढ़ाएँ तो श्रमिकों की संख्या कम हो जाएगी। हर हालत में ब्रिटिश उत्पादन व्यय बढ़ जाएँगे और अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा के क्षेत्र में हमारी स्थिति को हानि पहुँचेगी—इस युक्ति में उन्नीसवीं सदी के पूर्व भाग की प्रतिकूल व्यापार-दरें अवश्य झलकती है, परन्तु इसमें उन लोगों को एक तर्कशुद्ध आधार अवश्य मिल गया जो मानवहित की प्रेरणा से निर्धनों के प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहते थे।

स्थूल दृष्टि से, वितरणात्मक प्रश्नों में अपेक्षाकृत उदासीन रह कर एडम स्मिथ ने अठारहवीं शताब्दी का दृष्टिकोण ही दर्शाया, तो भी उनके ग्रन्थ के अन्य भागों से प्रकट है कि वे कल्याण के प्रश्नों में बहुत रुचि रखते थे। (बहुत सम्भव है, उनके विचार में उत्पादन-प्रशस्त की ओर प्रगति (जिसमें निरोधक शुल्कों को घटाने से सहायता होगी) जान-बूझ कर किए हुए पुनर्वितरण के

१. किन्तु वे यहाँ तक कह सकते थे कि "यह कोई बहुत अनुचित नहीं है कि धनवान सार्वजनिक व्यय के प्रति अपनी आय के अनुपात में ही नही, बल्कि अनुपात से कुछ बढ़ कर अंशदान दें।"(Wealth of Nations, Book 5.)

उपाय की अपेक्षा सब की अवस्था अधिक शीघ्रता से सुधार सकेगी। किन्तु उनके समकालीन कुछ ऐसे लोग भी थे जो उस समय ही माँग कर रहे थे कि "धनवानों पर भार डाल कर और निर्धनों को मुक्त करके जहाँ तक हो सके धन की असमानता को ठीक करने के लिए" कराधान का इस्तेमाल किया जाए।[१]

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिल जैसे प्रमुख अर्थशास्त्री क्रमवर्द्धमान करारोपण का समर्थन करने को तैयार थे—जहाँ तक कि यह लक्ष्य "परिश्रम और मितव्ययिता पर कर लगाए बिना" पूरा हो सकता था। वे नियोजन पर क्रमवर्द्धमान आय-कर के परिणाम के विषय में डरते थे (जो यथार्थतः छोटे पैमाने के निजी व्यवसाय के दिनों में एक बड़ा वास्तविक भय था), परन्तु वे आर्थिक आधिक्य (रिकार्डो के "किराया") पर करारोपण के पक्ष में थे, और क्रमवर्द्धमान दाय-करों के भी। इन दो विकल्पों में से पहला तो तुरन्त ही आर्थिक दृष्टि से स्तुत्य मान लिया गया। क्योंकि (व्यक्ति के श्रम के लिए अथवा उसकी सम्पत्ति के उपयोग के लिए बढ़ी हुई माँग के समान) ऐसी शक्तियों के कारण आधिक्य उत्पन्न होता है जो व्यक्ति के वश में नहीं होतीं, इसलिए यदि आधिक्य को कर लगा कर छीन लिया जाए तो भी उत्पादन कम करने का कोई हेतु उसमें पैदा नहीं होता। दुर्भाग्य से, शुद्ध आधिक्य पर लगाए गए करों से जो राजस्व प्राप्त हो सकता है वह बहुधा निर्धारण और संग्रह की कठिनाइयों के सम्बन्ध में, उपेक्षणीय होता है।[२]

अधिकतर मिल के समर्थन के कारण, क्रमवर्द्धमान दाय-कर १८९४ में अधिनियम बन गया। यह स्पष्ट है कि उस समय तक कुछ न कुछ मात्रा में क्रमवर्द्धमान कर सामान्य समाज को स्वीकार्य हो चुका था। कई उदारदलीय तो प्रायः तत्काल ही एक क्रमवर्द्धमान आय-कर के लिए तैयार हो जाते।[३]

---

१. Wealth of Nations के Cannan के संस्करण में उद्धृत Lord Kames, Sketches of the History of Man से।

२. देखिए, अध्याय ११, अनुभाग ४।

३. हारकोर्ट ने तो १८९४ में क्रमवर्द्धमान आय-कर की एक योजना ही बना डाली थी, परन्तु उसे वापिस ले लिया क्योंकि उन्हें लगा कि संसद् के लिए इतनी तेजी से चलना कठिन

दृष्टिकोण में आया हुआ यह परिवर्तन पर्याप्त मात्रा में, '७० की दशाब्दी के सीमान्त-विश्लेषण के कारण था जिसने यह प्रदर्शित किया कि "क्षमता" की ठीक व्याख्या तभी हो सकती है जब आय के बढ़ने के साथ-साथ धन के सीमान्त महत्त्व में आने वाली कमी को भी ध्यान में लिया जाए। दूसरे शब्दों में आय के "समान बलिदान" के लिए आनुपातिक की बजाय क्रमवर्द्धमान करारोपण ही उपयुक्त है।

हारकोर्ट के मृत्यु-करों के लागू किए जाने के कुछ ही वर्ष बाद एजवर्थ ने युक्तियाँ देनी शुरू कीं[1]—"समान त्याग" के पक्ष में नहीं "न्यूनतम सकल त्याग" के पक्ष में जिसका उत्कट अर्थ लगाया जाए तो यह होगा कि एक निश्चित सीमा से ऊपर सभी आयों को छीन लिया जाए। क्योंकि इन दोनों सिद्धान्तों में भिन्न व्यक्तियों की उपयोगिताओं के परस्पर मापने की आवश्यकता पड़ती है, नीति के निर्धारण के लिए उनसे (जैसा आधुनिक उपयोगिता कसौटी में उपलब्ध होता है वैसी) कोई वस्तुनिष्ठ कसौटी प्राप्त नहीं होती। फिर भी, सार्वजनिक वित्त के द्वारा आयों के पुनर्वितरण के सिद्धान्त का सामान्य स्वीकरण—जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक पर्याप्त प्रगति कर चुका था–बहुत कुछ अर्थशास्त्रियों की उस समय की चर्चाओं के कारण ही था।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में यह भविष्यवाणी करने के लिए किसी द्रष्टा की जरूरत नहीं थी कि राजस्व पर अब जब भी विशेष भार पड़ेगा, एक क्रम-वर्द्धमान आय-कर स्थापित हो जाएगा। ऐसा अवसर तब आया जबकि १९०९ के उदारदलीय बजट[2] के समय (अधिक नौसैनिक व्यय और नवीन सामाजिक सेवाओं के लिए) अधिक द्रव्य की भारी आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार अधिकर[3] (Supertax) को भी कर-रचना में पक्का स्थान मिल गया, १९१३ में उसने

होगा। देखिए A. G. Gardiner, Life of Sir William Harcourt. Vol. II. Ch. XVI.

१. E. J., 1897, Collected Papers, Vol. II में पुनः मुद्रित।

२. इसी बजट के हाउस आफ़ लार्ड्ज द्वारा अस्वीकार किए जाने पर ही १९११ का संसद् अधिनियम पारित हुआ।

३. १९२९ में श्री चर्चिल ने नाम बदल कर उपरि-कर दिया।

३० लाख पौण्ड दिए, १९२० के आने तक वे बढ़ कर ५६० लाख हो गए।

सार्वजनिक वित्त की पुनर्वितरण सम्बन्धी सम्भाव्यताओं की अनुभूति करों की ओर देखने के एक नए ढंग से—जो पहले पहल ग्लैडस्टन युग में दृष्टि-गोचर होता है, बहुत सरल हो गई। अब एक-एक कर को पृथक्-पृथक् लेकर सभी कसौटियों पर कसने और केवल उन्हीं करों को चुनने का असम्भव प्रयत्न करने की बजाय जो भी कसौटियों पर पूरे उतरें, अकस्मात् यह अनुभव किया गया कि किसी भी प्रकार का वाँछित वितरण करों की एक सम्पूरक रचना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिसमें एक के दोष दूसरे के गुणों से दूर किए जा सकते है। इसी तर्क से यह भी निष्कर्ष निकलता है (यद्यपि अनुभव बाद में ही किया गया) कि व्यय को भी हिसाब में लेना चाहिए, या कम से कम उस व्यय को तो अवश्य जो प्रारम्भिक सामूहिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य जरूरतों पर किया जा रहा है।

इस खोज ने अन्त में निम्न दो सिद्धान्तों के मध्य में उत्पन्न हुई दुविधा को सुलझाना सम्भव बनाया—एक तो यह कि (राजनीतिक व नैतिक कारणों से) शासन के व्यय में सभी को अंशदान देना चाहिए और दूसरा यह कि (मानवतावादी और उपयोगिता के कारणों से) निर्धनों को मुक्त रहने देना चाहिए। आज ब्रिटेन में श्रमिक वर्ग शासन के व्यय में हिस्सा देता है और आय-कर के रूप में तो यह अंशदान पूरी तरह चेतनावस्था में ही दिया जाता है। फिर भी, सारे जोड़-बाकी का हिसाब लगाने के बाद शुद्ध पुनर्वितरण[1] न्यून-आय-वर्गों के पक्ष में ही होता है। कर और व्यय नीति में उपयुक्त परिवर्त्तनों के द्वारा नीति की कसौटी के अनुसार पुनर्वितरण का जितना भी समायोजन करना हो किया जा सकता है।

१. देखिए अध्याय १६।

अध्याय ६

कर विश्लेषण की रीति

(The Method of Tax Analysis)

१. **करों का वर्गीकरण** (The Classification of Taxes)—विश्लेषण के लिए एक आवश्यक पहला पग है वर्गीकरण। आर्थिक व्यवस्था में किन्हीं विशिष्ट करों के कार्य का अध्ययन करने से पूर्व हमें उनको सुविधाजनक समूहों में बाँटना होगा। अध्याय ५ में हमने देखा कि आय-कर और मृत्यु करों को "प्रत्यक्ष करों" की संज्ञा दी जाती है, ब्रिटिश कर-संरचना के शेष अधिकांश कर "परोक्ष" कहलाते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद ही, विशेष रूप से ब्रिटेन में सब से अधिक प्रचलित वर्गीकरण है क्योंकि इसी को कानूनी तथा प्रशासकीय समर्थन प्राप्त है। और इसी कारण से अन्य देशों में जहाँ कर संग्रह की संस्थाएँ व रीतियाँ भिन्न हैं, करों का बिलकुल यही वर्गीकरण नहीं किया जाता।

प्रत्यक्ष और परोक्ष करों में जो भेद ब्रिटेन में किया जाता है उसका सार करदाता और राजस्व अधिकारियों के परस्पर संबंध में है। जिन करों में दायित्व करदाता की परिस्थिति के अनुसार बदलता है, उन्हें प्रत्येक करदाता के लिए पृथक् गिनना होता है इसलिए करदाता व राजस्व प्राधिकारियों का आपस का संबंध सीधा व व्यक्तिगत होता है। कुछ अन्य करों के बारे में राजस्व अधिकारियों के लिए किसी अधिकृत एजैन्सी के द्वारा करदाता से सीधा संग्रह कर लेना सुविधाजनक होना है। किन्तु कुछ दूसरे कर हैं जिनके लिए अधिक सरल यह होता है कि निर्माताओं अथवा व्यापारियों का अराजकीय कर-संग्राहकों के रूप में इस्तेमाल कर लिया जाए, जिससे राजस्व प्राधिकारियों और करदाता के मध्य में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता।

दूसरी श्रेणी में वे कर आते हैं जिनका दायित्व किसी खरीदी गई वस्तु

की मात्रा अथवा मूल्य पर निर्भर हो, जैसे सिगरेट की डिबिया या सिनेमा के टिकट पर लगा हुआ कर। यहाँ जो कर लग रहा है वह वास्तव में सिगरेट की डिब्रिया पर नहीं है (वह तो कर दे ही नहीं सकती), वह है उपभोक्ता के उस आनन्द पर जो उसे धूम्रपान से मिलता है। ऐसी वस्तुओं के उपभोग पर कर लगाने का काम, जो सिगरेट की तरह एक बार में ही साभाप्त नहीं हो जातीं (उदाहरणार्थ मोटर गाड़ियाँ, रेडियो) इस तरह व्यापारियों अथवा निर्माताओं को अराजकीय कर-संग्राहक बना कर नहीं किया जा सकता जब तक शासन उन वस्तुओं के जीवन-काल में उन पर एक ही बार कर लेकर सन्तुष्ट हो जाने वाला न हो, अर्थात् पहली खरीद के समय। परिणामस्वरूप, इस श्रेणी की वस्तुओं के लिए राजस्व प्राधिकारियों को एक अधिकृत कर-संग्राहक रखना होगा जो उन वस्तुओं के रहते, उनके उपयोग के लिए एक वार्षिक राशि संग्रह किया करे। स्वाभाविकतया, अपने ही दृष्टिकोण से विचार करते हुए ब्रिटिश राजस्व प्राधिकारी उन सभी करों को प्रत्यक्ष मानना पसन्द करते हैं जो या तो करदाताओं पर व्यक्तिशः निर्धारित होते है या किसी राजकीय एजैंसी द्वारा संग्रह कर लिये जाते हैं।[1]

वैसे यह स्पष्ट है कि धूम्रपान का आनन्द और मोटर के प्रयोग का आनन्द, दोनों में कोई बड़ा आर्थिक अन्तर नहीं है, जब कि दूसरी ओर एक ऐसे कर में जो कुल आय अथवा पूंजी पर निर्धारित होता है और ऐसे कर में जो किसी आवश्यकता (जैसे धूम्रपान) की पूर्त्ति के लिए एक शर्त के रूप में दिया जाता है, आकाश पाताल का अन्तर है। दूसरी स्थिति में यह प्रायः महत्त्व शून्य होता है कि क्या करदाता एक ही भुगतान में अपना दायित्व पूर्ण कर देता है (जैसा उसे एक बार ही काम आने वाली वस्तुओं के लिए करना होता है) या कि प्रयोग के वार्षिक अधिकार के रूप में (जैसा कि बहुधा उपयोग की टिकाऊ वस्तु के लिए होगा)। इसी प्रकार, इस दृष्टिकोण से यह महत्त्वहीन है कि कर निर्मित वस्तु के मुख्य कच्चे पदार्थ (उदाहरणार्थ, तम्बाकू)

१. इसकी अधिक चर्चा के लिए व वर्त्तमान अध्याय के अन्य विषयों के लिए देखिए "U.K. Hicks, "The Terminology of Tax Analysis," E.J., April, 1946.

या किसी गौण कच्चे माल (उदाहरण के लिए निर्माण क्रिया में काम आने वाला तेल अथवा श्रम) पर निर्धारित हुआ है; दोनों स्थितियों में धूम्रपान का आनन्द लेने से पहले कर देना पड़ेगा।

इस प्रकार दो तरह के करों में एक मौलिक आर्थिक भेद है। एक ओर हैं आय पर लगे कर (जिनमें आय देने वाली पूँजी पर लगे कर भी सम्मिलित हैं), और दूसरी ओर व्यय पर लगे कर—एक बारगी खरीद पर हों या एक निश्चित काल के प्रयोग के अधिकार पर। यह बिभेद सब देशों में किया जा सकता है और किन्हीं राष्ट्रीय संस्थाओं पर निर्भर नहीं है। किन्तु इसका वास्तविक महत्त्व अभी अभी स्वीकार किया गया है क्योंकि वह राष्ट्रीय आय की गणनाओं और उसके नागरिकों में बँटवारे से ही विशेषता पाता है। और यह गणनाएँ निकट भूत में ही राजकीय मान्यता पा सकी हैं और आयोजन-निर्देशों के रूप में काम आने लगी हैं।

राष्ट्रीय आय (अथवा राष्ट्रीय उत्पादन) का विचार एक ही सीधी अथवा सरल कल्पना नहीं है। वास्तव में राष्ट्रीय आय की दो मौलिक कल्पनाएँ हैं।[१] वे दोनों श्वेतपत्र में दी जाती हैं क्योंकि दोनों का महत्त्व है, यद्यपि भिन्न दृष्टियों से। श्वेतपत्र में इन कल्पनाओं को क्रमशः कारक व्ययानुसार राष्ट्रीय आय (उत्पादन) [National Income (Output) at Factor Cost], और बाज़ार मूल्यानुसार राष्ट्रीय आय (National Income at Market Price) कहा जाता है। पहली एक वस्तुनिष्ठ प्रावैधिक कल्पना है; राष्ट्रीय आय में आने वाली विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का, उत्पादन के जितने साधन उनके निर्माण में लगे हैं उनके हिसाब से, मूल्यांकन किया जाता है। साधनों की सापेक्ष कीमतों को, सीमांत पर विभिन्न कारकों के प्रावैधिक प्रतिस्थापन दरों के रूप में मान लिया जाता है। अर्थात्, एक वस्तु के व्यय को राष्ट्र के

१. यही विभेद सकल राष्ट्रीय उत्पादन में लागू होता है, जोकि राष्ट्रीय आय (अथवा उत्पादन) में से अचल पूँजी के अवमूल्यन और स्टॉक के समायोजन से पूर्व की उसकी स्थिति मात्र है। अवमूल्यन के अनुमान और उस कल्पना तक के साथ लगी हुई जो कठिन समस्याएँ हैं उनके कारण, जी० एन० पी० (Gross National Product—सकल राष्ट्रीय उत्पादन), न कि शुद्ध राष्ट्रीय आय को ही नीति के निर्धारण में काम में लाने की प्रवृत्ति बन रही है।

साधनों की कितनी मात्रा उसके निर्माण में खर्च हुई है, यह बताने वाला स्वीकार कर लिया जाता है। अतः कारक व्ययानुसार राष्ट्रीय आय, राष्ट्र के साधनों के प्रावैधिक संभाव्य का एक माप है।

दूसरी ओर, बाज़ार मूल्यानुसार राष्ट्रीय आय एक प्रातीतिक (subjective) अथवा कल्याण सम्बन्धी कल्पना है। यह विभिन्न वस्तुओं को, उनके व्ययों की अपेक्षा सीमान्त उपयोगिताओं के अनुसार एक साँझे मापक में लाती है। विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की जो सापेक्ष मात्राएँ लोग खरीदते हैं, उनसे समाज के व्यक्तियों द्वारा मूल्यों की एक विशिष्ट तालिका के रहते, राष्ट्रीय आय के अंगों से प्राप्त सापेक्ष समाधान की गणना की जा सकती है। वस्तुओं के जो मूल्य उपभोक्ताओं को बाजार में देने पड़ते हैं वे तुष्टि प्राप्त करने से पूर्व कारक मूल्य और व्यय करों के योग से बनते हैं। (कुछ बाजार मूल्य कारक मूल्य से कम रह सकते हैं जब शासन साहाय्य देता हो; इससे सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि साहाय्य केवल कर का उलट ही है।) अतः कारक व्यय आकलन (calculation) और बाज़ार मूल्य आकलन में अन्तर केवल व्यय करों में से (व्यय) साहाय्यों को घटा देने के बाद जो रहता है वही है।[1]

इस प्रकार राष्ट्रीय आय का बाज़ार मूल्य आकलन कीमतों की एक तालिका के रहते उपभोक्ताओं द्वारा प्राप्त तुष्टि का एक माप मात्र ही है। और क्योंकि सार्वजनिक वित्त में इससे हमारा संबंध अधिक प्रत्यक्ष आता है, विभिन्न आय-वर्गों में उनके भाग के अनुसार राष्ट्रीय आय के वितरण की जब हम गणना करते हैं, इस भाग की एक शर्त के रूप में जो व्यय-कर दिए जाते हैं, उन्हें जितना परिशुद्धता से संभव हो उन आय-वर्गों में बाँटना पड़ता

१. इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि साहाय्यों को भी करों के ठीक समानान्तर आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है—एक ओर ऐसे जो विशिष्ट प्रकार के व्यय के बदले में, उपभोक्ताओं को कारक मूल्य से कम पर वस्तु खरीदने का अवसर देकर, अधिक लाभ देते हैं। और दूसरी ओर ऐसे जो आय को एक सामान्य साहाय्य देते हैं—जैसे पैंशनें, जिन्हें प्रायः सामाजिक हस्तांतरण कहा जाता है। इस विषय पर अधिक चर्चा के लिए देखिए, अध्याय १६।

है—विभिन्न प्रकार के उपभोग में हुए उनकी आयों के व्यय के हिसाब से। अध्याय १६ में हम इस प्रकार के आकलनों के परिणामों की जाँच करेंगे।

अतः आय और व्यय करों का भेद आर्थिक व सामाजिक दृष्टियों से बहुत कुछ अर्थ रखता है; परन्तु वह उतनी पूर्णता से उस भेद को प्रकट नहीं करता जो हमें विश्लेषण संबंधी उद्देश्य की दृष्टि से चाहिए। अध्याय ७ में सार्व-जनिक वित्त के विषय-वस्तु की चर्चा करते हुए हम एक पद पर पहुँचे थे, उसका स्मरण करें। सामान्य अर्थशास्त्र में कुछ प्रश्न होते हैं जिन्हें एक अकेली फ़र्म या उद्योग की दृष्टि से देखना सबसे उपयुक्त रहता है (एक "पाक्षिक साम्यावस्था" विश्लेषण के द्वारा) और कुछ अन्य ऐसे जिनमें ख़र्च, बचत और नियोजन अर्थात् जो कारक राष्ट्रीय आय का परिमाण निश्चित करते है, उनका सामान्य विश्लेषण करना पड़ता है। इसी प्रकार कर-विश्लेषण में भी उसी प्रकार का एक विभेद करना सुविधाजनक होता है, उस अवस्था में भी जब हम विशिष्ट करों के संचालन का अध्ययन कर रहे हैं और जब हम अर्थ-व्यवस्था पर सार्वजनिक वित्त के समग्र परिणाम पर पहुँचे भी नहीं। इस तरह हम दो प्रकार के करों में विश्लेषणात्मक प्रभेद कर सकते हैं—एक तो *आंशिक* कर जिनका सब कुछ (या लगभग सब कुछ) आर्थिक क्षेत्र के किसी कोने में हो जाता है (उदाहरणार्थ सिगरेट और तम्बाकू बनाने या बेचने के कार्य से संबंध रखने वाले उद्योग), और दूसरे, *सामान्य* कर जो राष्ट्रीय आय का परिमाण निश्चित करने वाले वृत्त पर सीधा असर करते हैं।

इस तथ्य पर बल देने की आवश्यकता है कि यह विश्लेषणात्मक प्रभेद सुविधानुसार ही है तर्कानुसार नहीं। व्यवहार में प्रायः सभी व्यय-करों के लिए आंशिक विश्लेषण उपयुक्त होता है, और पर्याप्त भी, जब कि आय-करों पर वह लागू हो ही नहीं सकता। किन्तु कुछ ऐसे व्यय-कर हो सकते हैं जो अर्थ-व्यवस्था में इतना व्यापक प्रभाव रखते हों कि उनके लिए सामान्य विश्लेषण की आवश्यकता पड़े। ऐसी आवश्यकता तब भी हो सकती है जब हम दीर्घकालीन प्रश्नों का विचार कर रहे हों, अर्थात् जब कर का प्रभाव

प्रथम प्रभाव में आए बाज़ारों की सीमाओं को पार कर जाए।[1] संभव है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक अवस्थाओं में, एक ही कर के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का विश्लेषण उपयुक्त हो। जैसे, उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भाग के किसी अर्थशास्त्री के लिए रोटी पर लगे एक कर के ऊपर सामान्य विश्लेषण—जिस प्रकार का रिकार्डो ने दिया होता, लगाना बिल्कुल तर्क-संगत होता, जिसमें वह श्रमिक के निर्वाह के सीमांत के नीचे धकेले जाने की बहुत सम्भावना पर बल देता। उसके आज रोटी पर लगे कर को हमें चाय के कर से मूलतः अभिन्न ही मानना चाहिए जिसमें निश्चय ही हमें राष्ट्रीय आय के परिमाण में हुए परिवर्त्तनों की चिन्ता करने का कोई कारण नहीं।

२· "करदाता" की खोज (Searching for the "Taxpayer")—अतः वर्गीकरण की समस्या हमें सीधे विश्लेषण की रीति पर पहुँचा देती है। पुराना ढंग तो यह रहा है कि अर्थ-व्यवस्था में कर की गति व राह ढूँढने के लिए हम शुरू उस व्यक्ति से करते रहे हैं जिससे राजस्व प्राधिकारियों का संबंध आता है। उदाहरणार्थ, धूम्रपान पर जो कर है वह तम्बाकू निर्माता देता है जिस समय वह तम्बाकू की पत्ती 'बन्ध' (bond) से छुड़ाता है; ब्रिटिश क्रय-कर को थोक व्यापारी देता है क्योंकि राजस्व प्राधिकारियों को इस अवस्था में हाथ डालना सब से सुविधाजनक मालूम हुआ है; किन्तु आय कर के मामले में विश्लेषण क्रिया शुरू होती है करदाता अर्थात् आय के स्वामी से, क्योंकि उसमें उसके सिवा किसी का संबंध नहीं है।

प्रश्न को इस ओर से लेते हुए "कर सरकाने"[2] (tax shifting) का एक विस्तृत सिद्धान्त बना कर खड़ा कर दिया गया है। एक सरल उदाहरण लीजिए। कहना पड़ेगा कि तम्बाकू-निर्माता कर को थोक व्यापारी पर सरका देता है जो खुदरा व्यापारी पर और अन्त में तम्बाकू पीने वाले पर पहुँचा देता है। इस विश्लेषण का उद्देश्य यह जानना रहा है कि निर्मित वस्तु के

१· देखिए अध्याय १४, विशेषतया अनुभाग ३।

२· देखिए विशेष रूप से E. R. Seligman, The Shifting and Incidence of Taxation.

मूल्य में कर की मात्रा के बराबर वृद्धि होती है या उससे कम या अधिक। यह दृष्टिकोण अर्थशास्त्री की बजाय राजस्व-प्राधिकारी का है। और जिस प्रकार चांसलर आफ़ दि एक्सचेक्वर प्रश्न का विचार करता है वह निश्चय ही यह नहीं है क्योंकि वह तो धूम्रपान करने वालों पर कर लगाने के इरादे से ही चलता है। न ही यह स्वयं तम्बाकू पीने वाले की दृष्टि है क्योंकि वह भली प्रकार जानता है कि उसे अपने शौक की कीमत के रूप में कर देना होगा।

इस दृष्टिकोण के कारण विश्लेषण की, यदि वह ठीक तरह किया गया है, उपयोगिता यद्यपि समाप्त नहीं हो जाती. फिर भी वह अनावश्यक रूप से भद्दा है और व्यवहार में कई कारणों से इस से प्रायः कोई हित नहीं हुआ। पहला कारण तो यह कि इतनी देर लगा कर "वास्तविक" करदाता को ढूंढ़ लेने के बाद प्रवृत्ति विश्लेषण को यहीं समाप्त कर देने की रही है जहाँ वास्तव में इसकी रोचकता बढ़नी चाहिए। दूसरा इसने अकारण ही दृष्टि की विशालता को सीमित किया है; यहाँ तक कि गुण व किस्म में परिवर्त्तन (जिनकी संभावना मूल्य परिवर्त्तन से कम नहीं है) के लिए भी सुविधापूर्वक अवसर नहीं रखा जा सकता। परन्तु कहीं अधिक मौलिक बात यह है कि वास्तव में मूल्य या गुण के परिवर्त्तन स्वयमेव इतने रोचक अथवा महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने उनके कारण और परिणाम। जैसे किसी मूल्य वृद्धि में एकाधिकार की कितनी वृद्धि अन्तर्हित है, या उसके परिणामस्वरूप करदाताओं पर अपनी उपभोग तालिकाओं को बदलने की आवश्यकता के रूप में और संबंधित उद्योगों में जो निर्माता है उन पर, कर-परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई नई स्थिति को हिसाब में लेकर कारकों के दोबारा बँटवारे के रूप में, क्या प्रभाव पड़ा।

अन्त में सादृश्य से, वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्त्तनों के द्वारा आय कर के देने वाले किस प्रकार अपने आय कर को सरकाने का प्रयत्न करते हैं, इसकी खोज कर के आय-कर के सरकाने का भी समानान्तर सिद्धान्त विकसित करने की कभी-कभी कोशिश की गई है।[१] जैसा हम जानते हैं, वस्तुओं के बाजार-

१. Report on National Debt and Taxation, Cmd. 2800 of 1927, p. 108, and Minutes of Evidence.

मूल्यों में, केवल व्यय पर लगे कर ही सम्मिलित होते हैं आय-कर नहीं इसलिए वह खोज तो निष्फल ही रहती है। उससे भी अधिक, उसकी मूलभूत मनो-भूमिका ही अशुद्ध है; आय-कर का प्रभाव आयों के स्तर पर होता है न कि मूल्यों के स्तर पर।[१]

इन सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए, जब हम करों की गति और मार्ग का विश्लेषण करने लगते हैं, हम सदा "वास्तविक" करदाता से ही प्रारम्भ करते हैं—अर्थात् आय और संपत्ति करों के मामले में उस व्यक्ति-विशेष से जो बाज़ार में अपने क्रय-चुनाव के द्वारा, कारक व्ययानुसार राष्ट्रीय आय और बाज़ार के मूल्यानुसार राष्ट्रीय आय के माध्य का अन्तर निश्चित करता है।

३. उपरिक भार तथा प्रभावी भार (Formal Incidence and Effective Incidence)—अपनी गत चर्चा के मार्ग की सीढ़ियों का स्मरण करके हम देखेंगे कि अर्थशास्त्र में करदाताओं पर करों के पड़ने अथवा जिसे करों का भार कहा जाता है उस की दो कल्पनाओं से हमारा संबंध आता है। पहली तो है किसी अवधि (प्रायः एक वर्ष) में एक कर से संग्रहीत राजस्व अर्थात् कारक व्यय और जिस वस्तु पर करारोपण हुआ है उसके बाज़ार मूल्य में अन्तर, किस प्रकार नागरिकों में (जिन्हें सुविधा के लिए आय-स्तरों के अनुसार वर्गीकृत कर लिया जाता है) बँटा हुआ है, इसकी सांख्यिकीय गणना। अथवा, लोगों की आयों का कितना अंश जो लोग उन्हें वस्तुएँ तथा सेवाएँ देते हैं उनको न जाते हुए शासी निकायों (governing bodies) को सामूहिक तुष्टि के प्रबंध के लिए दिया जाता है उसकी गणना। इस गणना का परिणाम उस कर का "उपरिक भार" कहा जा सकता है, या यदि हम कर-रचना के सभी करों के राजस्व का वितरण जोड़ लें तो सारी कर-रचना का। आय के वितरण और

---

१. इसका अर्थ यह नहीं है कि किन्हीं परिस्थितियों में—जिन्हें अपवाद स्वरूप ही मानना होगा, जैसे तेज बाज़ार और आत्मतुष्ट मुद्रा नीति के रहते, उत्पादक लाभ के अपेक्षित करारोपण को ही देख अपने मूल्य बढ़ा सकते हैं, या अधिक संभव है कि वैयक्तिक आय के कर दरों के बढ़ने के साथ यदि कर्मचारियों के वेतन बढ़ें, तो आय कर का भी सरकना संभव है।

पुर्नवितरण—के प्रश्नों के बारे में "उपरिक भार" की गणना सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। शासन के लिए भी, आर्थिक गतिविधि का उच्च स्तर बनाए रखने की दृष्टि से राष्ट्रीय उत्पादन का आयोजन करते समय यह आर्थिक महत्त्व की भी है क्योंकि उदाहरणार्थ, इससे उन्हें पूर्वानुमान करने में सहायता मिलती है कि किसी कर-परिवर्त्तन का मुख्य परिणाम क्या होगा उपभोग में कमी या बचत में। इन प्रश्नों का हमें भाग ३ में विशेषतया अध्याय १७ में विचार करना होगा।

किन्तु चाहे उपरिक भार की गणना महत्त्वपूर्ण होती है। फिर भी उससे हमें कर-परिवर्त्तन की करदाता पर प्रतिक्रिया, और उसक परिणामों का प्रत्यक्ष कुछ पता नहीं लगता; और ठीक इन्हीं प्रश्नों के साथ भार की दूसरी कल्पना का संबंध है। किसी कर के पूर्ण आर्थिक परिणामों की खोज करने के लिए हमें दो चित्र बना कर उनकी तुलना करनी होती है—एक में होती है उस कर के लागू होते हुए अर्थ रचना की स्थिति (अर्थात् उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं और आयों का वितरण और कारकों का बँटवारा) और दूसरे में वही अर्थ रचना बिना उस कर के। दोनों में जो अन्तर हो उसका सुविधा-जनक नाम है कर का *प्रभावी भार*। यह तो मानना होगा कि चित्र बहुत जटिल बनेगा और उससे बढ़ कर यह कि क्योंकि दोनों अवस्थाएँ एक साथ नहीं रह सकतीं इसलिए दोनों में से एक अवश्यमेव काल्पनिक होगी अर्थात् अध्ययन की जगह तर्क पर आधारित होगी।

अतः प्रभावी भार की स्थापना के लिए एक व्यवस्थित रीति से तर्क करने की जरूरत पड़ती है जिसके लिए आधार होता है माँग, और व्यय व बिक्री संबंधी स्थिति जैसी चीजें (व्यय करों के लिए) और आय तथा संपत्ति का वितरण, उद्योगीकरण की अवस्था और फर्म का विशिष्ट परिमाण आदि (आय-करों के लिए)। जहाँ भी संभव हो इस तर्क को सांख्यिकीय सामग्री का समर्थन होना चाहिए परन्तु संबधित कारकों में से कइयों की जटिलता और परस्पर संबंधों के कारण सांख्यिकीय सामग्री निगमन (Deductive) प्रणाली की सहायता मात्र अधिक कुछ नहीं कर सकती। इस तरह की तर्क-

शृंखला में से हर प्रकार के कर को निकालने के बाद ही हम यह कहने की स्थिति में आ सकते है कि नीति के मानदंड की दृष्टि से किन करों को श्रेयस्कर मानना चाहिए और किन से दूर रहना चाहिए।[1]

---

१. इन प्रभेदों की अधिक चर्चा के लिए देखिए अध्याय १६।

अध्याय १०

आंशिक व्यय-करों का भार

(The Incidence of Partial Outlay Taxes)

१. **व्यय-करों के प्रकार** (Types of Outlay Taxes)—यदि हम विश्व की कर संरचनाओं पर दृष्टिपात करें तो किसी भी समय हमें व्यय पर कई प्रकार के आंशिक कर लागू दिखाई देंगे। अगर हम भूतकाल पर ऐसी दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि यदि आज से अधिक नहीं तो आय-करों के आज के अनुपात से तो अधिक ऐसे कर पुराने समय में भी मिल जाते हैं। व्यय-करों की इस सर्वप्रियता का पहला कारण तो यह है कि उनका संग्रह-कार्य अत्यन्त सरल होता है; इसलिए पुरातन अवस्था में जबकि कोई लम्बा-चौड़ा राजस्व संग्रह करने वाला यन्त्र होना सम्भव नहीं था तो वे सफल होते थे। यदि वे ऐसी आयात की गई वस्तुओं पर लगे हों जो देश में भी बन सकती हैं, तब यह बात और भी अधिक सच होती है। पिछले दिनों में, इस बात का लाभ उठाते हुए कि वे अत्यन्त शीघ्रता से राजस्व प्राप्त करवाते हैं—जिस दिन कर लागू किया जाए उसी दिन से राजस्व आना शुरू हो जाता है—उन्हें स्फीति का दबाव कम करने के लिए काम में लाया गया है।

इन सुविधाओं के होते हुए भी, स्थूल रूप में, आय-करों की तुलना में व्यय-करों का महत्त्व घटता जा रहा है। इसका कारण यह है कि आधुनिक कसौटियों के अनुसार उनका वितरण कम सन्तोषजनक होता है। जैसा हम अभी देखेंगे, व्यय-कर कुल आयों के हिसाब से कुछ न कुछ प्रतिगामी ही होते हैं। फिर भी सभी कर रचनाओं में व्यय-करों का पर्याप्त स्थान होता है और भविष्य के संयुक्त राजकोषीय आयोजन में उनका भाग कोई महत्त्वहीन नहीं है। परिणामतः उनके प्रभावी भार की खोज कुछ ध्यान से करना आवश्यक है चाहे उसमें कई उलझनें आएँगी। वे उलझनें कुछ तो करों की विविधताओं

के कारण उत्पन्न होती हैं किन्तु उनका बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है जिन उद्योगों की वस्तुएँ कराधान का सुलभ विषय होती हैं उनकी माँग, व्यय व बिक्री सम्बन्धी परिस्थितियों में अन्तर।

सर्वप्रथम, व्यय-कर कौन-कौन से रूप ले सकते हैं यह देख लेने में सुविधा होगी। आंशिक व्यय-कर या तो एकल-उपयोग वस्तुओं (अर्थात् वे जो उपभोग अथवा उत्पादन की एकमात्र क्रिया में समाप्त हो जाती है) तथा सेवाओं पर लगाए जा सकते हैं या स्थायी उपयोग (पूँजीगत) वस्तुओं पर जो उपभोग में काम आती हों या उत्पादन में। वे किसी पृथक्कृत वस्तु (जैसे चाय) पर लागू हो सकते हैं, या परस्पर सम्बन्धित वस्तुओं के समूह पर, या एक बड़ पैमाने पर (जैसे क्रय कर में)। पूंजीगत वस्तुओं पर लगे कर कई प्रकार के रूप ले सकते हैं। उन्हें वस्तुओं के मूल्यों के अनुसार चाहे पूँजीगत मूल्य लिया जाए अथवा वार्षिक मूल्य लगाया जा सकता है, या वस्तुओं के प्रयोग के लिए वार्षिक लाइसैंस के रूप में वे लागू किए जा सकते हैं। ये लाइसैंस, वस्तु के हर सम्भव उपयोग के लिए आवश्यक हो सकते हैं (जैसे वायरलैस लाइसैंस) या किसी विशिष्ट उद्देश्य से सम्बन्धित उपयोग के लिए (जैसे मादक द्रव्यों की बिक्री के लिए मद्य-लाइसैंस)।

लाइसैंस यदि उपयोग पर नाममात्र से अधिक रोक लगाता है—अर्थात् शुल्क देने पर बिना कठिनाई के यदि नहीं मिल जाता—तब जिन कर-दाताओं को वह मिलता है उनका संरक्षण भी करता है। करों के जितने भी उपाय हैं सिद्धान्त रूप से उन सभी उपायों से व्यय साहाय्य भी दिए जा सकते हैं। अथवा एक कर और एक साहाय्य दोनों को मिलाकर वांछित उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है, जैसे गृह-उत्पादित चीनी के उत्पादन को बढ़ाने के लिए पालंक शर्करा साहाय्य (beet sugar subsidy) और आयात की गई चीनी पर भिन्नक कर दोनों का एक साथ उपयोग किया गया है।

विशिष्ट वस्तुओं के उपयोग पर निर्धारित कर का दायित्व स्वाभाविक रूप से उन वस्तुओं का कितना परिमाण काम में लिया गया है इस पर

निर्भर होता है । वह वस्तुओं की श्रेणी अथवा मूल्य पर भी निर्भर हो सकता है । जब कर के दर वस्तुओं के विक्री मूल्य के अनुपात के रूप में कहे जा रहे हों तो कर *यथामूल्य* (ad valorem) कहलाता है । जब वह मूल्य के अनुसार नहीं बदलता, और इतना प्रति सेर या प्रति ढोल (barrel) इस तरह प्रकट किया जाए तब वह *विशिष्ट* (specific) कहलाता है। वैसे, विशिष्ट कर वस्तु के गुण के अनुसार भी श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं, जैसे ब्रिटिश मोटर शुल्क वहीकल (motor vehicle duties) इंजन के माप के साथ बदला करते थे ।

विशिष्ट करों का प्रशासन यथामूल्य करों की अपेक्षा बहुत सरल होता है क्योंकि यथामूल्य करों के लिए यदि किसी दूसरे देश की मुद्रा से कीमतों को रूपांतरित करना हो तो, बहुत निपुण राजस्व विभाग की आवश्यकता पड़ेगी । और जहाँ यह करना पड़े वहाँ देश में गोलमाल के लिए अनन्त अवकाश होता है इसलिए संरक्षणात्मक उपाय के रूप में यथामूल्य कर पसन्द किए जाते हैं । वास्तव में प्रशुल्कों के विषय पर राष्ट्रों में जो प्रशासी संघर्षण उत्पन्न होता है उस में से अधिकांश का कारण वही हैं । विशिष्ट कर यथामूल्य करों की अपेक्षा कुछ कम राजस्व-उत्पादक होते हैं और उनकी प्रवृत्ति कुछ अधिक प्रतिगामी होने की ओर होती है किन्तु यह त्रुटि श्रेणीबद्ध करके बहुत कुछ दूर की जा सकती है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि मूल्यों में सामान्य वृद्धि होने पर विशिष्ट कर के वास्तविक दर कम हो जाते हैं जबकि यथामूल्य कर के दर स्वयमेव तदनुसार बदल जाते हैं । १९१४ और १९३१ के मध्य में ब्रिटिश व्यय करों के दरों में हुई वृद्धि का पर्याप्त भाग विशिष्ट करों में क्षतिपूरक समायोजन माना जा सकता है ।

संयुक्त राज्य में प्रारूपिक आँशिक व्यय-कर यथामूल्य है; ब्रिटेन में विशिष्ट कर ही परंपरा से चला आता है और आज भी सब से अधिक पाया जाता है । किन्तु श्रेणी बन्धन का बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है । अन्तर्युद्ध काल के नए संरक्षणात्मक शुल्क, वे भी जो १९२० की दशाब्दी में लगाए गए और वे भी जो १९३१ के नीति के बड़े परिवर्त्तन के समय आए,

दोनों यथामूल्य रीति[1] से निर्धारित होते है। इसी प्रकार क्रय कर भी। स्थानीय दर भी जो अन्य किसी व्यय कर से अधिक राजस्व संग्रह करता है, यथा-मूल्य समूह में से ही है चाहे वर्त्तमान मूल्यांकन प्रथा से किरायों और कर योग्य मूल्य में बहुत समीकरण नहीं होता।

२. **पूर्ण स्पर्द्धा में करों का भार** (The Incidence of Taxes under Perfect Competition)—व्यय पर लगे एक आँशिक कर के कार्य का सामान्य क्रम इस प्रकार है—पहले, वस्तु का बिक्री मूल्य कर के परिमाण के बराबर बढ़ जाता है, इससे माँग कम होती है जिससे कि आज नहीं तो कल उत्पादन को भी कम होना पड़ता है। एक बार ही उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर लगे करों के लिए तो विश्लेषण प्रायः इस क्रमावली की विभिन्न दिशाओं में निकलने वाली शाखाओं का विचार करने तक ही सीमित होता है। किन्तु पूँजीगत वस्तुओं पर लगे करों के लिए एक और घटना-चक्र का विचार भी आवश्यक है क्योंकि कर के दर में परिवर्त्तन होने के साथ ही पूँजीगत मूल्यों का उससे तुरन्त समायोजन हो जाता है। वर्त्तमान अध्याय में हम अपने ध्यान को एक बार ही उपयोग में आने वाली वस्तुओं तक सीमित रख कर, इस उलझन को परे रख सकते हैं।

सामान्य दशा में तो कर उपभोग की वस्तुओं पर लगे या उत्पादक वस्तुओं[2] पर, सिद्धान्त रूप से इसमें विशेष अन्तर नहीं आता। इसे बहुत सरलता से दिखाया जा सकता है (चित्र १)। प्रारम्भ में उलझनें कम-से-कम रहें इस

---

१. ध्यान देने योग्य एक विविधता आयात की गई सिल्क पर लगे शुल्कों में दिखाई देती है। वे निर्माण की अवस्था के अनुसार बदलते हैं—निर्मित माल पर सब से अधिक दर रहता है।

२. जिस निर्माण-अवस्था पर कर लगा है उसका अन्य सिलसिलों में महत्त्व हो सकता है। कच्चे माल या अर्ध-निर्मित वस्तु पर कर लगने से उत्पादक उसका उपयोग बचा कर करेंगे; और जहां उस माल का आयात होना हो वहा इसका पर्याप्त महत्त्व हो सकता है। फिर निर्माण की जितनी पहले की स्थिति पर कर लगे उतनी ही, निर्माण की हर अवस्था पर मूल्य में कुछ प्रतिशत बढ़ाते हुए "स्तूप का आकार बनने" की संभावना अधिक होती है।

दृष्टि से हम यह मान लेते हैं कि करारोपित वस्तु बनाने वाले उद्योग में पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था है (इस अर्थ में कि एक उत्पादक के उत्पादन में परिवर्त्तन आए तो कुल उत्पादन पर उसका परिणाम उपेक्ष्य ही होगा); और उसके आगे यह कि परस्पर निकट संबंध से जुड़ी हुई न कोई वस्तुएँ हैं न उद्योग।
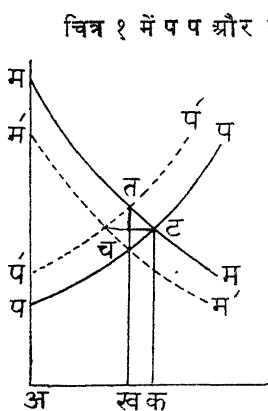
चित्र १ में प प और म म सामान्य मार्शलीय अर्थ में बाजार पूर्ति व मांग वक्र हैं। अतः पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में त पूर्ण और स्थायी साम्य की स्थिति हुई। अब यदि च त के परिमाण का कर लागू किया जाए तो नया साम्य बिन्दु त होगा, चाहे कर उत्पादकों पर लागू किया जाए (और पूर्ति वक्र प'प' तक उठ आए) या उपभोक्ताओं पर (और मांग वक्र नीचे म'म' पर पहुँच जाए)। मांग व पूर्ति की सब सामान्य स्थितियों में त ट से ऊँचा और बाएँ को होगा, उपभोक्ताओं को प्रति इकाई अधिक मूल्य देना होगा और परिणामतः वे कम खरीदेंगे; उत्पादकों को कर मिलाकर अधिक मूल्य लेना होगा और परिणामतः वे कम बेचेंगे। बिक्री का परिमाण अ क से घट कर अ ख हो जाएगा और मूल्य ट क से बढ़ कर त ख। यही विश्लेषण (पूर्ति वक्र को नीचा करते हुए अथवा मांग वक्र को ऊँचा उठाते हुए) साहाय्य के ऊपर भी लागू किया जा सकता है।

चित्र १

चित्र से स्पष्ट है कि इस प्रकार के करों और साहाय्यों का प्रभाव सीमान्त की हलचल ही है, वे उत्पादन और व्यय—व्यय दोनों प्रकार का, सामान्य भी और इस विशिष्ट दिशा में भी—सीमान्तों पर ही सीधे पड़ते हैं और बचत के ऊपर भी। उत्पादन और उपभोग के सीमान्तों पर, क्रमशः कितना और किस दिशा में आर्थिक समायोजन कर के परिणामस्वरूप करना होगा, यह एक ओर तो मांग की लोच पर निर्भर है और दूसरी ओर इस पर कि कितनी

सुगमता अथवा कठिनाई से कारक अन्य कार्यो को (या अन्य कार्यों से) स्थानान्तरित किए जा सकते है।

खर्च करने और बचत करने के सीमान्तों में, परिणाम पर्याप्त मात्रा में, विभिन्न आय-स्तरों में करारोपित (या साहाय्य-प्राप्त) पदार्थ के उपभोग के वितरण पर निर्भर होगा। जब उपभोग का अधिकांश निचले आय-वर्गों से हो जैसा कि सामान्य अवस्था में होता है क्योंकि जनसंख्या में अधिक भाग इन्हीं का रहता है, तब समायोजन उपभोग के सिर पड़ेगा और जब माँग का बड़ा भाग धनवान वर्ग से आता है तब कर कुछ मात्रा में बचत में से दिया जा सकता है।

स्पष्टतया यह कह सकना शासन के लिए महत्त्व का है कि कर या सहाय्य में किसी परिवर्त्तन से किन सीमांतों पर सब से अधिक प्रभाव पड़ेगा। किसी अवसर पर उपभोग को रोकना आवश्यक हो सकता है, किसी अन्य अवसर पर उपभोग पर यथासंभव कम रोक लगने देते हुए राजस्व की एक राशि एकत्र करना वाँछित हो सकता है या कभी बचत को कम करना। जब किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जाता है जो उपभोग के सीमित क्षेत्र में काम आती है (जैसे चीनी) तब उसके उपरिक भार का अनुमान काफ़ी आसानी से लग जाता है और प्रभावी भार का भविष्य कथन भी बहुत कठिन नहीं होता किन्तु जब किसी ऐसे पदार्थ या कारक पर कर लगाया जाता है जो उपभोग के बहुत बड़े क्षेत्र में काम आता है (उदाहरण के लिए, ईधन) तब उपरिक भार स्थापित करना भी कठिन हो जाता है और प्रभावी भार की खोज तो संतोष-जनक ढंग से हो ही नहीं सकती।

इन करों के विरुद्ध, जिन्हें कभी-कभी "सामान्य उत्पादन पर लगे" कर कहा जाता है, वास्तविक आपत्ति यह नहीं है कि ये उत्पादन पर होते हैं जब कि अन्य उपभोग पर होते हैं—जैसा हमने देखा है सभी आंशिक कर उपभोग और उत्पादन दोनों पर पड़ते हैं—बल्कि यह कि उनके भार के विषय में अनिश्चितता होने के कारण वे किसी बुद्धिपूर्वक तय की गई राजकोषीय नीति

में बैठाये नहीं जा सकते। यही कठिनाई उस समय भी आती है जब हम आय-पुनर्वितरण के कार्यक्रम का या आर्थिक गतिविधि का स्तर ऊँचा रखने की किसी योजना का विचार कर रहे होते हैं। इसी तरह उन करों के विषय में रियायत (rebate) देना भी असंभव होता है जो निर्यात के लिए बनी वस्तुओं पर लगे होते हैं, जिसके कारण इन करों का प्रभाव निर्यात मूल्यों को बढ़ाने में होता है।

३. बचतों का सिद्धान्त (The Theory of Surpluses)—फिर उस कर को लें जिसका भार मुख्यतः उपभोग की एक ही रेखा पर पड़ता है। चित्र १ से स्पष्ट है कि कर के परिणामस्वरूप मूल्य में वृद्धि उत्पादन में हुए परिवर्तन के अनुपात में कम होगी या अधिक यह इस पर निर्भर है कि माँग वक्र की लोच कम है या अधिक। यदि माँग वक्र बहुत लोचदार हो तो वस्तु के मूल्य की बजाय अधिक असर उसकी बिक्री पर होगा क्योंकि अपेक्षाकृत थोड़ी असुविधा से ही, उपभोक्ता अन्य किसी ढंग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। तात्पर्य यह कि एक अर्थ में उसके लिए कर वैकल्पिक है।

अठारहवीं शताब्दी में उपभोग की वस्तुओं पर कर जँचते थे तो इसके कारणों में जितनी "सुविधा" (इस अर्थ में कि करदाता अनजाने में ही दे देता था) और "मितव्ययिता" (इस अर्थ में कि कोई बड़ा मँहगा राजस्व-यंत्र जरूरी नहीं होता था, कम से कम जब तक अवैध व्यापार को प्रोत्साहन देने योग्य ऊँचे दर नहीं थे) थी उतनी ही उनकी यह दीखने वाली वैकल्पिकता भी थी। यह तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि करदाता को एक ऐसे कर में कुछ सुविधा रहती है जो साल में धीरे-धीरे दिया जा सकता है और इस कारण जिसके वार्षिक या अर्ध-वार्षिक दायित्व के लिए अच्छी बड़ी राशि बचा कर रखनी नहीं पड़ती, जैसा आय कर के लिए परम्परा से करना पड़ता रहा है। परन्तु आय-कर की यह त्रुटि आय के स्वामी के पास आय के पहुँचने से पहले ही कर की कटौती कर लेने के उपाय से दूर की जा सकती है।

आधुनिक प्रशासी प्रविधि के होने से व्यय करों में आय करों की अपेक्षा संग्रह-सुविधा के लाभ नहीं रहे है जो पहले होते थे।

क्योंकि शासनों को राजस्व अवश्यमेव चाहिए, व्यय करों के ऐच्छिक होने की "सुविधा" भ्रममात्र है। करदाता को होने वाली ऐसे कर की "असुविधा" के साथ जो उसे देना नहीं पड़ता ऐसे कर की असुविधा की जिससे वह बच नहीं सकता, तुलना करना अनुचित है। ठीक तुलना है उपभोक्ताओं और उत्पादकों को तुष्टि खोने के अर्थ में होने वाली सापेक्ष हानि की जो एक *निश्चित* राजस्व विभिन्न उपायों से प्राप्त करने में होती है। यदि यह तुलना की जाए तो हम देखेंगे कि अठारहवीं सदी का निष्कर्ष बिल्कुल भ्रामक हो सकता है।

आवश्यक कारकों पर ही ध्यान केन्द्रित करने के लिए हमें ऐसी अवस्था से प्रारंभ करना चाहिए जिसमें लागत स्थिर है (चित्र २) और पूर्ण स्पर्द्धा की तथा कारकों अथवा उत्पादित वस्तुओं के संवद्ध न होने की हमारी पहले की धारणाएं भी स्थिर है। कर लगने से पूर्व क ट मूल्य पर वस्तु अ क परिमाण में उपभोग की जाती है। जब च त के परिमाण का कर लगता है तो उससे न ण त च राजस्व प्राप्त होगा, किन्तु साथ ही उपभोक्ता की बचत में त ट च[1] के तिकोन जितनी कमी आ जाएगी। निष्कर्ष यह कि यदि शासन

चित्र २

---
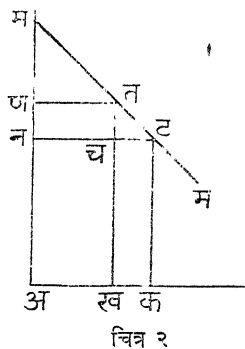
१. यदि कर हलका-सा है तो मार्शल के समान माँग वक्र और उपयोगिता वक्र को, धन की सीमान्त उपयोगिता स्थिर मान कर, एक ही कर देना न्यायसंगत है परन्तु माँग वक्र की जगह उतने ही औचित्य के साथ सीमान्त तटस्थता वक्र भी ले सकता है जिससे कि यदि कोई "आय प्रभाव" (income effect) हो तो उसके लिए अवकाश छोड़ा जा सके। देखिए J. R. Hicks "The Four Consumer's Surpluses", Review of Economic Studies. Vol. XI, No. 1.

करदाताओं की तुष्टि में आई कमी के लिए राजस्व में से क्षतिपूर्त्ति करना चाहे तो वह अपर्याप्त रहेगा।

अतः व्यय पर लगे आंशिक करों के विरुद्ध एक प्रारम्भिक आपत्ति तो कल्याण के आधार पर है। वह यह कि उनसे करदाताओं की जितनी हानि होती है राजस्व को उतना लाभ नहीं होता। अर्थात् वे एडम स्मिथ के मित-व्ययिता के सिद्धांत के सही भाव अतिघोर का उल्लंघन करते हैं। अतः केवल कल्याण के आधार पर भी (अर्थात् वितरणात्मक प्रश्नों को छोड़ कर भी) आंशिक व्यय करों के विरोध के लिए कारण है। मार्शल और एजवर्थ ने इसे आयकरों का समर्थक पक्ष मान लिया होता परन्तु हम आगे देखेंगे कि जब आय कर का दर अधिक होता है तो उक्त युक्ति का बल कम हो जाता है।

स्पष्ट है कि कुछ व्यय-कर बचत की अधिक हानि करेंगे और कुछ कम; इसलिए हमें और बारीकी से जाँच करनी होगी कि बचत की हानि किस पर निर्भर है। यदि हम यह मानें कि त च ट तिकोन ऋजुरेखीय (rectilinear) है (जैसा छोटे कर के लिए स्वाभाविक है), बचत की हानि—तिकोन का क्षेत्रफल—बराबर होता है उपभोग किए गए परिमाण में कमी के आधे के, वस्तु के प्रति इकाई कर से गुणा करके, जब कि संग्रहीत राजस्व बराबर होता है कर के लगने के उपरान्त वस्तु पर खर्च हुई राशि को उसके दर से गुणा करके। हम आगे यह भी देख सकते हैं कि बचत की हानि संग्रहीत राजस्व के साथ बदलेगी—उसी अनुपात में जो परिमाण में आए परिवर्त्तन के अर्ध का करारोपण के पश्चात् कुल उपभोग के बीच में हो :

$$\frac{\text{बचत की हानि}}{\text{संग्रहीत राजस्व}} = \frac{\text{१ क ख}}{\text{२ अ क}}$$

यह ध्यान में आएगा कि दाएँ हाथ का अनुपात बराबर होता है माँग वक्र की लोच के अर्ध के साथ कर की राशि और खर्च हुई राशि के अनुपात से गुणा करने के बाद जो फल होगा उसके :

$$= \frac{१}{२} \; \frac{\text{माँग की लोच} \times \text{संग्रहीत राजस्व}}{\text{खर्च हुई राशि}}$$

अतः हम बचत की हानि को इस तरह लिख सकते हैं—

$$= \frac{१}{२} \frac{\text{मांग की लोच}}{\text{खर्च हुई राशि}} \times (\text{राजस्व})$$

यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अधिकांश अवसरों पर संबंधित परिमाणों का पर्याप्त सांख्यिकीय परिशुद्धता के साथ अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु व्यवहार में एक उलझन प्रायः इस कारण उत्पन्न हो जाती है कि सीमांत लागत स्थिर नहीं रहती और इसलिए हमें पूर्ति वक्र की लोच और उत्पादक की बचत की हानि (उदाहरणार्थ, यदि उद्योग को काट कर कम किया जाए और उत्पादन-कारकों को अन्यत्र जाना पड़े तो उनके स्वामियों के उपार्जन में आई कमी की क्षतिपूर्ति के लिए जितनी राशि आवश्यक होगी, वह) भी ध्यान में लेनी होगी। इस अवस्था में (देखिए चित्र ३, जिसमें वर्द्धमान सीमान्त लागत दिखाई गई है), बचत की हानि (त ट च) है:

$$\frac{१}{२} \frac{\text{ल ल}'}{\text{ल} + \text{ल}'} \frac{(\text{राजस्व})^{२}}{\text{खर्च हुई राशि}}$$

जिसमें ल है मांग की लोच और ल' पूर्ति की लोच।

इस विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि किसी निश्चित राजस्व के लिए बचत की हानि उतनी ही अधिक होगी जितनी मांग अथवा पूर्ति की लोच अधिक होगी, यदि उनमें से कोई पूर्णतया बेलोच हो तो बचत की हानि शून्य हो जाती है, और करारोपित पदार्थ के स्थान पर कोई भी अन्य वस्तु प्रतिस्थापित करने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। व्यय कर करदाता से ली गई एक मुष्टि राशि या एक ऐसे आय कर के समान हो जाता है जिसका उसकी काम करने की इच्छा पर कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु सब सामान्य अवस्थाओं में आधिक्य की कुछ न कुछ हानि अवश्य होगी। यह हानि वस्तु पर खर्च की गई राशि पर अर्थात् उपभोग में उसके महत्त्व पर, भी निर्भर
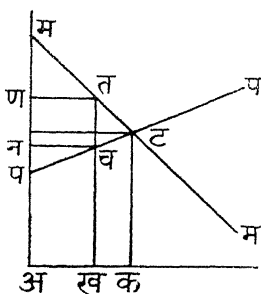
चित्र ३

करती है, परन्तु विपरीत क्रम से, यह इसलिए कि एक "अनावश्यक" वस्तु से एक दी हुई राशि राजस्व के रूप में एकत्र करने के लिए कर के बहुत ऊँचे दर लगाने होंगे; माँग अथवा पूर्ति की लोच सामान्य होने पर बचत की हानि बहुत भारी होगी।

इसी विश्लेषण का यह भी निष्कर्ष आगे निकलता है कि यदि कोई ऐसी वस्तु मिल जाए जिसकी पूर्ति या माँग पूर्णतया बेलोच हो, तो उसके द्वारा सारा या यथासम्भव अधिक राजस्व प्राप्त करने में बचतों की हानि कम से कम होगी।[1] जब तक दोनों लोचों में से कोई एक बहुत कम है, यद्यपि बिल्कुल शून्य न हो, तो भी यह उचित होगा कि यदि व्यय करों से कोई दी हुई राशि प्राप्त करनी है, तो संबंधित पदार्थ पर भारी कर लादे जाएँ।

इस तर्क के पीछे कि देश को अपनी सब सार्वजनिक सेवाओं का खर्च भूमि पर लगे एक अकेले कर से निकालना चाहिए, यही विचार है। चाहे भूमि की पूर्ति बहुत है और पूर्णतया बेलोच मानी जा सकती है, भूमि के सारे किरायों को सोख लेने वाला कर भी लगाया जाए तो वर्तमान राज्यों की आवश्यकताओं के वित्त प्रबन्धों की दिशा में वह बहुत थोड़ा कार्य कर सकेगा। भवनों के किराये तो स्पष्टतया उसमें सम्मिलित नहीं किए जा सकते क्योंकि उनकी पूर्ति किसी तरह भी बेलोच नहीं मानी जा सकती। यहाँ कुछ प्रश्न हैं जिन पर पूँजीगत वस्तुओं के करारोपण का विचार करते हुए हमें फिर से आना होगा।[2]

इस बात पर बल देना आवश्यक है कि ये निष्कर्ष बचत की हानि मात्रा के प्रश्न को लेकर निकाले गए हैं। व्यवहार में, वितरणात्मक और सम्भवतः

---

१. देखिए, Hotelling, "Edgworth's Taxation Paradox and the Nature of Demand and Supply Functions," J. P. E., October 1932.

२. आनुपातिक आय कर का पक्ष भी इसी तर्क पर आधारित किया जा सकता है, किन्तु क्रम वर्धमान आय कर के लिए औचित्य का आधार दूसरा चाहिए।

अन्य आर्थिक अथवा प्रशासी प्रश्नों का भी महत्त्व हो सकता है। किन्तु जहाँ यह अधिक सामान्य रूप से लागू हो जाता है, उनके अतिरिक्त यह विश्लेषण हमें विभिन्न व्ययकरों में चुनने का एक परिशुद्ध और व्यावहारिक उपाय उपलब्ध करवाता है, विशेषतया उनमें जिनका उपभोग में आय का बँटवारा एक दूसरे से मिलता है और इसलिए जिनके विषय में वितरणात्मक आधार पर कोई स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त होता है।

४. **एकाधिकार में कर** (Taxation under Monopoly)—अब तक हम यह मान कर चले हैं कि करारोपित वस्तु बनाने वाले उद्योग में पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था है। स्पर्द्धा और एकाधिकार के बीच की विस्तृत मध्यभूमि की ओर मुड़ने से पहले, जिसमें वास्तविक जगत् में औद्योगिक क्षेत्र का अधिकांश आ जाता है, सुविधा इसमें रहेगी कि हम पहले तुरन्त दूसरी सीमा पर पहुँच जाएँ और शुद्ध एकाधिकार का विचार कर लें जिसमें परस्पर-निर्भर वस्तुएँ अथवा साधन न हों। एक ऐसी अवस्था की कल्पना करें जिसमें किसी इस प्रकार के पदार्थ का विक्रेता एक मात्र हो, जिसका अन्य वस्तुओं से कोई निकट सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्था स्थानिक रूप में मिल सकती है और काफी समय तक जारी भी रह सकती है, जबकि स्थिति "स्वाभाविक" में एकाधिकार के कोई तत्त्व न हों। अर्थात् इस विश्लेषण का क्षेत्र जितना पहली दृष्टि में दिखाई देता है इससे वास्तव में कहीं बड़ा है।

यदि एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम कर रहा है (जैसा हमें मानकर चलना होगा) वह सीमान्त प्राप्ति और सीमान्त लागत को बराबर कर रहा होगा। इसलिए जिस भी कर के लगने से सीमान्त इकाई को बाजार में लाने की उसकी लागत बढ़ती है, वह उसके उत्पादन कम करने और मूल्य बढ़ाने के लिए कारण बनेगा। अल्प-काल को छोड़ कर यह उस कर के लिए भी सच है जो उसके उपरि व्यय पर पड़ता है और उसके लिए भी जो उसके

चालू व्यय पर पड़ता है।[1] उपभोक्ताओं को किस सीमा तक नुकसान उठाना पड़ेगा यह इस पर निर्भर है कि एकाधिकारी कहाँ तक एक ओर अपने कुल लाभ को बढ़ाए बिना और दूसरी ओर प्रतिस्पर्धियों को आकर्षित करके अपनी एकाधिकार सत्ता को कम किए बिना, अपने विक्रय मूल्य को बढ़ा सकता है। बहुत से और भान्ति-भान्ति के परिणाम सम्भव हैं जिसके कारण दोनों हैं— एकाधिकारी की अपनी लागत को घटाने बढ़ाने की असाधारण क्षमता और उसका बाज़ार पर नियन्त्रण। जैसे कई वर्ष पूर्व एजवर्थ ने कहा था, एकाधिकार पर कर लगाने में एक त्रुटि परिणाम-सम्बन्धी अनिश्चितता है।

यदि हम यह मान लें कि एकाधिकारी के सामने जो माँग वक्र है वह सीधी रेखा है, और कि एकाधिकारी की सीमान्त लागत स्थिर है, सामान्य एकाधिकार सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि करारोपित वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से *आधा* बढ़ाया जाएगा, जबकि स्पर्द्धात्मक अवस्था में वह उसके जितना बढ़ा दिया जाएगा।[2] परन्तु माँग का इस प्रकार का स्वभाव मानकर चलने का कोई विशेष कारण नहीं है। यदि माँग वक्र में कुछ न्युब्जता (concavity) हो तो मूल्य उससे अधिक बढ़ा दिया जाएगा; वह न्युब्जता यदि ऐसी हो कि सम्बन्धित अभिसीमा में सीमान्त प्राप्ति वक्र और माँग वक्र समानान्तर हों, तब स्पर्द्धात्मक स्थिति की तरह मूल्य में वृद्धि कर के बराबर होगी।

परन्तु यदि हम यह मान लें कि माँग वक्र न केवल न्युब्ज है बल्कि स्थिर लोच वाला भी (जो कि कम से कम छोटे परिवर्त्तनों के लिए उतना ही

---

१. सिवाय जिसे "एलिजाबीथन प्रकार" का कहा जा सके, ऐसे पक्के एकाधिकारी के, जिसमें एकाधिकारी उपरि व्यय पर प्रायः किसी भी कर को स्वीकार कर लेगा (जैसे उत्पादन का लाइसैंस), और उसकी मूल्य व उत्पादन नीति कर से अप्रभावित रहेगी। परम्परागत विश्लेषण में इस प्रकार के प्रायः अवास्तविक उदाहरण को अनुचित महत्त्व दिया गया है।

२. चित्र २ के माँग व लागत वक्रों को एकाधिकार की स्थिति के समझ कर और परिणाम की चित्र २ के साथ दिए हुए विश्लेषण से तुलना करके स्थिति की बड़ी सरलता से कल्पना की जा सकती है। पूर्ण विश्लेषण के लिए देखिए J. Robinson, The Economics of Imperfect Competition, पृ० ७६ व आगे।

सम्भव है जितना स्थिर ढाल व सीधी रेखा के रूप वाला माँग वक्र), तो हमें कहीं अधिक गम्भीर परिणाम प्राप्त होता है। तब मूल्य व सीमान्त लागत का परस्पर अनुपात स्थिर रहेगा; क्योंकि सीमान्त प्राप्ति निश्चय ही मूल्य से कम होती है, इसलिए इसका अर्थ निश्चित ही यह होगा कि सीमान्त प्राप्ति वक्र की ढाल माँग वक्र की ढाल से कम होगी, जिससे मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढ़ जाएगा—जोकि वास्तव में अन्यथा स्पष्ट है क्योंकि अब मूल्य सीमान्त लागत (कर छोड़कर या मिला कर) में एक निश्चित प्रतिशतता जोड़ कर उसके बराबर होता है; कर लगने के बाद प्रतिशतता अधिक बड़ी संख्या से गिनी जाती है। यह उपकल्पना[1] उत्पादकों के देखे गए व्यवहार के अनुसार ही दिखाई देती है। निर्माण की हर अवस्था पर कर के बदले में लाभ में एक निश्चित प्रतिशत की वृद्धि से ही उन करों के "स्तूपीकरण" (pyramiding) की क्रिया होती है जो उत्पादन प्रक्रिया की पहली अवस्थाओं पर निर्धारित किए गए होते हैं।

किन्तु एकाधिकार विश्लेषण का आर्थिक महत्त्व पृथक्-पृथक् पड़े हुए केवल कुछ एकाधिकारियों, जो सीमित कालों के लिए समाज पर दबाव डाल सकें, के अस्तित्व पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि पुस्तकों की पूर्ण स्पर्द्धा तथा शुद्ध एकाधिकार के मध्य के विशाल अन्तर्वर्ती क्षेत्र पर भी निर्भर करता है। जो स्पर्द्धात्मक विश्लेषण हमने ऊपर किया है (देखिए चित्र ३) उसका एक महत्त्वपूर्ण विस्तार यह बताता है कि एकाधिकार में आए[2] किसी उद्योग का करारोपण जब पहले से घटाए हुए उत्पादन को और कम कर दे, तब वह *समाज* के लिए उन उद्योगों के करारोपण का अपेक्षा अधिक हानिकारक है जिनमें स्पर्द्धा विद्यमान है।

---

१. किसी अकथित कारण से श्रीमती रोबिन्सन के ऊपर दिए उद्धरण में अपने विश्लेषण का स्थिर लोच के उदाहरण पर लागू करने के लिए विस्तार नहीं किया।

२. अर्थात् अल्पाधिकार में भी और शुद्ध एकाधिकार में भी। "अपूर्ण स्पर्द्धा" की स्थिति में (इस अर्थ में कि उद्योग में प्रवेश अबाध है और उत्पादन में परिवर्त्तन फ़र्मों की संख्या के बदलने से होता है), चाहे मूल्य फ़र्म की सीमान्त लागत से अधिक होता है, फ़र्म की औसत लागत है—उद्योग की प्रभावी सीमान्त लागत होती है और यह मूल्य से कम नहीं होती।

मान लीजिए (चित्र ४) एकाधिकार की कार्रवाही के कारण जिस उद्योग पर कर लगाने का विचार है, उसका उत्पादन पहले से ही प्रशस्त स्थिति से एक मात्रा नीचे रोक दिया गया है, और बचतें तदनुसार तिकोन त च ट के आकार जितनी कम कर दी गई हैं। अब यदि कर लगे तो मूल्य बढ़कर क ब हो जाएगा और उत्पादन घट कर अ ब रह जाएगा। बचत की हानि अब (केवल इसी उद्योग का विचार करते हुए) तिकोन की बजाय समलम्ब (trapezium) त ट र क में मापी जाती है। और यह पूर्ण स्पर्द्धा में होने वाली बचत की हानि से अधिक है, जितना उत्पादन में कर के कारण कमी आती है उसे सीमान्त लागत और विक्रय मूल्य के कर पूर्व अन्तर से गुणा करने पर जो मिलता है उसके बराबर।

जब हम ऐसी स्थिति का विचार कर रहे हों जिसमें एकाधिकार के तत्त्व विद्यमान हैं तो हमें उत्पादन अथवा साधनों के सम्बन्ध की सम्भावना के लिए इस प्रकार सतर्क रहना होता है जैसे शुद्ध स्पर्द्धा की अवस्था में प्रायः आवश्यक नहीं होता। इस बात का विभिन्न उद्योगों के मध्य में साधनों के बँटवारे के प्रश्न पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण असर हो सकता है।

एकाधिकार का मौलिक सामाजिक व्यय यह है कि उसके कारण साधनों का नियोजन इस प्रकार का हो जाता है कि जिससे सामाजिक उत्पादन जितना होना सम्भव है उससे कम रह जाता है। साधनों के इस प्रकार काम में लगाए जाने की बजाय कि हर काम में उत्पादन की सीमान्त इकाई का मूल्य उसकी लागत के ठीक बराबर हो, एकाधिकार में उत्पादन का विक्रय-मूल्य उद्योग के लिए कारकों के व्यय से पर्याप्त अधिक होता है। उद्योग में उत्पादन के विस्तार से यह अन्तर पाटना सम्भव है। और इससे सामाजिक आय में वृद्धि भी होगी। परन्तु इस प्रकार का विस्तार केवल मात्र आर्थिक साधनों से
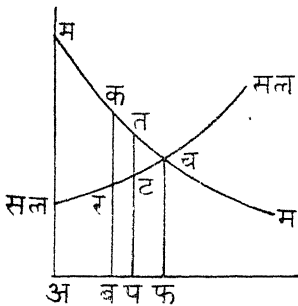
चित्र ४

नहीं होगा क्योंकि (नीचे की ओर ढाल वाले माँग वक्र के कारण), हर नई इकाई के बिकने के साथ लाभ घटता है, सार्वजनिक प्रयत्न उस अन्तर को उत्पादन के विस्तार के द्वारा भरने की प्रवृत्ति रखता है। इसी कारण वह प्रायः एक सामाजिक सुधार होगा।

यह तथ्य कि इस प्रकार से उद्योग का पुनर्गठन सामाजिक उत्पादन को बढ़ा देगा यह प्रकट करता है कि साधनों को ऐसे उद्योग में रखने का सामाजिक व्यय जिनमें उनका सीमान्त उत्पादन अन्यत्र जो सम्भव है उससे कम हो, तो यदि हम इस उद्योग के लिए साधनों की केवल निजी लागत को ही हिसाब में लें तो जितना दिखाई देगा उस से वास्तव में अधिक पड़ता है। विक्रय मूल्य और कारकों की लागत के अन्तर की शुद्ध सामाजिक लागत का अनुमान करना हो तो हमें उद्योग को कारकों की निजी लागत क्या है इससे नहीं बल्कि उनके वर्तमान नियोजन की समाज को सामाजिक लागत क्या है इससे हिसाब लगाना होगा। जहाँ भी निजी और सामाजिक लागत वक्रों में अन्तर होगा, यह सम्भावना रहेगी कि साधनों के पुनर्वितरण से सामाजिक उत्पादन बढ़ जाए।

५. बढ़ती व घटती लागत (Increasing and Diminishing Cost)—इस संबन्ध में शासकीय कार्रवाई की संभावना की ओर सब से पहले मार्शल ने ध्यान खींचा जब उन्होंने सुझाव दिया कि चढ़ते लागत-वक्र वाले उद्योगों पर कर लगाना चाहिए, और उनके अतिरिक्त साधनों को साहाय्य के द्वारा घटते लागत वक्र वाले उद्योगों की ओर भेज देना चाहिए। दोनों उद्योगों में विक्रय मूल्य को औसत लागत (किराया मिला कर) के बराबर मानते हुए (जो मार्शल की सामान्य धारणा है), एक बढ़ती हुई लागत वाला उद्योग शुद्ध स्पर्द्धा की स्थिति में कार्य करता होगा, जब कि बढ़ते हुए उत्पादन वाले उद्योग में एकाधिकार के कुछ तत्त्व दिखाई देंगे। बढ़ते उत्पादन वाले उद्योग लागत की दृष्टि से पर्याप्त मूल्यों पर अधिक साधनों को नियुक्त कर सकते हैं और तिस पर भी, बढ़ा हुआ उत्पादन कम कीमतों पर बेच सकते हैं, इसलिए बढ़ती लागत वाले उद्योग में साधनों को लगाए रखने का वास्तविक सामाजिक

व्यय इस खोये हुए अवसर को भी हिसाब में लेने के लिए बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि बढ़ती लागत वाले उद्योग का लागत वक्र अपने वास्तविक सामाजिक स्तर तक बढ़ा दिया जाए तो साम्य बिन्दु, मालूम पड़ने वाले प्रशस्त (optimum) से अधिक ऊँचा और अधिक बायें को होगा (उदाहरणार्थ चित्र ४ में च से ऊँचा और बाई ओर) जिसमें यह दिखाई देगा कि इस उद्योग में सामाजिक दृष्टि से जितना उत्पादन चाहिए इससे अधिक बढ़ा दिया गया है। इस प्रकार बढ़ती लागत वाले उद्योग में साधनों के निजी व सामाजिक व्ययों में अन्तर होता है। सीमांत साधनों को इनसे हटा कर बढ़ते उत्पादन वाले उद्योग में हस्तान्तरित करने से जिसमें ऐसा अन्तर नहीं होता, सामाजिक उत्पादन बढेगा।

चाहे मार्शलीय विश्लेषण अपनी अभिधारणाओं के अन्तर्गत पूर्णतया मान्य है परन्तु वह सारी बात नहीं कहता। बढती लागत एकाधिकार में भी हो सकती है और शुद्ध स्पर्द्धा में भी। यदि किसी उद्योग में विक्रय मूल्य और सीमांत लागत के मध्य में अन्तर हो तो उसमें उत्पादन की वृद्धि से प्राय: सामाजिक सुधार होगा;[1] परन्तु यदि शेष सारी की सारी अर्थ-व्यवस्था ऐसी अवस्था में कार्य नहीं कर रही है जिसमें मूल्य सीमांत लागत के बराबर है, तो विचाराधीन उद्योग के निजी और शुद्ध सामाजिक व्ययों में अन्तर होना

---

१. जिस उद्योग को बढ़ाने या घटाने की इच्छा हो उसके सामाजिक लागत वक्र को भी बाह्य बचतों को समाविष्ट करने के लिए कुछ बदलने की आवश्यकता हो सकती है। जैसे एक उद्योग के विस्तार से ऐसे पूरक उद्योगों में भी विस्तार हो सकता है जिनमें प्रारम्भ में मूल्य सीमांत लागत से अधिक रहा हो। इस अवस्था में संबंधित उद्योग का सामाजिक लागत वक्र निजी लागत वक्र से नीचा होगा। यह उदाहरण "मार्शलीय" बाहरी बचतो का है जो व्यवस्था में कहीं न कहीं एकाधिकार तत्वों के अस्तित्व पर निर्भर हैं, चाहे विचाराधीन उद्योग पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति में कार्य कर रहा हो। फर्म की निजी लेखा पद्धति के बाहिर पड़ने वाले प्रभावों पर जो बाहरी बचतें निर्भर होती हैं वे सर्व व्यापक पूर्ण स्पर्द्धा की व्यवस्था में भी उपस्थित हो सकती हैं। यदि वे हों तो विचाराधीन उद्योग के सामाजिक लागत वक्र का उपयुक्त समायोजन करना भी आवश्यक है।

संभव है। इस कारण उसके उत्पादन को बढ़ाने के लिए तब तक पग नहीं उठाना चाहिए जब तक शुद्ध सामाजिक लागत वक्र का अनुमान नहीं कर लिया जाता जिससे वृद्धि का ठीक लक्ष्य तय किया जा सके।

इस प्रकार ऐसे उद्योग का लागत वक्र निश्चित करते हुए जिसका विस्तार समाज के लिए लाभकारी हो सकता है, कारकों के दो समूहों को ध्यान में लेना होगा। पहला वह मात्रा जिस तक बेकार साधनों में से अधिक कारक इस उद्योग को प्राप्त हो सकते हैं और दूसरा, अन्य उद्योगों की प्रकृति और संगठन जिन से कारकों को हस्तांतरित करना होगा। जहाँ तक तो कारक बेकार साधनों में से उपलब्ध हो सकते हैं, पहले उद्योग का विस्तार निश्चय ही एक सुधार होगा। यदि अतिरिक्त कारकों का पर्याप्त भाग अन्य उद्योगों से खींचना आवश्यक हो तो दो विषयों का बड़ी सावधानतापूर्वक विचार करना होगा—(१) किस सीमा तक वे पुराने उद्योग के विशिष्ट हैं और बिना विशेष असुविधा और व्यय के हिलाये नहीं जा सकते, और (२) जिन उद्योगों से उन्हें हिलाना सबसे उपयुक्त है उनमें एकाधिकार का अंश कितना है। पूर्व इसके कि ठीक नीति पक्की तरह निर्धारित की जाए, विभिन्न सम्बन्धित उद्योगों में विस्तार व संकुचन की क्रमशः शुद्ध सामाजिक लागत (अथवा लाभ) को एक दूसरे के मिलान में तौलना होगा।

अतः राजकोषीय उपायों से कारकों के सफल पुनर्वितरण के लिए जो शर्तें हैं उनमें एक है उन सब उद्योगों की प्रौद्योगिक अवस्थाओं का ज्ञान जिनका इस स्थानान्तरण में सम्बन्ध आने की संभावना है। किन्तु यह ज्ञान ऐसे ढंग का नहीं होना चाहिए जो शासन के लिए प्राप्त करना ही असंभव हो; फिर भी इस प्रकार की नीति को कार्यान्वित करने के प्रयास से पूर्व नए करों व साहाय्यों का पहले से करारोपित पदार्थों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह भी विचार कर लेना चाहिए।

६. कर क्षेत्र की गहनता और विस्तार बढ़ाना (Intensification and Extension of the Tax Field)—अभी तक हम ने एक अकेले कर को

पृथक् रखते हुए उसके प्रभाव का विचार किया है। नए करों का पहले से विद्यमान करों के सम्बन्ध से भी विचार करना चाहिए। करों और साहाय्यों के द्वारा औद्योगिक पुनर्गठन् की नीति से शीघ्र ही अनेकानेक नवीन आरोपण हो सकते हैं या पहले से विद्यमान आरोपणों को गहन किया जा सकता है। अधिक सामान्यतया, यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि वर्त्तमान करों के दरों के बढ़ाने से अथवा करों की अभिसीमा के विस्तार से बचतों की जो हानि पहले ही हो रही है वह कितनी बढ़ जाएगी।

सौभाग्य से, जो नियम हमने स्थापित किया है वह हम यहाँ भी लागू कर सकते हैं। जो कर करदाता की दृष्टि में उससे एक एकमुष्टि राशि लिये जाने के ढंग से अधिक से अधिक मिलता होगा, वह उपभोग और उत्पादन में सबसे कम गड़बड़ करेगा। इसका आशय यह है कि जहाँ वस्तुओं के पूरे समूह पर कर लग रहा हो, उस के दर इस प्रकार समायोजित होने चाहिएँ कि प्रत्येक वस्तु के उपभोग में कमी समान अनुपात से हो। परन्तु यह संभव है कि उस समूह की जिस पर कर लगाने का विचार है, कुछ वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित हों—या उपभोग में या उत्पादन में, चाहे एक दूसरे की प्रतिस्थापन वस्तुएँ (substitutes) होने के नाते या एक दूसरे की पूरक (जिससे एक के मूल्य में वृद्धि से दूसरे की माँग में कमी हो जाती हो)। इस अवस्था में हमें न केवल किसी पृथक् रूप से ली हुई वस्तु की (माँग अथवा पूर्त्ति की) लोच का विचार करना होगा बल्कि उसके निकट की प्रतिस्थापन वस्तुओं अथवा पूरकों के संबन्ध में उसकी "मिश्रित" लोच (cross elasticity) से यदि वस्तुएँ अत्यन्त घनिष्ठतापूर्वक संबंधित हैं तो दोनों में से किसी की पृथक् रूप से देखी गई सीधी लोच की अपेक्षा उनकी परस्पर-मिश्रित लोच अधिक महत्त्व-पूर्ण हो सकती है।

यदि वस्तुओं अथवा साधनों का एक समूह इस प्रकार से संबंधित है कि समान दर के कर से समूह में मे प्रत्येक का मूल्य एक ही अनुपात में बढ़ता है (जैसा कि पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में निर्माण होने वाले उत्पादों पर यथा-

मूल्य कर लगने से लगभग हो सकता है), तो राजकोषीय दृष्टि से समूह को एक आर्थिक इकाई माना जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमें साधनों अथवा उत्पादकों का ऐसा समूह मिलता है जहाँ समूचे समूह की (पूर्त्ति अथवा माँग की) लोच बहुत कम है तो कर के क्षेत्र को सारे समूह जितना बना देने में न केवल कोई हानि नहीं है, बल्कि उससे वास्तव में बचतों की हानि कम से कम हो जाएगी यदि उस समूह से यथासंभव राजस्व लिया जाए। इस विचार से वह क्षेत्र काफ़ी बढ़ जाना चाहिए जिसमें कल्याण के आधार पर आंशिक व्यय-कर स्वीकार्य हो सकते हैं।

आगे, जो समीकार (Equations) हमने प्राप्त किए उनसे पता लगा था कि माँग की लोच दी होने पर एक वस्तु पर खर्च हुई राशि जैसे बढ़ती जाती है, वैसे बचत की हानि घटती जाती है। अतः इस बात की अपरीक्ष्य (apriori) संभावना है कि किसी समूह की एक वस्तु से दूसरे तक कर को फैलाने से उसी वस्तु के करारोपण से बचत की जो हानि होगी वह पहली से ही उतना राजस्व प्राप्त करने से होने वाली हानि की अपेक्षा कम होगी। यह तो तब भी सच हो सकता है जब समूह की वस्तुएँ इतने घनिष्ठ संबन्ध से ही जुड़ी हुई न हों कि एक इकाई बन सके। यह समूह की माँग की लोच व अकेली उत्पाद की माँग की लोच के परस्पर संबंध पर ही निर्भर है।

यदि जिस वस्तु पर प्रारम्भ में कर है उसकी लोच शून्य के बराबर हो किन्तु समूह में से एक की लोच धन (positive) (शून्य से अधिक) हो तब समूचे समूह माँग की लोच धन होगी और कर को फैलाना एक भूल होगी। दूसरी ओर यदि दो वस्तुएँ हों जो एक दूसरे का स्थान ले सकती है—इस अर्थ में कि किसी एक के मूल्य में कमी से प्रतिस्थापनात्मक समायोजन शुरू हो जाते हैं जो अन्य सामान्य वस्तुओं के सिर पर जितने होते हैं उससे अधिक दूसरी वस्तु के सिर पर होते हैं, तब इन दो के समूह की माँग की लोच निश्चय से दोनों में से किसी एक की लोच से कम होगी इस कारण दोनों

पर कर को फैलाने से लाभ होगा। यह पर्याप्त सीमा तक सत्य होगा चाहे दोनों वस्तुओं में संबंध जितना हम मानते आए हैं उससे कुछ ढीला भी हो।

जहाँ स्पर्द्धा[१]—पूर्ण अथवा अपूर्ण—की स्थिति में उद्योग कार्य कर रहे हों, जहाँ परिणामतः पूरे उद्योग की सीमांत लागत और मूल्य में कोई विशेष अन्तर नहीं, वहाँ यह विश्लेषण लागू होता है। किन्तु यदि एकाधिकार (जिसमें अल्पाधिकार भी है) की स्थिति हो, तो हमें स्मरण रखना होगा कि बचत की एक कर पूर्व हानि भी है (वस्तु के उपभोक्ता एक तरह से पहले ही कर दे रहे होते हैं), इसलिए करोत्तर हानि अधिक गति से बढ़ेगी। अतः एकाधिकार की अवस्था में उत्पादित वस्तु तक कर-क्षेत्र को फैलाने अथवा एकाधिकार पर पहले से लगे कर के दर को बढ़ाने के विरुद्ध एक अपरीक्ष्य (apriori) युक्ति है। इसलिए इस प्रकार के पग के पक्ष में अन्य युक्तियाँ बहुत प्रबल होनी चाहिएँ तभी यह वाँछनीय होगा।

७. **अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें** (International Complications)—अभी तक हमने इस सम्भावना की उपेक्षा की है कि बाहर से आयात की गई वस्तुओं पर भी कर लगाए जा सकते हैं और निर्यात को भी करों द्वारा रोका और साहाय्यों द्वारा बढ़ाया जा सकता है। स्पष्टतया, यहाँ हमें इन सम्भावनाओं का कुछ विचार करना चाहिए क्योंकि ये कर और साहाय्य प्रायः एक बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर ही पड़ते हैं। तो भी, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय

---

१. Hotelling के Edgeworth's Taxation Paradox (उ.ग्र.) में दिए गणितीय विश्लेषण के विस्तार से यह दिखाया जा सकता है (या मुझे ऐसा बताया गया है), कि वस्तुओं के समूह में यदि सभी पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में उत्पादित हो रही हों तो बचतों की सब से कम हानि करने वाली कर व्यवस्था वह होगी जो समूह की सब वस्तुओं का उपभोग एक ही अनुपात में कम करेगी। ऊपर के निष्कर्ष इस सामान्य नियम के विशेष दृष्टान्त हैं: क्योंकि यदि समूह की किसी वस्तु की माँग अथवा पूर्त्ति पूर्णतया बेलोच हो तो उस पर लगाया गया कर उसके उपभोग को शून्य से घटाएगा; इसलिए अन्य वस्तुओं पर आदर्श कर शून्य होगा क्योंकि कोई धन (शून्य से अधिक) कर उनके उपभोग को कम करेगा, अर्थात् जितना पहली वस्तु का उपभोग कम किया जा रहा है उससे अधिक घटाएगा।

राजकोषीय उपायों के द्वारा उठाए प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अपने विश्लेषण की इस अवस्था पर हमारे लिए इस विषय में बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसके दो कारण है।

पहला तो यह कि अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कार्यान्वित करने के अनेक उपलब्ध साधनों में से राजकोषीय नीति एक है। शासनों में प्रत्यक्ष करारों का और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व विनिमय नीति का भी साथ-साथ विचार करना होता है अतः अकेली राजकोषीय नीति का पृथक् विचार प्रायः सन्तोषजनक नहीं होता। दूसरा यह कि आयात-वस्तुओं पर लगे कर जिस राजकोषीय नीति का अंग होते हैं उससे पृथक् चर्चा का विषय नहीं बन सकते, सिवा उन करों के जो विक्टोरियन "केवल राजस्व" प्रकार के न हों। चाहे प्रारम्भ में आयात कर का सीमित लक्ष्य गृह-उद्योग के कुछ अंश का संरक्षण ही हो (उदाहरणार्थ किसी "शिशु" उद्योग अथवा स्थापित उद्योगों के किसी पूरक उद्योग को विकास का अवसर देना) संरक्षण के विस्तार को रोकना शासनों के लिए कितना कठिन होता है यह कुख्यात है। वास्तविकता तो यह है कि आयात-कर एक "व्यवस्था" का भाग ही मालूम देने लगते हैं जैसा कि शब्द "टैरिफ़" (tariff) से प्रकट ही है।

घटना-क्रम प्रायः किस प्रकार होता है यह अन्तर्युद्ध काल के ब्रिटिश अनुभव से अच्छी तरह प्रकट है।[1] अवधि के प्रारम्भ में "मूल उद्योग" और "मक्कन्ना" करों के सीमित उपयोग से शुरू करके जो युद्ध काल के अनुभव के कारण हुआ, '२० की दशाब्दी के मध्य में संरक्षण (श्री चर्चिल के अधीन) विभिन्न दिशाओं में फैला और अन्त में (श्री चैम्बरलेन के अधीन) १९३१ में एक "व्यवस्था" बन गया। प्रशुल्क "व्यवस्थाओं" की चर्चा, अर्थव्यवस्था पर सार्वजनिक वित्त के संकलित प्रभावों के क्षेत्र की वस्तु है न कि राजस्व संग्रह के विभिन्न उपायों के विश्लेषण की, जो हमारी खोज के वर्तमान भाग का विषय है।

---

१. ब्रिटेन में संरक्षण के क्रमशः स्वीकरण के अधिक पूर्ण विवरण के लिए देखिए U.K. Hicks, The Finance of British Governments, पृष्ठ २४० व आगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं पर लगे व्यय-कर उपभोग व उत्पादन के और बचत (savings) के सीमान्तों पर पड़ते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे इस ढंग के आन्तरिक कर। सदा की तरह हमें सम्बन्धित उद्योगों में एकाधिकार की मात्रा का ध्यान करना पड़ता है और साधनों अथवा उत्पादों के परस्पर सम्बन्ध के लिए सतर्क रहना होता है। किन्तु किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर का संकार्य एक आन्तरिक शुल्क से कुछ बातों में भिन्न है।

प्रथम तो यह कि कर से प्रभावित होने वाले कुछ उत्पादन सीमान्त विदेश में होंगे—कर लगाने वाले देश के नियन्त्रण से परे और उसकी सार्वजनिक वित्त-नीति से जो कुछ लाभ होने वाले हों उनसे भी दूर। इसका अर्थ एक तरह तो यह है कि बचत की जो हानि कर के कारण होती है उसका एक भाग ही अपने राष्ट्र के व्यक्तियों पर पड़ेगा; किन्तु दूसरी ओर विशेषतया दीर्घकाल में, करारोपण करने वाला देश विदेशों में अपने ग्राहकों को हानि पहुँचा कर अपना भी नुकसान कर सकता है।

एक दूसरा अन्तर करारोपित उद्योग के बाजार की दशा पर कर के प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। एक भय सदा रहता है कि एक व्यय कर करारोपित उद्योग में कहीं उत्पादकों की संख्या को इतना न घटा दे कि दुर्बल प्रतिस्पर्धियों के निकल जाने से, उनका बाजार पर नियन्त्रण एकाधिकार के ढंग का हो जाए। इसके परिणामस्वरूप हो सकता है कि उपभोक्ताओं को कर की मात्रा से अधिक बढ़ाए हुए मूल्य देने पड़ें और कम उत्पादन हो जाए। उपभोक्ताओं को इस प्रकार की हानि प्रायः एक संरक्षणात्मक शुल्क के द्वारा होने की सम्भावना अधिक है क्योंकि देश के अधिक व्यय वाले उत्पादकों के निकलने की बजाय कम व्यय वाले विदेशी उत्पादकों को बाजार से बाहिर कर दिया जाता है और अधिक व्यय वाले देशी उत्पादकों का संरक्षण होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक करों के मध्य में तीसरा अन्तर उनके व्यापार-अर्घ और भुगतान शेष पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। यह भी ऐसा प्रश्न है जिसका अधिक प्रसंग भाग ३ में ही आएगा; विदेशी संतुलन को प्रभावित करने की एक योजनाबद्ध नीति हो तो उसमें प्रत्यक्ष कार्रवाई के

समर्थन सहित प्रशुल्क व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। तो भी, आयात में महत्त्व का स्थान रखने वाली एक वस्तु पर एक आयात कर लग जाने से भी विदेशी संतुलन पर ऐसे परिणाम हो सकते है जो किसी तरह भी उपेक्ष्य न हों।

किसी एक कर का व्यापार-अर्ध और भुगतान शेष पर क्या प्रभाव होगा, यह दोनों सम्बन्धित देशों में व्यय और माँग की सापेक्ष स्थिति पर निर्भर हैं। सामान्यतया, आयात पर लगा कर व्यापार-अर्घ को सुधारता है और भुगतान शेष को बल देता है; निर्यात पर लगा कर व्यापार-अर्घ को सुधारता है जबकि निर्यात को दिया गया साहाय्य इसे बिगाड़ने की सम्भावना रखता है चाहे वह भुगतान शेष को सुधार सकता है। ये सभी प्रभाव निष्फल या विपरीत हो सकते हैं यदि कर अथवा साहाय्य प्रतिक्रिया को उभाड़ दें।

मुक्त व्यापार के पुराने ब्रिटिश पक्ष के आधार में दो तर्क थे। एक यह सर्वव्यापक सत्य कि पूर्ण स्पर्द्धा और पूर्ण सेवायुक्ति की अवस्था में कोई भी कर अथवा साहाय्य राष्ट्रों तथा प्रदेशों में साधनों के योग्यतम बँटवारे में बाधा खड़ी करेगा। दूसरा तर्क पूर्णतया स्थानीय था क्योंकि ब्रिटिश आयात कर अनिवार्य रूप से मुख्यतया श्रमिक वर्ग के उपभोग की वस्तुओं पर पड़ते हैं, या कच्चे माल पर (कारण यह कि हमारे अधिकांश आयात इन्हीं दो प्रकारों के थे), इसलिए आयात करों का परिणाम अन्य देशों की तुलना में, ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं के व्यय को बढ़ाने की ओर ही होता था, या तो कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि के द्वारा या निर्माताओं को मजदूरी बढ़ाने पर विवश कर के।

इसलिए विक्टोरियन युग वाले इस बात का ध्यान रखते थे कि केवल 'राजस्व" के लिए आयात-शुल्क लगाए जाएँ; अर्थात् कर या तो उन्हीं वस्तुओं पर लगाते थे जो देश में निर्मित नहीं हो सकती थीं (उदाहरणार्थ, तम्बाकू) या जिस वस्तु पर कर लगाने का प्रस्ताव होता था उसका उत्पादन यदि देश में पर्याप्त होता तो आयात-शुल्क के बराबर उत्पादन-शुल्क भी गृह उत्पादन पर लगा दिया जाता था ताकि उसे आयात-कर के कारण कोई लाभ न पहुँचे। पहले प्रकार के आयात-करों से देश के उत्पादकों की बचत पर कोई असर नहीं होगा। यदि देश की माँग बेलोच हो तो उपभोक्ताओं की बचत पर

पड़ने वाला प्रभाव भी उपेक्ष्य ही होगा (यदि विदेशी पूर्ति बेलोच हो तो माँग वक्र चाहे कैसा भी हो, गृह-बचतों पर प्रभाव उपेक्षणीय ही होगा)। जब आयात-करों के साथ ही उत्पादन-शुल्क लगें तो बचतों पर जो प्रभाव होगा वह समान लागत व माँग की स्थितियों में लगे पूर्णतया आन्तरिक कर से अधिक नहीं होगा, कम चाहे हो।

आज के संसार में जिन अवस्थाओं में अबाध व्यापार स्वयमेव साधनों का योग्यतम बँटवारा कर सकेगा वे पूरी तरह उपलब्ध नहीं हैं। बहुत बार यह अत्यधिक स्पष्ट दिखाई देता है कि साधनों का अन्तर्राष्ट्रीय बँटवारा एकाधिकार तत्त्वों अथवा राजनैतिक कार्रवाइयों के द्वारा पहले ही विकृत किया जा चुका है। दूसरी ओर, वर्तमान अवस्थाओं में आयात-शुल्कों के द्वारा कोई देश अनेक प्रकार से लाभ उठा सकता है,[1] विशेषरूप से जब देश में बेकारी हो। और उन सब शुल्कों के कारण अनिवार्य रूप से विश्व की आमदनियाँ कम नहीं होंगी। दृष्टान्त के लिए, यह सम्भव है कि कुछ आयात-शुल्क ऐसी राष्ट्रीय नीति का आवश्यक भाग हों जिसका करारोपित वस्तुओं के विदेशी प्रदायकों पर प्रभाव सब मिलकर अहितकर न हो। इसका कारण-कर लगाने वाले देश में, बढ़ी हुई गतिविधि का आयात की माँग पर होने वाला प्रभाव हो सकता है।

इस प्रकार के विचारों के कारण इस पीढ़ी के अर्थशास्त्रियों ने जहाँ संरक्षणात्मक करों के प्रति अधिक सहिष्णुता का परिचय देना शुरू किया है वहाँ यह भी निर्विवाद है कि अन्तर्राष्ट्रीय कर आर्थिक नीति के उद्देश्यों की सिद्धि का एक भयप्रद रास्ता है। प्रतिक्रिया का भय जो कर के लाभों को समाप्त कर के अन्ततः विश्व को पहले से अधिक निर्धन कर सकता है, बहुत भारी होता है। दोनों ओर का हिसाब कर के देखें तो अन्तर्राष्ट्रीय कर विश्व व्यापार व उत्पादन को कम करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यदि राष्ट्रीय साम्य ऐसे उपायों से पुनःस्थापित करना सम्भव हो जो अन्तर्राष्ट्रीय माँग को घटाने की बजाय बढाएँ, तो स्पष्टतया वैसा करना श्रेयस्कर होगा।

१. देशों के विकास में आयात-शुल्कों के उपयोग के लिए देखिए १८ वाँ अध्याय।

अध्याय ११

पूँजीगत वस्तुओं पर व्यय-कर

(Outlay Taxes on Capital Goods)

१. स्थानीय दर और स्थावर-संपदा-कर (Local Rates and Real Estate Taxes)—जिन करों की चर्चा हम अब करेंगे वे बहुत पुराने उद्गम के हैं; कई देशों में (जैसा हमने ब्रिटेन के बारे में देखा) वे सामान्य आय-कर के भी पहले रहे हैं। वे साधारणतया किसी न किसी ढंग से "स्थावर संपदा" अर्थात् भूमि और भवनों से सम्बन्धित रहे हैं। विलियम तृतीय का भूमि कर और अठारहवीं सदी के अंगीठा व खिड़की कर इस प्रकार के प्रतिनिधि उदाहरण हैं। स्थावर संपदा आज भी कर लगाने के लिए संपत्ति का सरलतम रूप है, जो राजस्व के निर्धारण व संग्रह दोनों दृष्टियों से अपेक्षया आसान होता है। वर्तमान युग में उपभोक्ताओं की पूँजीगत वस्तुएँ बढ़ कर अनेक प्रकार की हो जाने से इन आंशिक करों का क्षेत्र बढ़ाना संभव हो गया है परन्तु आज भी स्थावर-संपदा-कर सब से प्रमुख हैं। इस प्रकार का कर या तो किसी विशेष रूप में संपत्ति के उपभोग पर लग सकता है या उत्पादन में सामान्य अथवा किन्हीं उद्देश्यों के लिए उपभोग पर (दूसरे प्रकार के कर अन्य देशों में प्राय: मताधिकार-शुल्क (franchise duties) अथवा पृथक्करण-कर (severance taxes) कहलाते हैं।) किसी भी अवस्था में (जैसा अध्याय ९ की चर्चा से प्रकट होगा) उपरिक भार उपभोक्ता पर पड़ता है—संपत्ति द्वारा दी गई प्रत्यक्ष तुष्टि के उपभोक्ता पर अथवा उसकी सहायता से निर्मित वस्तुओं के उपभोक्ता पर।

इससे अधिक विरल आंशिक कर हैं जो विशेष प्रकार की संपत्ति (जैसे, दक्षिणी अफ्रीका की सोने और रत्नों की खानों) से प्राप्त आय (लाभ) पर लगाए जाते हैं। इस ढंग के आंशिक कर प्रशासकों द्वारा प्रत्यक्ष करों की श्रेणी

में रखे जाते हैं। और सामान्यतया उन करों में वे नहीं होंगे जिनका राजस्व राष्ट्रीय आय की "कारक व्यय" तथा "बाज़ार मूल्य" गणनाओं के मध्य का अन्तर पूरा करता है। फिर भी उनका प्रभावी भार आय करों की बजाय व्यय करों जैसा होता है।

दूसरी ओर एक ब्रिटिश कर है (या था) जिसे "संपत्ति-कर" कहते हैं, जो शुद्ध अर्थ में आय-कर है। यह है सामान्य आय-कर की अनुसूची 'ए' (भूमि व भवनों के स्वामित्व से प्राप्त आय पर लागू)। आय कर को सामान्यतः पूर्ण करने के लिए इस अनुसूची की आवश्यकता है। यदि इस स्रोत से प्राप्त धन-रूपी अथवा तुष्टिरूपी आय कर मुक्त हो तो उस का अर्थ होगा आय प्राप्ति के एक विशेष ढंग के साहाय्य। संयुक्त राज्य में, जहाँ गृह स्वामियों को अपने गृहों से मिलने वाली आय कर-मुक्त होती है, वास्तव में इस प्रकार का एक सीमित साहाय्य उपलब्ध होता ही है और वह धनवानों द्वारा क्रम-वर्द्धमान कराधान की उग्रता को कम करने के लिए काम में लिया जा सकता है।

स्थावर-संपदा के कर स्थानीय शासनों के राजस्व के स्रोत के नाते बहुत सामान्य रूप में प्रयुक्त होते हैं। यह कुछ तो ऐतिहासिक योगायोग के कारण हुआ। पुरातन परिवहन के दिनों में, सामूहिक सेवाओं के प्रबन्ध के लिए गाँवों और नगरों को अपने ही साधनों का सहारा लेना पड़ता था; तब स्थानीय संपत्ति ही स्पष्ट कर-आधार थी, और फिर विकास की उस अवस्था में कर-दान क्षमता की वह उचित सूचक भी थी। वह अवस्था आज नहीं रही परन्तु इस प्रकार के स्थान-सीमित कर-आधार की स्वतन्त्र प्रकृति के कारण स्थावर-संपदा-कर आज भी स्थानीय राजस्व का सुविधाजनक स्रोत बने हुए हैं। इस बात की अधिक चर्चा हमें बाद में करनी होगी।[1]

भार के दृष्टिकोण से देखें तो, स्थानीय कार्यों के लिए इन करों के प्रयोग से एक नई उलझन उत्पन्न होती है। स्थानीय कर विभिन्न जिलों में अनिवार्यतः भिन्न-भिन्न दरों पर लागू किए जाते हैं। इसलिए अधिक ऊँचे दरों से

---

१. देखिए अध्याय १५, सैक्शन ५ और ६.

बचने के लिए कम दर वाले क्षेत्र में बदल लेने की संभावना करदाता के सामने सदैव रहती है और इस से स्थानीय कर-स्तरों में पहले से विद्यमान भेद के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, और इसके उत्पादन-स्रोतों के वितरण पर दूरगामी परिणाम हो सकते हैं।

स्थायी-उपयोग वस्तुओं पर लगे करों का कार्य अन्य आंशिक करों के समान ही होता है। कर बढ़े तो बाज़ार मूल्य बढ़ता है, इससे माँग कम होती है और पश्चात् पूर्ति का पुनस्समायोजन और साधनों को बदल कर दूसरे कार्यों में चले जाने की इच्छा होती है। इसके विपरीत, कर कम होने से माँग का विस्तार होता है और साधन उस ओर आकर्षित होते हैं। परन्तु संपत्ति के स्थायी स्वरूप के कारण और कुछ उत्पादन की नई इकाइयों के बनने में जितना समय लगता है उसके कारण, किसी कर परिवर्त्तन के पूर्ति पर हुए प्रभाव को प्रकट होने में कुछ थोड़ा समय लगता है। उदाहरणार्थ, भवनों के वार्षिक निर्माण अथवा ध्वंस के दर में किसी कर-प्रेरित परिवर्त्तन से कुल भवनों की संख्या में बहुत थोड़ा अंतर आता है। परिणामतः, कार्य की प्रक्रिया की पहली अवस्थाओं का विश्लेषण करते समय हम पूर्त्ति को व्यवहार के सब प्रश्नों के लिए स्थिर मान कर चल सकते हैं।

जब किसी एकल-उपयोग वस्तु पर कर लगता है तो मुख्य संयोजन आय के लेखा में होता है, करारोपित वस्तु के बनाने में काम आने वाले उपकरणों का पूँजी-मूल्य परोक्ष रूप से कम हो जाएगा। परन्तु प्रभाव की मर्यादा क्या होगी यह—माँग के प्रश्नों के अतिरिक्त कई कारणों पर निर्भर है, जैसे संयंत्र की आयु और कितनी सीमा तक वह करारोपित उत्पादन-दिशा के लिए विशिष्ट है। बहुत करके, किसी विशेष प्रकार के पूँजी-यंत्र के पूँजी-मूल्यों पर संग्रहीत राजस्व के प्रति पौंड कोई बहुत अधिक प्रभाव नहीं होगा।

जब कर प्रत्यक्ष पूँजीगत वस्तुओं पर ही लगाया जाता है तो बात बहुत भिन्न होती है। नियोजन लेखा में उनकी कीमतें तत्काल प्रभावित होंगी, और करारोपित उपकरण के उपयोग से प्राप्त होने वाली आय में कमी के कारण

जो प्रभाव होगा, उसके अतिरिक्त यह परिवर्त्तन स्वतन्त्र रूप से भी उत्पादन पर असर करेगा। यदि करारोपित वस्तुएँ बहुत टिकाऊ हैं और कर के अनिश्चित काल तक रहने की आशा है तो परिवर्त्तन का पूर्व प्रापित (डिस्काउँट किया हुआ) प्रभाव वर्त्तमान पूँजीकृत मूल्य में बहुत अन्तर ला सकता है। दूसरी ओर यदि करारोपित वस्तुओं की आयु कुछ वर्ष ही है और विशेषतया यदि कोई पुराने माल का संगठित बाज़ार नहीं है, तो पूँजी-मूल्यों पर प्रभाव उपेक्षणीय हो सकता है, और कर का कार्य एकल-उपयोग वस्तुओं के कर जैसा ही हो जाएगा। दूसरे प्रकार की स्थिति का उदाहरण वायरलैस "लाइसैंसों" का है और स्थावर संपत्ति कर पहली चरम स्थिति के प्रतिनिधि हैं।

एक और उलझन इस बात से पैदा होती है कि दीर्घायु वाली वस्तुएँ स्वामियों के उपभोग में लगने की बजाय दूसरों को किराए पर दी जा सकती हैं, उत्पादन में सहायक होने के लिए या उपभोग के लिए (किसी भी स्थिति में स्वामी की दृष्टि में तो वे उत्पादन में ही लगी होंगी)। दीर्घायु वाली सम्पत्ति का एक ही पदार्थ—जैसे एक मकान, अपनी आयु में एक के बाद इस प्रकार कई बार पट्टे पर दिया जा सकता है, अथवा एक ही समय पर वह कई प्रकार के पट्टों पर भी चढ़ सकता है। अतः ऐसे लोगों की बड़ी संख्या हो सकती है जिनकी स्थिति पर कर परिवर्त्तन का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। चाहे सब के सब एक साथ उस प्रभाव को अनुभव न करें—उदाहरणार्थ ६६६ वर्ष के भूमि के पट्टेदार के लिए पट्टे के प्रारम्भिक वर्षों में स्थानीय दरों की वृद्धि में कोई तात्कालिक रुचि नहीं हो सकती।

जब सम्पत्ति सामान्यतया पट्टे पर दी जाती हो तो कर चाहे स्वामी पर निर्धारित हो सकता है चाहे पट्टेदार पर। अल्पकाल में निर्धारण पद्धति से प्रभावी भार में कुछ अन्तर पड़ता है क्योंकि जब तक पट्टों का पुनः समायोजन नहीं होता, कर परिवर्तन का पूरा भार उस पक्ष पर ही पड़ता है जिस पर कर का निर्धारण हुआ हो। इस सम्बन्ध में कभी-कभी आवश्यक होता है कि कर के कानूनी दायित्व और संग्रह की पद्धति में भेद किया जाए। इंगलैंड और वेल्ज़ में स्थानीय दर मकान में रहने वाले पर या किरायेदार पर निर्धारित

होते हैं परन्तु सभी छोटे मकानों के दर मालिक देता है जो किराये के साथ उनका भी संग्रह कर लेता है। दूसरी ओर स्काटलैण्ड में मालिक व किरायेदार में दायित्व बँटा होता है। अतः अंग्रेज भू-स्वामी दर वृद्धि होते ही वह पूरी की पूरी किरायेदार पर डाल सकता है यद्यपि निस्सन्देह वह सदा ऐसा करता नहीं है; स्कॉटलैण्ड का भूस्वामी नए पट्टे की व्यवस्था होने तक भूस्वामियों पर लगे दरों के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कर सकता।

सम्पत्ति कर स्वामी के अतिरिक्त भी किसी पर निर्धारित हो सकता है यह सम्भावना एक और उलझन है। हाँ वह उपस्थित रहे चाहे न रहे। इसलिए सम्पत्ति कर कार्य के इस भाग की चर्चा सम्पत्ति करों के अधिक सामान्य विश्लेषण को हाथ में लेने से पहिले कर लेना सुविधाजनक होगा। विश्लेषण को सरल करने के लिए हम सर्वप्रथम अपने ध्यान को उपभोग में काम आने वाली सम्पति पर लगे कर (जैसे निवास-स्थानों पर ब्रिटिश स्थानीय दर) तक सीमित रख सकते हैं।[1] उसके आगे अभी हम यह भी मान लें कि मकानों की पूर्त्ति स्थिर है—जैसा होना अल्पकाल के लिए तो आवश्यक है।

२. स्थानीय दर और शुद्ध किरायों का समायोजन (Local Rates and Adjustment of Net Rents)—स्पष्ट है कि जिस समय कर में बदल होता है, किरायेदार (अथवा स्काटलैण्ड में मालिक और किरायेदार दोनों) को दर में जो कुछ वृद्धि हुई हो वह झेलनी पड़ती है। वैसे ही दर कम हो जाएँ तो स्वामी किराये के पट्टे के जारी रहते किरायेदार के लिए अहितकर कोई बदल शर्तों में नहीं कर सकता। परन्तु वह समय बीतने के बाद प्रश्न यह उठता है कि क्या अपनी थोड़ी-थोड़ी आय और उससे भी कम जमापूँजी के साथ किरायेदार इस स्थिति में होते हैं कि दरों में वृद्धि के पश्चात् भूस्वामियों को किराये घटाने के लिए विवश कर सकें, अथवा दरों में कमी के पश्चात् किरायों को बढ़ने से रोक सकें।

---

१. ब्रिटिश कर की अधिक चर्चा के लिए देखिए Hicks (J. R. और U. K.), The Incidence of Local Rates in Great Britain.

यह तो स्पष्ट है कि मालिकों की आर्थिक स्थिति सामान्यतया अपने किरायेदारों की तुलना में मजबूत होती है, और उसके आगे किरायेदार एक और दृष्टि से घाटे की स्थिति में होते है कि वे घरों में निश्चल है। अगर वे घर छोड़ने का निश्चय करें तो उन्हें धन और सुविधा की हानि उठानी पड़ती हैं। कुछ तो ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें (जैसा हम देखेंगे) किरायेदार घर बदलनें के लिए असाधारण रूप से अनिच्छुक होते हैं और इस कारण छोड़ने की बजाय सकल किरायों (किराया जमा दर) में बहुत सी वृद्धि भी सहन कर लेंगे। किन्तु मालिकों की मजबूती उन्हें अवश्य ही एकाधिकार का दबाव डालने की स्थिति में रख देती हो ऐसा नहीं है, साधारणतया ऐसे मकान अथवा स्थान विरले ही होते हैं जो इतने अद्वितीय हों कि उनके जैसे दूसरे मिल हो न सकते हों। परिवार प्राय: एक ही मकान में अनिश्चित काल तक बने रहने का विचार नहीं रखते; पारिवारिक अवस्थाएँ और आय समय के साथ बदलती हैं और वास्तव में अनुभव में यह आता है कि अधिकांश परिवार काफी जल्दी-जल्दी मकान बदलते हैं।[1] लन्दन में यह कहा जाता था औसत देखी जाए तो सारी जनसंख्या हर तीसरे वर्ष मकान बदल लेती है।

यदि हम इस प्रकार सोचें कि दर में वृद्धि देने वाले के लिए वास्तविक आय में कमी के समानार्थक है, तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मकान के लिए चुकाया जाने वाला मूल्य उसकी आमदनी के हिसाब से जितना वह चाहता है उससे अधिक है, इसलिए वह जितनी जल्दी अवसर मिले अपने बजट का संतुलन दोबारा प्राप्त करना चाहता है—या तो शुद्ध किराये में कमी करवा कर या पहले से छोटा मकान लेकर। अत: जब दर बढ़ते रहे हों तो नए पट्टे लेने वाले कम (शुद्ध) किरायों के लिए आग्रह करेंगे। सभी किरायेदारों की खर्च करने की शक्ति कम हो गई होगी इसलिए यह सोचने का कोई कारण

१. अर्थ-व्यवस्था में यदि किराया-नियन्त्रण बहुत परिमाण में हो, जिससे नियन्त्रित किरायों और स्वतन्त्र बाजार के सम्भाव्य किरायों में बहुत अन्तर आ जाए तो गतिशीलता में बड़ी कमी आ सकती है।

नहीं कि मालिकों को ऐसे किरायेदार मिल जाएँगे जो पुराने किरायों से संतुष्ट रहेंगे। इसलिए मालिकों को किरायों की कमी स्वीकार करनी होगी।

किराये का समायोजन प्रत्यक्ष पैसे की छूट के रूप में ही हो यह आवश्यक नहीं है। मालिक द्वारा करवाई गई मरम्मत अथवा अन्य सेवाओं के गुण अथवा परिमाण में परिवर्त्तन से भी वही बात हो सकती है।[1] दर बढ़ जाने के बाद मालिक को पुराने किराये पर पहले जैसा किरायेदार चाहे न मिले किन्तु सम्भव है वह अधिक बड़ी आय वाला ऐसा किरायेदार ढूँढ़ सके जो पहिले बड़े मकान में रहता रहा हो। अतः दरों के बढ़ने का बड़े मकानों पर छोटों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ेगा किन्तु छोटे मकानों के किराये बढ़ने की प्रवृत्ति माँग के उनकी ओर सरकने के बाद भी रह सकती है क्योंकि घर का व्यय साथ में किसी संवासी को रख कर भी कम किया जा सकता है।

दरों में परिवर्त्तन पुरानी और नई सम्पत्ति पर भी भिन्न प्रकार का प्रभाव डालता है। साधारणतया पुराने घरों से अधिक नए पसन्द किए जाते हैं इसलिए दरों में कमी से, बदलकर नए घरों को जाने की लहर बढ़ेगी, और उनके बढ़ने से विपरीत परिणाम होगा। ब्रिटेन में, अन्तर्युद्ध काल में यह प्रवृत्ति बहुत कुछ इस तथ्य से निष्फल हो गई कि नए मकानों को चलाने का खर्चा कम था (और नौकरों के बिना अधिक सरलता से उनकी व्यवस्था हो जाती थी) और उसके अतिरिक्त दरों के निर्धारण के लिए प्रायः उनका अपेक्षाकृत अधोमूल्यन हुआ होता था।[2] किन्तु सिद्धान्त रूप से दरों की कमी को पुराने मकानों की अपेक्षा नयों की मांग बढ़ानी चाहिए।

कहाँ तक घरों के शुद्ध किराये (या अधिक स्थूल ढंग से कहना हो तो, किराये पर चढ़ाने की शर्त्तें) कर-परिवर्त्तन के बाद समायोजित होंगे यह

---

१. दरों में परिवर्त्तन के तुरन्त बाद ही इस प्रकार का परिवर्त्तन हो सकता है, इसे कर के कार्य का एक भाग ही समझना चाहिए।

२. देखिए Hicks (J. R. and U. K.) The Problem of Valuation for Rating.

ज़िला के प्रकार पर भी निर्भर है। शुद्ध किरायों का जो पुनः समायोजन सामूहिक दृष्टि से किरायेदारों का वर्ग मालिकों के वर्ग से निचोड़ सकेगा वह दरों की वृद्धि से अधिक हो सकता है (अपक्षयी ज़िलों में इसकी संभावना है), उसके बराबर भी और कम भी। विकासी क्षेत्रों में शुद्ध किराये, दर बढ़ने के बाद भी, बढ़ते जा सकते हैं। किरायों के अन्तर से यह नहीं देखा जा सकता कि मालिकों को दर बढ़ने के बाद समायोजन में कितना भाग लेना पड़ रहा है। इसका यदि कोई माप है तो वह है दर बढ़ने के बाद जो शुद्ध किराये[1] रहते हैं उनमें और अगर दरों में वृद्धि न होती तो जो शुद्ध किराये रहते उन दोनों के मध्य में अन्तर। यदि इन दो में कुछ भी अंतर न हो केवल तभी कहा जा सकता है कि किरायेदार पर ही पुनः समायोजन का सारा भार पड़ा है।

अपक्षयी (घटने वाला) क्षेत्र वह है जिससे जनसंख्या जा रही हो, इसलिए किसी भी समय कुछ ऐसे परिवार होंगे जो बदलने के व्यय को बहुत नहीं मानेंगे। उनके मन में वैसे भी शीघ्र ही स्थान बदलने का इरादा बना हुआ होता है, थोड़ा सा भी कारण उपस्थित होने पर उनको अपनी योजना त्वरित करने की इच्छा हो जाती है। इस स्थिति में मालिक किरायों में कमी करने से इन्कार करने का सामर्थ्य नहीं रखेंगे। दूसरी ओर किसी विकासशील क्षेत्र में स्थान मिलना सरल नहीं होता और किरायेदारों को अपने मकान छोड़ने में असाधारण हिचकिचाहट होती है। किरायेदारों और मकान मालिकों के ढंगों में स्थानीय अंतर गहनतर हो जाते हैं क्योंकि दर एक स्थानीय कर है जिसकी मात्रा स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न होती है। अपक्षयी क्षेत्रों में ऊँचे दरों की ओर प्रवृत्ति होती है, और ऊँचे दरों से लोगों को छोड़ जाने की प्रेरणा मिलती है और इस तरह ह्रास शीघ्रतर होता है। विकासी प्रदेशों में दर कम होने की प्रवृत्ति होती है, और चाहे घरों की नई बस्तियों को सार्वजनिक सेवाएँ देने का प्रारम्भिक व्यय भारी होता है, सामान्यतया थोड़ी देर में ही, कर योग्य मूल्य के बढ़ने से उसकी क्षतिपूर्ति हो जाती है।

अतः, दरों में वृद्धि के पश्चात् पुनः समायोजन किस सीमा तक, मालिकों

---

१. या अधिक पूर्णता से कहें तो, किराये पर चढ़ाने की शुद्ध शर्तें।

के ऊपर ठूँसा जा सकता है, इस में एक महत्त्वपूर्ण स्थानीय अन्तर है। अपक्षयी क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में ऐसा किया जा सकता है, परन्तु विकासी प्रदेशों में संभवतः बहुत कम। इसलिए अगर दर बढ़े, तो विकासी क्षेत्रों में किराये जितने होने थे उनसे कुछ कम तो होंगे परन्तु प्रायः बहुत नहीं। किन्तु अपक्षयी प्रदेशों में किराये कम होंगे न केवल इसलिए कि ज़िले का भविष्य उसे अनाकर्षक बना रहा है बल्कि इसलिए भी कि ऊँचे दर उन्हें लगातार नीचे दबा रहे हैं।

एक और स्थिति है जिसमें किरायेदारों में दर बढ़ने के बाद भी मकानों को छोड़ने की असाधारण झिझक होती है। वह स्थिति है जिसमें लोगों को लाभकारी किरायों की कोई विशेष सुविधा हो, या किराया-नियंत्रण के प्रभावी कार्य के कारण या बस्तियों की स्थानीय परिषदों की नीति के कारण जिन्हें लाभकारी किरायों पर मकान मिले हुए हैं उन्हें दर बढ़ने के बाद समायोजन का पूरा व्यय सहन करने के लिए तैयार रहना होगा; दूसरी ओर दर घटने की अवस्था में लाभ भी पूरा उन्हें ही होगा, जबकि अन्य प्रत्येक स्थिति मे अपेक्षा यह रखनी चाहिए कि दरों में कमी आने के पश्चात् मालिक शुद्ध किरायों को बढ़ाने का प्रयास करेंगे—अर्थात् जितने वे दरों में कमी न होने पर रहते उससे अधिक घटने का। दूसरे शब्दों में यह आशा अवश्य रखनी चाहिए कि जब अवसर आए किरायेदारों को अपनी वास्तविक आय में हुई वृद्धि में से, जो दरों में कमी होने से उनके लिए होती है, मालिकों को भी हिस्सा देने के लिए कहा जायगा।

वह प्रारम्भिक काल कितना होगा जिसके बाद किराये समायोजित होने लग पड़ेंगे ? यह स्वाभाविकतया इस पर निर्भर होगा कि किराए किस प्रकार का संविदा से लागू हैं। संविदा देश के एक भाग में कुछ होती है तो दूसरे में कुछ। संभवतः श्रमिक वर्ग के अधिकांश घर प्रति सप्ताह के हिसाब से लगे होते हैं किन्तु जब तक कर टिकने वाला न हो, उनमें परिवर्त्तन नहीं होगा। कुछ भी हो किरायों के कम बदलने का स्वभाव कुख्यात है, परिणामतः किरायों की निश्चितता महीनों में समझनी चाहिए बल्कि साल दो साल तक

जाने वाली न कि सप्ताहों तक सीमित। बड़े मकानों के लिए छः या सात साल के पट्टे सामान्य हैं। अगर गृह के स्वामी के अतिरिक्त कोई भूमि का स्वामी है तो गृहस्वामी और भूस्वामी के मध्य में इसी प्रकार की समायोजन क्रिया भी अन्त में अवश्य होगी परन्तु उसके लिए (औसत) बीस से चालीस वर्ष की अवधि बीत जाने के बाद कुछ होगा।

संपत्ति के स्वामियों पर कर-परिवर्त्तन का प्रभाव पड़ता है, न केवल उन्हें जो किराये मिलते हैं उनकी दृष्टि से वल्कि संभवतः अधिक महत्त्वपूर्ण, नई स्थिति के प्रति पूँजीकृत मूल्यों[1] के समायोजन से। दरों के बढ़ने से दूसरे प्रकार के नियोजन की तुलना में गृह संपत्ति का मूल्य तत्काल कम हो जाएगा। यह ऐसा ही है जैसे मानो संपत्ति पर एक अतिरिक्त भूमि-भाटक (ground rent) लग गया हो (और दर कम होने पर इसके उलट)। अतः दरों के बढ़ने से मकानों में नियोजन अपेक्षया कम आकर्षक हो जाता है जब तक फिर से साम्य स्थापित नहीं होता—जो प्रायः पूर्त्ति की अपेक्षा, रहने के स्थान की माँग के बढ़ जाने से होगा। अपक्षयी प्रदेशों में वह प्रसंग अनिश्चित काल के लिए स्थगित रह सकता है।

इस प्रकार गृह-स्वामियों पर दरों के बढ़ने से दोहरी मार पड़ती है। न केवल आय खाते में उन्हें पुन समायोजन का पूरा खर्च, जब तक मकान उनका रहता है तब तक सहना पड़ेगा बल्कि उनकी संपत्ति का मूल्य भी घट जाता है। जब वे मकान बेचने के लिए निकलेंगे तब उसका मूल्य भी जो अन्यथा होता उससे, अतिरिक्त और अपेक्षित दरों के पूर्वप्राप्ति मूल्य के कारण, कम होगा। यहाँ भी मूल्य में वास्तविक परिवर्त्तन भावी दर निर्धारण से अधिक भी हो सकता है, कम भी और ठीक उतना भी, जिले के प्रकार के

---

१. पुरानी परिभाषा में, पूँजीकृत मूल्यों में परिवर्त्तन का संपत्ति के बिक्री मूल्य में प्रतिबिम्बित होने को पूँजीकरण (Capitalization) अथवा कर का संविलयन (absorption) कहते हैं। जब कोई कर कुछ समय बिना दर में बदल के लागू रहा हो, तो सापेक्ष पूँजी मूल्य कर के साथ पूरी तरह समायोजित हो जाता है और इस अर्थ में, "पुराना कर, कर ही नहीं होता।"

अनुसार। इसके विपरीत, गृह स्वामियों को दर कम होने पर लाभ भी दोहरा ही होता है, आय खाते में अभिधारकों (occupiers) के रूप में और पूँजी खाते में मालिकों के रूप में।

३. स्थानीय दर और गृह निर्माण की मात्रा (Local Rates and the Volume of Building)—अभी तक हमने उस काल में ही घर के कार्य पर ध्यान केन्द्रित किया है जिसमें मकानों की पूर्त्ति में बदल होना संभव नहीं है इस कारण वर्त्तमान घरों के मूल्य (और किराये) केवल कर के परिवर्त्तन से प्रभावित होते है, न कि घर के परिणामस्वरूप मकानों की संख्या में होने वाले परिवर्त्तनों से। दरों में कमी नए निर्माण को प्रेरित करती है, क्योंकि उससे वह शुद्ध मूल्य बढ़ जाता है जो लोग घरों के लिए देने को प्रस्तुत है (स्वयं अपने निवास के लिए या दूसरों को किराये पर देने के लिए) कई मकान जो इसके पूर्व लाभदायक नहीं थे अब लाभदायक हो जायेंगे। ठीक इसी कारण से, दरों में कमी वर्त्तमान घरों की मरम्मत को भी प्रोत्साहित करती है।

जैसे-जैसे नए मकान बनते हैं, मकानों की पूर्त्ति बढ़ती जाती है और उनमें स्पर्द्धा के कारण किराये कम होते है। अतः यदि पहले दौर (phase) में, दरों में कमी से मालिकों के लाभ उठाने की कुछ संभावना है तो दूसरे दौर में (जो कालक्रम की बजाय तर्क दृष्टि से ही उसके बाद आती है, क्योंकि दोनों एक साथ भी चल सकते हैं) लाभ किरायेदारों को वापिस मिल जाता है। उसी प्रकार दरों की कमी से जो लाभ गृह-स्वामियों को प्राप्त होता है उसका कुछ भाग वे खो देते हैं जब निर्माण की बड़ी हुई गति से उनकी संपत्ति का मूल्य कम हो जाता है।

वैसा ही क्रम (यथोचित, परिवर्त्तन के साथ) दरों के बढ़ने से चलता हैं। गृह-निर्माण की गति पर रोक लगेगी परिणामतः किरायेदारों का बढ़ा हुआ दर-दायित्व मालिकों पर डालने का सामर्थ्य, मकानों की कमी के कारण सीमित हो जाएगा। सामान्य दष्टि से देखते हए हम कह सकते हैं कि यदि

नए निर्माण पर दरों का प्रभाव कम है तो उनका अधिकांश प्रभावी भार अन्त में मालिक पर पड़ जाएगा, किन्तु नए निर्माण पर यदि उनका प्रभाव बहुत है तो प्रभावी भार का अधिकांश किरायेदार पर ही रहेगा।

इसलिए, नए निर्माण के द्वारा होने वाली प्रतिक्रिया का विचार भी जिन परिणामों पर हम पहले पहुँच चुके हैं उन्हें ही पुष्ट करता है। किसी अपक्षयी प्रदेश में जहाँ अन्य कारणों से प्रभावी भार गृह स्वामियों पर अकेले जाने की अधिक संभावना है, वैसे भी निजी लाभ के लिए विशेष नव-निर्माण नहीं होगा। इसलिए दरों में बदल का नए निर्माण पर कम ही प्रभाव पड़ेगा और हमारा यह निष्कर्ष कि प्रभावी भार मुख्यतया मालिक पर रहेगा, यहाँ भी ठीक रहता है।

किन्तु दूसरी ओर विकासी क्षेत्रों में, जहाँ किराया सम्बन्धी संविदाओं में कम परिवर्त्तनशीलता होने की सम्भावना है, किसी भी अवस्था में दरों का मकानों के बिक्री मूल्यों पर प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार नए निर्माण की लाभदायकता पर असर होगा। ऐसे क्षेत्रों में, हर अवस्था में कुछ नया निर्माण तो होगा ही किन्तु लाभदायकता में ऐसे बदल से उसकी मात्रा में अन्तर आ सकता है। इसलिए दोनों कारणों से प्रभावी भार किरायेदारों पर पड़ेगा।

अतः स्थानीय दर—या स्थावर सम्पदा पर लगा तत्समान कोई भी कर—एक दृष्टि से निर्माण पर लगा कर होना है, और उसमें कमी का परिणाम एक प्रकार के गृह व्यवस्था-साहाय्य जैसा होगा। यदि नीति का लक्ष्य नए मकानों का निर्माण करवाना है, तो केवल उन्हीं पर साहाय्य देना दरों में कमी की अपेक्षा (जो उदाहरणार्थ, दरों की प्राप्ति से चलने वाली कुछ सेवाओ को केन्द्रीय राजस्व पर डाल कर हो सकता है), बहुत अधिक प्रभावी व राजस्व का मितव्ययी उपाय है। दरों में कमी का अधिकांश निश्चय ही पुराने घरों के किरायेदारों (अथवा मालिकों) को लाभ पहुँचाएगा। इस लाभ में नए मकान बनाने वालों को मिलने वाले हिस्से के अवसर तक ही नए निर्माण का प्रोत्साहन सीमित होगा।

गृह-व्यवस्था-साहाय्य सर्वप्रथम तो नए मकानों के निर्माताओं (निर्माण सामग्री के उत्पादकों सहित) और किरायेदारों को ही लाभ पहुँचाएगा। तो भी, क्योंकि नये निर्माण से सामान्यतया सब किरायों की कम होने की प्रवृत्ति होती है, इसलिए नए निर्माण के प्रोत्साहन से सभी किरायेदारों को परोक्ष लाभ होता है। परन्तु अगर किसी प्रकार की निर्माण सामग्री अथवा श्रम की पूर्ति कम है और वह सुलभ नहीं है तो मकानों के निर्माण के लिए साहाय्य की प्रभाविता का कुछ भाग तो निर्माण व्यय बढ़ने में निष्फल हो जाएगा। यह तर्क साहाय्यों के विरुद्ध नहीं है बल्कि एक चेतावनी मात्र है कि निर्माण के विकास के लिए उठाए गए किसी भी पग की सहायता करने के लिए अड़चनों को दूर करने और पूर्ति की लोच को बढ़ाने की दृष्टि से सीधी कार्रवाई की आवश्यकता हो सकती है।

अपने विश्लेषण को घरों के करों से हटाकर औद्योगिक और व्यवसायी सम्पत्ति के करों पर लागू करने के लिए इसके किसी बड़े विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह स्मरण होगा कि इस तरह के करों का उपरिक भार करारोपित भवनों की सहायता द्वारा उपलब्ध कराई गई वस्तुओं और सेवाओं के उपभोक्ताओं पर पड़ता है। यदि सम्पत्ति पट्टे पर दी हुई है तो सर्वप्रथम प्रभावी भार अभिधारक (occupier) पर होगा, ठीक मकानों के कर की तरह; बाद में मालिक और किरायेदार में एक समायोजन प्रक्रिया होगी, ठीक वैसी ही जैसी प्रक्रिया का विश्लेषण हमने अभी किया है। परन्तु एक और सम्बन्ध का भी विचार हमें करना होगा, निर्माता अथवा व्यवसायी और उसके ग्राहकों अथवा वादार्थी (clients) के मध्य में, जहाँ भवन पर स्वामित्व अभिधारक का ही हो, व्यापारी-सम्पत्ति के दरों के प्रभावी भार के निर्णय में यही मुख्य प्रश्न होता है।

उत्पादक को जो दर देने पड़ते हैं, वे उसके लिए उपरि-व्यय होते हैं। अल्पकाल में सम्भावना यह है कि वे लाभ में से दिए जाएँगे (कम से कम आर्थिक दृष्टि से शुद्ध प्रक्रिया यही होगी) किन्तु दीर्घकाल में, दर उन व्ययों में से होते हैं जो बिक्री मूल्य में से अवश्य निकलने चाहिएँ। उत्पादक के सामने

दो मार्ग हैं—अतिरिक्त दर मूल्य में जोड़ देना अथवा वहाँ से हटकर किसी दूसरे कार्य में अपने आप को लगा देना। कौन सा मार्ग अपनाया जाए, इसका निर्णय वह उस कर की बातों को सोच कर ही करेगा जैसी एक बार के उपयोग वाली वस्तु पर एक नया कर लगाने पर अपना रास्ता चुनते समय उसके मन में रहेंगी—अर्थात् पूर्त्ति और माँग की सापेक्ष लोच, एकाधिकार की मात्रा और कितनी सरलता से विशिष्ट (specialized) साधन (उसकी अपनी योग्यता सहित) दूसरा ओर लगाए जा सकते हैं।

यदि हमारा सम्बन्ध ऐसे कर से है जिसकी कठोरता में स्थान-स्थान में बहुत अन्तर है तब इसका पर्याप्त भय है कि उत्पादक ऊँचे दरों से बचने के लिए दूसरे क्षेत्र को चले जाने का प्रयत्न करें, या जिसकी अधिक सम्भावना है, नए कारखाने केवल कम दर वाले क्षेत्रों में ही लगाएँ। स्थानीय वित्त की दृष्टि से एक कारखाने का बन्द होना, घरेलू दर-दाताओं के ऊँची दर वाले क्षेत्रों से श्रमिक निष्कासन की तुलना में अधिक गम्भीर बात है। उत्पादक के सामने तो शुद्ध आर्थिक हेतु ही होंगे और उनमें अपने पीछे जो बेकारी वह छोड़ जाएगा, उससे समाज को होने वाली हानि को वह नहीं गिनता है। यह भय उन प्रमुख कारणों में से था जिनके परिणामस्वरूप "औद्योगिक दायाप्तियों" (industrial hereditaments) के (अर्थात् उन भवनों के जिनमें कुछ निर्माण क्रिया होती थी) दर कम होकर १९२९ के दरों के दायित्व का ७५ प्रतिशत रह गए। उस पग से औद्योगिक उपरि व्यय के रूप में दरों का महत्त्व कम होकर *न्यूनतम इन्द्रिय ग्राह्य* (minimum sensible) से भी कम रह गए, अधिक नहीं तो उस समय के लिए; चाहे उसके बाद जिन नगरों में कारखानों का कुल कर योग्य मूल्य में काफ़ी हिस्सा था उनमें अनुमात्रा दर पर्याप्त बढ़ गए हैं। ऐसे स्थानों पर अन्य व्यवसाय (विशेषतया दुकानों) के सिर पर भारी अतिरिक्त उपरि भार पड़ गया। उस व्यवसाय के दर पूरे रहे, जिसके दरों की कमी के सामान्य लाभ विशिष्ट स्थानीय हितों को हुई हानि के कारण आंशिक रूप में निष्फल हो गए।

४. अन्य सम्पत्ति कर (Other Property Taxes)—जहाँ तक मताधिकार-कर सम्पत्ति के भाटक-मूल्य पर लगाए जाते हैं, उनका कार्य, स्थावर सम्पत्ति के जिन करों की चर्चा हम कर चुके हैं उनके बिलकुल समान होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि इनके मुख्य प्रभाव आर्थिक क्षेत्र के सम्बन्धित भाग तक ही सीमित रहते है। नया कर लगने की अवस्था में उस दिशा में माँग और परिणामतः उत्पादन रुकेगा और कर कम होने पर बढ़ेगा, जैसे किसी एक बार के उपयोग वाली वस्तु पर कर लगाने से होगा उसी के सदृश। किन्तु सम्भावना यह है कि मताधिकार कर लाभ के (पिछली प्राप्ति से लगाए गए) अनुमान पर आधारित हो। इस स्थिति में कर का कार्य सम्पत्ति पर चुनाव करके लगे (selective) एक आय-कर से मिलता-जुलता होगा। यदि कर वर्त्तमान दरों पर स्थायी होने की आशा न हो तो आगे का समय लेकर लाभ का ऐसा समायोजन करने का प्रयत्न होगा कि कुल जितना कर देना पड़ेगा वह कम से कम हो।

कम टिकाऊ वस्तुओं पर करों (जैसे मोटर-वाहनों पर "लाइसैंस" शुल्क) का भार स्थावर सम्पत्ति पर लगे वैसे ही करों से इस बात में भिन्न है कि इसमें पूँजी-मूल्यों के परिवर्त्तनों का आनुपातिक प्रभाव कम होता है। निजी प्रमोद-गाड़ियों के कर का कार्य गृह-स्वामियों के घरेलू दर के सदृश ही है, कर बढ़ने पर माँग के बड़ी और बढ़िया गाड़ियों से हटकर छोटी गाड़ियों की ओर जाने की, तथा कर के घटने से मूल्यवान गाड़ियों की माँग बढ़ने की, वैसी ही प्रवृत्ति यहाँ भी है। ठीक कौन से सूत्र से दायित्व निर्धारित होता है, यह इस सम्बन्ध में अत्यन्त अधिक महत्त्व रखता है क्योंकि निर्माता स्वाभाविकतया रूपांक बदल कर "शुद्ध" आकर्षकता (उपयोग के समाधान में से कर निकाल कर) को अधिकतम बनाने का प्रयत्न करेंगे। इसी तरह बसों और टैक्सियों के "लाइसैंस" शुल्कों का कार्य, पट्टे पर दी हुई सम्पत्ति पर लगे घरेलू दरों जैसा होता है जिसमें पट्टे को एक दीर्घकालीन व स्थायी संविदा की बजाय अल्पकालीन संविदाओं की एक शृंखला समझना चाहिए। अन्त में लारियों और डिलिवरी-गाड़ियों जैसे वाहनों के लाइसैंस, उत्पादन में

लगे भवनों के करों से मिलते हैं। परन्तु इन सब का पूंजी-प्रभाव की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है।

पूंजी वस्तुओं पर प्रत्यक्ष लगे करों के भार को छोड़ने से पहले एक और बात ध्यान देने योग्य है। जैसा हमने देखा है ब्रिटिश स्थानीय दर किरायों के सम्बन्ध में निर्धारित होता है, अर्थात् वह वार्षिक मूल्यों पर आधारित है। अधिकांश अन्य देशों में इस प्रकार का कर सम्पत्ति के बिक्री मूल्य पर आधारित होता है, अर्थात् पूंजी-मूल्य पर। यहाँ एक मूलभूत सैद्धान्तिक प्रभेद है यद्यपि व्यवहार में उसके कारण प्राय: मूल्यांकन अथवा भार में कोई बहुत बड़ा अन्तर नही आता। वार्षिक मूल्य, स्थिति को जैसी है वैसा स्वीकार कर लेते हैं और आगामी फल के मूल्यों का कोई विचार नही करते; किन्तु बिक्री मूल्य न केवल सम्पत्ति के वर्त्तमान किराये को हिसाब में लेते हैं बल्कि बाज़ार में सम्पत्ति या पास-पड़ोस के अपेक्षित विकास का अनुमान लगाकर भविष्य के किरायों के बारे में जो आशा बनती हो, उसका भी। इस सम्भावना के लिए निस्सन्देह गुंजायश छोड़ी जाती है कि वे आशाएँ कुछ काल तक पूरी न हों, और इतना बट्टा उनमें से काट लिया जाता है।

जहाँ सामान्यतया सम्पत्ति किराये चढ़ाई ही नहीं जाती, वहाँ स्वाभाविकतया अनिवार्य है कि कर-आधार मूलधन हो न कि वार्षिक मूल्य। एक विकासी देश में यह निश्चित रूप से लाभदायक होता है क्योंकि मूल्य बढ़ने की आशा काफ़ी होती है और वह निस्सन्देह कर में समाविष्ट होनी चाहिए। परन्तु सामान्यत: पूँजी-मूल्यों का ठीक निर्धारण वार्षिक मूल्यों की अपेक्षा अधिक कठिन होता है; किसी हाल की बिकी हुई सम्पत्ति का पड़ोस की अन्य सम्पत्तियों के वर्त्तमान मूल्यों को आँकने के लिए ठीक सूचक होना कोई ज़रूरी नहीं है। इस कारण मूल्यांकन में अभिमत (judgment) का एक तत्त्व प्रवेश कर जाता है जो वार्षिक मूल्यांकन में अनुपस्थित रहता है, कम से कम जहाँ व्यापक भाटक-नियन्त्रण (rent control) नहीं है। इस से अनिश्चितता उत्पन्न होती है और व्यक्ति-निरपेक्षता में कमी आती है।

मूल-मूल्य आधार का ही एक प्रकार है जिसे स्थान-मूल्यों (site values)

का करारोपण कहा जाता है। इस उपाय में कर को स्थान मात्र के पूँजी मूल्य पर आधारित करने का प्रयत्न किया जाता है और या तो इसके भवनों और इसमें जो अन्य सुधार हुए हों उनकी उपेक्षा की जाती है, या उनका मूल्यांकन पृथक् कर के उन पर हल्का कर लगाया जाता है। स्थान-मूल्य-कराधान (site value taxation) के दो संभव लक्ष्य हो सकते हैं। एक तो यह कि स्थान पर खड़े किये गए भवन के गुणदोष का कर के दायित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिए जिस प्रकार के भवन से सब से अधिक प्राप्ति की आशा होगी उसके निर्माण में कर के कारण कोई अवरोध नहीं आएगा। कर में यदि भवन समाविष्ट होता तो जो भवन बनता उससे यह जो वास्तव में बना है बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। किन्तु इस की कुछ संभावना दीखती है कि यह भी यदि कर के नीचे आता तो जैसा होता उससे अच्छा या बड़ा हो। दूसरा लक्ष्य यह कि स्थान-मूल्य-कराधान (यह मानते हुए कि मूल्यांकन ठीक हो गया है) के द्वारा पड़ोस के विस्तार से स्थान के मूल्य में होने वाली वृद्धि भी राजस्व के अन्तर्गत आ सकेगी जो वृद्धि जहाँ तक संपत्ति के वैयक्तिक स्वामी का संबंध है, "अनार्जित" (unearned) होती है। इस प्रकार स्थान-मूल्य कराधान "आर्थिक किराये" अथवा बचत (surplus) के सिद्धान्त पर आधारित है, जो (भूमि आदि) किसी स्थिर पूर्ति वाले साधन के स्वामी को उस साधन की सहायता से उत्पादित वस्तुओं की माँग बढ़ने पर, प्राप्त होती है। इस प्रकार के कर का गुण यह है कि उत्पादनशीलता पर तब तक कोई उसका हानिकारक प्रभाव नहीं होता, जब तक कि वह वास्तव में शुद्ध आर्थिक बचत निर्धारित हो।

मूल्य में हुई वृद्धि, स्थान और भवन के पूँजी-मूल्य पर आधारित कुशल मूल्याँकन से भी प्राप्त हो सकती है परन्तु उसमें उत्पादक के उद्यम का परिणाम निश्चित रूप से कर में सम्मिलित होने के कारण उसके उत्पादनीय प्रभाव भी होंगे।

स्थान-मूल्य कराधान की कठिनाई वास्तविक मूल्यांकन में ही आती है। केवल खाली स्थान ही पृथक् बिकते हैं और तब भी उनमें किए गए सुधार

प्राय: समाविष्ट रहते हैं। शेष सब में स्थान और सुधार की मिली हुई इकाई ही बाजार में आती है और परिणामतः केवल इसी के संबंध में बाजार साक्षी उपलब्ध हो सकती है। एक बार एक स्थान पर कोई भवन खड़ा हो जाए तो कुल के मूल्य में स्थान और भवन दोनों के पृथक् योगदान को स्थापित करने का कोई व्यक्ति-निरपेक्ष उपाय नहीं है, भले ही उन्हें तर्क में पृथक् किया भी जा सके जो कि निश्चित कदापि नहीं है। अतः बाजार साक्षी की जिसके आधार पर स्थान-मूल्यांकन हो सकता है--सदा कमी रहती है। इस कारण मूल्यांकन में मनमानी का अंश आ जाता है, जो कि पूर्ण पूंजी मूल्यांकनों में हमने जितना आता देखा है उसके अतिरिक्त है। इन अन्तिम पूर्ण मूल्यांकनों में मूल्याँकन करने वाले का कार्य बाजार के निर्णय की विवेचना मात्र करना होता है, किन्तु जब वह भवन सहित स्थान का मूल्यांकन करता है तो कल्पना का कहीं अधिक काम पड़ता है और उसके मूल्यांकन के विरुद्ध अपील लगभग असंभव ही होती है।

स्थान-मूल्यांकन में, मूल्य निश्चित करने वाले को न केवल भावी विकास का भविष्यदर्शी बनना पड़ता है, बल्कि वह कब होगा इसकी भी निश्चित धारणा बनानी होती है; इसमें गलती लगने से स्थान के वर्त्तमान बट्टा काटे हुए मूल्य (present discounted value) में पर्याप्त अन्तर आ सकता है। यदि भूल अति आशावाद की है तो करदाता के लिए बहुत कठिनाई आ सकती है क्योंकि उस पर जितनी आय के लिए कर लाद दिया गया है उतनी प्राप्त करने का उसके पास कोई उपाय नहीं होगा। व्यवहार में यह दिखाई देता है कि जिन देशों में स्थान-मूल्यांकन-करारोपण का अनुभव सब से अधिक सन्तोषजनक रहा है (न्यूजीलैंड और डेनमार्क) वहाँ मूल्याँकन बड़े उदार पट्टे के साथ करने की प्रवृत्ति रही है। किन्तु इस उपाय से राजस्व-संभाव्य निस्सन्देह बहुत कम हो सकता है और यह कमी सुधारों की छूट से कर-आधार के संकीर्ण हो जाने के कारण जो न्यूनता आएगी, उसके अतिरिक्त होगी।

स्थान-मूल्य करारोपण की कठिनाइयों को देखते हुए और राजस्व की भारी आवश्यकता की दृष्टि से, विकासशील देशों के लिए संभवतः यही उचित

होगा कि पूर्ण पूँजी-मूल्यांकनों के अन्तर्गत ही अपेक्षित विकास-मूल्यों पर कर लगा कर समाधान कर लें। यदि विशिष्ट प्रकार के विकास को प्रोत्साहित करने की नीति हो तो 'रिबेट' के घटाए हुए दरों के द्वारा इसका प्रबन्ध किया जा सकता है।[1]

यदि किसी पहले से विकसित और प्राय: स्थिर जनसंख्या वाले देश में बदल कर स्थान-मूल्य कर लागू करने का प्रयत्न हो तो एक ओर मूल्यांकन के खर्चे और कठिनाइयाँ, और दूसरी ओर बड़े और मूल्यवान भवनों के स्वामियों को जो छप्पर फाड़ कर आने वाला लाभ प्राप्त होगा उसकी तुलना में जो उत्पादनीय लाभ होंगे वे बहुत कम सिद्ध होंगे, विशेषत: इस कारण कि वे भी पूरे तभी होंगे जब कर केवल शुद्ध आर्थिक किराये पर ही निर्धारित किया गया हो। यदि नया कर पूरी इकाई के मूल्य, वार्षिक अथवा मूल, पर लगे किसी कर के स्थान पर हो तब राजस्व की पर्याप्त हानि भी उठानी पड़ेगी जिसे ऐसे देश में अपेक्षित विकास-मूल्यों के समावेश से पूरा करना कठिन होगा। जैसा वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में एजवर्थ ने कहा था, जब "अनार्जित वृद्धि" (unearned increment) पर उदारदलीय कर राजनीतिक तर्क-वितर्क का केन्द्र बना हुआ था, ब्रिटेन में इस प्रकार के कर के विरुद्ध मौलिक आपत्ति यह है कि "इसमें पैसा ही नहीं है।"[2]

स्थान के पूरे मूल्य पर कर निर्धारित हो सकते हैं, परन्तु स्थान-मूल्यांकन का मौलिक उद्देश्य है उस "आर्थिक किराये" या बचत पर कर लगाने की व्यवस्था करना जो ऐसे साधन (जैसे भूमि) के स्वामी को प्राप्त होता है जिसकी कुल पूर्त्ति स्थिर हो, जैसे जैसे संबंधित साधन की सहायता से बनने वाले पदार्थों की मांग बढ़ती जाती है। जैसा १८४० की दशाब्दी में मिल ने

---

१. देखिए, J. R. & U. K. Hicks, Taxation and Finance in Jamaica.

२. देखिये, Edgeworth, Collected Papers, Vol. II, Sections U and V.

संकेत किया था, यह "भिन्नक कराधान का बहुत उपयुक्त विषय" है।[1] यदि उस पर कर लग सके तो उस कर में दोहरा गुण होता है। प्रथम संपत्ति के मूल्य में जो वृद्धि स्थानीय समाज के विस्तार के कारण हुई है न कि स्वामी के परिश्रम के कारण, उसे वह समाज के लिए ही प्राप्त कर लेता है। द्वितीय, मूल्य की वृद्धि क्योंकि स्वामी द्वारा अनार्जित होती है इसलिए कर का उद्यम पर कोई निरोधक प्रभाव नहीं हो सकता। यह परिणाम ठीक तरह प्राप्त करने के लिए स्थान की मूल अथवा "सुधार रहित" अवस्था (जैसी शुरू में प्रकृति ने बनाई) के मूल्य का अनुमान लगाना और मूल्य की केवल उस वृद्धि पर ही कर लगाना, जो समाज की गतिविधि के कारण हुई हो, आवश्यक होता है।

नए देशों में, जहाँ अविकसित स्थानों का बिक्री-मूल्य आधार प्राप्त करना संभव हुआ है, और जहाँ विकास तीव्रतापूर्वक होता रहा है, इस प्रकार के करों का पर्याप्त उपयोग किया गया है।

---

१. देखिये अध्याय ८

अध्याय १२

शुद्ध आय और लाभ पर सामान्य कर
(General Taxes on Net Income And Profits)

१. आय और व्यय करों के कल्याणकारी प्रभाव की तुलना (The Welfare Effects of Income and Outlay Taxes Compared)—व्यय करों में, व्यक्ति व्यक्ति के द्वारा दिए जाने वाले दर में अन्तर नहीं होता; व्यक्ति का दायित्व भिन्न होता है तो करारोपित वस्तुओं के खरीदे गए परिमाण अथवा गुण में भिन्नता के कारण। इसके विपरीत आय और पूंजी करों में हर करदाता के दायित्व की, उसके धन व परिस्थितियों के अनुसार पृथक् गणना करनी होती है।

वैयक्तिक आय कर के लिए, इस गणना के पहले दो प्रारम्भिक प्रश्नों का निर्णय करना आवश्यक होता है। पहला आय खाते में होने वाली प्राप्तियों को पूंजी खाते की प्राप्तियों से पृथक् करना होगा (क्योंकि ठीक आय-कर में केवल प्रथम प्रकार की प्राप्तियों पर कर लगाने का प्रयत्न होता है)[1]; दूसरा इस बारे में निर्णय करना पड़ता है कि व्यक्ति की सकल प्राप्ति को शुद्ध आय में परिवर्तित करने के लिए, जो उसके दायित्व का आधार होता है, कौन-कौन से खर्च की अनुज्ञा होनी चाहिए। ब्रिटिश आय-कर में एक और अवस्था

१. आर्थिक दृष्टिकोण से आय की सम्भवतः सबसे अच्छी परिभाषा है, वह राशि जिस का किसी काल में, अपनी कुल सम्पत्ति (पूँजी) कम किए बिना, स्वामी उपभोग कर सकता है। देखिए J. R. Hicks, Value and Capital, पृष्ठ १७२. कई अवस्थाओं में इसमें कुछ पूँजी-प्राप्तिया भी आ जाती हैं। जैसा हम आगे देखेंगे (अध्याय १३) पूँजी-प्राप्तियों पर, हानि के लिए पर्याप्त क्षतिपूर्ति देते हुए, प्रभावी व समन्याय्य सामान्य कर को क्रियान्वित करने में भारी प्रशासी व प्रावैधिक कठिनाइयाँ आती हैं। दूसरी ओर, दाय-करों के द्वारा, कुल पूँजी (जीवन-काल में हुई प्राप्तियां मिलाकर) का प्रभावी करारोपण सरल भी होता है और समन्याय्य भी।

भी जरूरी होती है। वह है शुद्ध (अथवा "वास्तविक") आय में कुछ छूटों व साहाय्यों के लिए कटौती कर के, जिन की योजना करदाता की व्यक्तिगत परिस्थितियों का हिसाब करने के लिए की गई होती है, उसे "कर योग्य" आय में बदलना। इनकी विस्तृत चर्चा हम बाद में करेंगे।

आकस्मिक पूँजी प्राप्तियों से आय-प्रवाह का भेद करना प्रायः कठिन नहीं होता। हाँ, दोनों की सीमा पर के कुछ उदाहरण सदा होते हैं जो कष्ट दे सकते हैं –उदाहरणार्थ जहाँ आय सामान्यतया एक के बाद एक कई पूँजी सौदों के सिलसिले से ही प्राप्त होती है (जैसे स्कन्ध-वणिक्त, स्टॉक-आढ़ती की आय)। इस प्रकार की स्थिति में तो पूँजी-प्राप्तियों को भी आय मानकर उन पर कर लगाना बिलकुल उचित है। एक दूसरे प्रकार की कठिनाई आती है क्योंकि कभी-कभी यह करदाताओं के हाथ की बात होती है कि आय को पूँजी-प्राप्ति का रूप दे दें (उदाहरणार्थ जिन फर्मों में उनका निर्णायिक प्रभाव हो, उनसे लाभाँश की जगह बोनस पूँजी वितरण प्राप्त करने की व्यवस्था करके)। इस प्रकार की पूंजी प्राप्तियाँ वास्तविक अर्थों में आय होती हैं और इन पर कर लगाना चाहिए किन्तु खोज करके उनका पता लगाना सदा सरल नहीं होता। अधिकर का जो अपवंचन होता है उसका अधिकांश बहुत कर के इसी तरह का होता है। इस प्रकार के कर अपवंचन को रोकने का उपयुक्त उपाय आय कर को फैला कर सामान्य पूँजी प्राप्तियों पर लागू कर देना नहीं है,[1] किन्तु कोई कार्यदक्ष राजस्व विभाग आय कर के कलेवर के अन्दर ही आय की जगह पूँजी प्राप्तियों को देने की विशिष्ट रीतियों पर कर लगाने के साधन ढूंढ़ सकता है।

सकल आय को शुद्ध आय में बदलने के लिए जिन खर्चों के लिए छूट देनी चाहिए उनके निर्णय की प्रक्रिया में अधिक सामान्य कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। व्यवहार में "व्यक्तिगत" खर्च राजस्व अधिकारियों द्वारा काफी रूढ ढंग से तय किए जाते हैं। ब्रिटेन में, उनमें उपजीविका और निर्वाह व्यय के लिए

१. देखिए अध्याय १३।

एक सीमित छूट (जैसे कारीगर द्वारा लगाए गए उपकरण, जीवन बीमे की किस्त और रहने के मकान पर बंधक-ब्याज) भी सम्मिलित है परन्तु व्यवसाय में स्थान प्राप्त करने का व्यय उसमें नहीं है। ब्रिटिश आय कर के अवैयक्तिक (non-personal) भाग के लिए व्यापारी फर्म को छोड़े जाने वाले खर्चे भी रूढ़ पद्धति से ही निश्चित किए जाते हैं। जो राजस्व अधिकारी स्वीकार्य मानते हैं वे आवश्यक नहीं है कि वहीं हों जिन्हें कोई लेखापाल अथवा कोई अर्थशास्त्री उपयुक्त मानेगा और इस कारण कर का कोई निश्चित दर जितना होना चाहिए उससे अधिक भारी हो सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण पद है जिस पर हमें बाद में फिर लौटना होगा।

आय-कर के निर्धारण में सबसे अधिक गम्भीर प्रावैधिक कठिनाइयाँ प्राय: छोटी फर्म की व्यय, लाभ और वैयक्तिक आय में भेद करते समय खड़ा होती हैं। इस प्रकार के व्यवसायों द्वारा काम में लाई जाने वाली घटिया लेखा पद्धतियों के कारण कई देशों में कर के काफी बड़े दायित्व से लोग बच जाते हैं। इस अपवंचन के कारण जो असाम्य उत्पन्न हुआ वह, ब्रिटेन व अन्य देशों में जिस समय आय-कर पहले पहल लगा उस समय उसकी अप्रियता के बड़े कारणों में से था। अब वह कठिनाई बहुत कुछ दूर हो चुकी है, कम से कम ब्रिटेन में तो, कुछ तो सामान्य फर्म के आकार के बढ़ जाने और पारिवारिक स्वामित्व के ह्रास के कारण और कुछ व्यापारिक लेखा पद्धति की प्रविधि में सुधार के कारण। कम से कम अग्रगण्य औद्योगिक देशों में तो अब आय-कर अन्तर्वैयक्तिक साम्य (inter-personal equity) के ऊँचे स्तर पर संग्रह किया जाता है, चाहे फिर उसमें जिन रूढ़ियों का पालन किया जाता है उनमें आर्थिक दृष्टि से अभी सुधार की आवश्यकता होगी।

आय-कर अनिवार्य रूप से पूँजी-करों से जुड़े होते है, न केवल इसलिए कि पूँजी प्राप्तियाँ कई बार आय से पृथक् नहीं की जा सकतीं बल्कि इस कारण भी कि दोनों प्रकार के कर व्यक्ति की कुल सम्पत्ति पर समान ढंग से आधारित होते हैं—एक उसके वार्षिक मूल्य पर दूसरा उसके पूँजी-मूल्य पर। व्यवहार में तो दोनों प्रकार के करों का सम्बन्ध वास्तव में बहुत ही घनिष्ठ होता

है क्योंकि आय पर निर्धारित कर चाहे यथार्थ में पूँजी में से दिया जा सकता है और इसी प्रकार पूँजी कर आय में से। अब जैसे युद्धकाल में एक अस्थायी उच्च आय-कर उपभोग में उतनी कमी लाए बिना भी परिसम्पत् बेचकर चुकाया जा सकता है,[१] और इसी तरह साल के बाद प्रतिवर्ष लगा पूँजी-कर आय में से दिया जाने की प्रवृत्ति होगी। किसी तरह हो, यदि प्रत्येक करदाता से उतना ही राजस्व हरसाल निचोड़ा जाए तो भी पूँजी पर निर्धारित कर का प्रभावी भार अधिक सामान्य ढंग से निर्धारित आय-कर के प्रभावी भार से भिन्न होगा और भिन्नता महत्त्वशून्य नहीं होगी। अतः हमने न केवल इसका विचार करना है कि कर दिया कैसे जाता है बल्कि इसका भी कि वह निर्धारित कैसे होता है।

आय और पूँजी के सामान्य करों के कार्य का विश्लेषण करते हुए हमें "एक समय पर एक चीज" की अपनी (आंशिक) पद्धति के अनुसार ही चलते रहना होगा इस अर्थ में कि अभी भी हमारा राजस्व के संवितरण के प्रभावों के साथ कोई संबंध नहीं है। हमने देखा है कि एक विशिष्ट कर के राजस्व में से होने वाले व्यय की पृथक् चर्चा हम केवल पृथक् रक्षित कर के लिए कर सकते हैं, अर्थात् राजस्व के बँटवारे का सारा विषय तब तक नहीं लिया जा सकता जब तक हम अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक वित्त की चर्चा प्रारम्भ नहीं करते। तो भी हमारा विश्लेषण इस अर्थ में तो अब अवश्य सामान्य होना चाहिए कि अब हम अपने ध्यान को बाजार विशेष में होने वाले परिवर्त्तनों तक सीमित नहीं रख सकते; अब तो हमें उपभोग और नियोजन अर्थात् राष्ट्रीय आय के आकार का निर्णय करने वाले कारकों की सामान्य गति पर कराधान के प्रभाव की चर्चा अवश्य करनी होगी।

व्यय करों (देखिये अध्याय १०) की तुलना में आय करों के अनुकूल

---

१. इस स्थिति के कारण कभी-कभी युद्ध काल में पूँजी आरोपण (capital levy) की मांग उठी है। हम आगे देखेंगे (देखिए अध्याय १३, सेक्शन २) कि उपभोग और मूल्यों के नियन्त्रण की दृष्टि से वह प्रभाव-रहित होगा बल्कि उसका असर उलटा भी हो सकता है। वह आरोपण दाता कहाँ तक ऋण ले सकते हैं, इस पर निर्भर होगा।

"क्लासिकल" (classical) (बल्कि विक्टोरियन) पक्ष इस अन्तर्निहित मान्यता को लेकर चलता था कि जब करदाता के सामने एक निश्चित राजस्व के लिए, आंशिक व्यय-कर अथवा आय-कर के मध्य में विकल्प हो तो दोनों दिशाओं में उसका प्रारंभिक दायित्व शून्य होता है। इस अवस्था में यह धारणा ठीक है कि वह आय कर को पसन्द करेगा। एक तो विकल्प से उसके व्यय के वितरण में कोई गड़बड़ नहीं होगी। दूसरा, उसका देने वाले पर प्रभाव भी कम पड़ेगा क्योंकि बराबर राजस्व संग्रह करने के लिए यह लगभग निश्चित है कि आय कर का दर[1] व्यय कर के दर से कम होगा। वास्तव में इसकी संभावना बहुत नहीं है कि उसे आय-कर देने से कार्य और विश्राम के लिए अपनी सापेक्ष पसन्द में कोई बदल होता हुआ अनुभव होगा, इसलिए उसे बचत की भी कोई हानि नहीं होगी।

यह निष्कर्ष कि आय-कर से बचत की कोई हानि नहीं होती, आय प्राप्त करने के खर्चों की अपेक्षा पर मौलिक रूप से निर्भर है। वे खर्चे हैं व्यक्ति की टूट फूट और कार्य की मानसिक अनुपयोगिता (subjective disutility)। अतः वह निष्कर्ष कार्य से प्राप्त होने वाली आय के कर के लिए केवल तभी सर्वथा ठीक है जब उसके दर साधारण हों और उससे भी अधिक जब कर-दाता के पास अपने प्रयत्न को बदल कर आय को बदलने का कोई अवसर न हो। इस अवस्था में प्रतिस्थापना प्रभाव (substitution effects) कुछ नहीं होते और आयकर एक "एकमुष्टि" कर से जो उत्पादनीय दृष्टिकोण के साथ हमने देखा है, कि आदर्श है, मिलता जुलता है। फिर भी कई परि-स्थितियों में यह सच है कि व्यय-करों से आय-करों को बदलने से संतुष्टि में वृद्धि होगी। परन्तु उसके प्रमुख लाभ वितरण के क्षेत्र में ढूंढने होंगे।

व्यय-करों के राजस्व का भारी अधिकांश न्यून आय-वर्गों से (केवल मात्र उनकी संख्या अधिक होने के कारण) प्राप्त होता है। दूसरी ओर आय करों का राजस्व प्रमुख रूप से उनकी आय अधिक होने के कारण ऊपर के आय

---

१. उसके "महत्त्व" के कारण, देखिए अध्याय १०।

वर्गों से आता है। अतः व्यय-करों से आय-करों को परिवर्त्तन, कर-व्यवस्था को काफी कम प्रतिगामी बना देगा और कराधान को करदान क्षमता के साथ अधिक अच्छी प्रकार संबंधित कर देगा। राजस्व के इस आय-वितरण का परिणाम यह भी है कि व्यय-कर उपभोग के सिर पर दिए जाने की प्रवृत्ति होती है जब कि आय-कर कम से कम अंशतः बचत के सिर पर। इस-लिए आय-करों को बदलने से अर्थ-व्यवस्था में खर्च करने को प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि न्यून आय-वर्गों को अधिक खर्च करने का अवसर मिलेगा और उच्च आय-वर्गों का, खर्च को पहले से कम करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं होगा। इसके विपरीत निस्संदेह, यह है कि उच्च और क्रमवर्द्धमान आय-कर, बचत को रोकने की प्रवृत्ति रखते है, एक तो बड़ी बचत करने वालों की आयों को कम करके और दूसरा अधिक खर्च करने वालों पर करों का भार कम कर के। दोनों ओर के खतरों को समझने के लिए और यह निर्णय करने के लिए कि वे कहाँ तक कर में आन्तरिक सुधारों के द्वारा कम किए जा सकते है, यह उचित होगा कि हम परंपरागत ब्रिटिश आय-कर की कुछ न कुछ विशेषतापूर्ण रचना का परीक्षण कर लें।

२. **ब्रिटिश आय-कर की रचना** (The Structure of British Income Tax)—१९१० में अधिकर (supertax) के लागू होने के बाद से ब्रिटिश आय में तीन स्पष्टतया पृथक् तत्त्व हैं: (i) एक न्यून मुक्ति परिसीमा (low exemption limit) के ऊपर सब वैयक्तिक आयों पर एक "स्टैंडर्ड" दर से निर्धारित एक सीधा समानुपातिक (proportional) कर[1]। (ii) उसी "प्रतिमान" दर से निर्धारित, सभी फर्मों के अवितरित लाभ पर एक कर। (iii) आय की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ काफी तेजी से बढ़ने वाले दरों से निर्धारित, वैयक्तिक आयों पर एक क्रमवर्द्धमान अधिकर। प्रशासनीय दृष्टि से, इस प्रकार ब्रिटिश आय कर तीन पृथक् कर हैं किन्तु आर्थिक दृष्टि से उसमें केवल दो कर हैं, एक न्यून मुक्ति परिसीमा सहित एक

---

१. "न्यून दरों" और "छूटों" अथवा "सहायताओं" से संबंधित उलझनों को छोड़ कर। देखिए पृष्ठ २१८,२१९,२२० व उसके आगे।

क्रमवर्द्धमान वैयक्तिक आय कर और कारबार पर एक समानुपातिक कर। तीन प्रशासी तत्त्वों में से पहले दो मूल आय-कर के सीधे वंशज हैं; तीसरा १९१० के उदारदलीय शासन के अधिकर का उत्तराधिकारी है पर उस समय मुक्ति परिसीमा ५००० पौंड थी।

अधिकर की अभिसीमा में आने वालों का, कर के दो वैयक्तिक तत्त्वों को दायित्व, कर दाता द्वारा हर वित्तीय वर्ष के आरम्भ होते ही दी गई कुल आय की विवरणी के आधार पर, एक ही बार निश्चित हो जाता है, परन्तु आय-कर और अधिकर का संग्रह दो भागों में होता है।[1] अधिकर आय कर के एक साल पीछे देना होता है। दूसरी तरफ आय कर (अधिकर से उसे पृथक् करते हुए) के वैयक्तिक और अवैयक्तिक राजस्व का बड़ा भाग एक बड़ी सरल युक्ति से इकट्ठा संग्रह हो जाता है। फर्मों के कुल लाभ स्टैंडर्ड दर पर करारोपित होते हैं और कर की राशि काटने के बाद हिस्सेदारों को शुद्ध लाभाँश वितरित किये जाते हैं।

यह "स्रोत पर कटौती" (deduction at source) वैयक्तिक कर के दायित्व के निभाने की ओर पहला पग है; बाद में प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति का, उसकी आय विवरणी और जो कुछ छूट उसे मिल सकती है उसको ध्यान में लेकर, अतिरिक्त भुगतान अथवा वापसी (उसके कर की ठीक दर स्टैंडर्ड दर से कम है या ज्यादा, इसके अनुसार देख कर) समायोजन हो जाता है। संग्रह की यह पद्धति, उस अपवंचन के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण बचाव है जो कर-दाता के द्वारा संपत्ति मे प्राप्त संपूर्ण आय विवरणी में न दिए जाने के कारण हो जाता है। यदि स्टैंडर्ड दर काफी उच्च हैं तो उसका यह भी मतलब है कि राजस्व का एक बड़ा भाग थोड़े समय की देर के साथ इस प्रकार बिना कष्ट दिए संग्रह हो जाता है।

ब्रिटिश आय कर ने करदाता की देन की योग्यता का (न केवल प्राप्तियों के हिसाब से, बल्कि उसकी आवश्यकताओं के हिसाब से भी) विचार करने

१. यदि करदाता को साथ ही पी० ए० वाई० ई० (Pay as you Earn) के अन्तर्गत भी कर लग रहा है तो तीन। देखिए नीचे पृष्ठ २२३ व उसके आगे।

का सदा प्रयत्न किया है। कुछ छोटी छूटें तो पिट्ट के आय कर के समय ही उसकी एक विशेषता रही है और उनका दावा करने के लिए कुल आय की विवरणी देने की पद्धति करदाता को अपनी संपूर्ण आय प्रकट करने के लिए तैयार करने के वास्ते कुटिलतापूर्वक काम में लाई गई। यह प्रक्रिया एक प्रभावी और साम्यपूर्ण आय कर का अनिवार्य अंग अनुभव द्वारा सिद्ध हो चुका है।[1] अन्तर्युद्ध काल के प्रारम्भ से ले कर, करदाता और उसकी पत्नी के लिए "वैयक्तिक" छूट के अतिरिक्त, बच्चों और अन्य अवलंबियों के लिए सहायता के रूप में निश्चित राशियाँ दी गई हैं। फिर, एक अधिकतम मर्यादा तक, एक प्रतिशतता छूट (percentage allowance) कार्य से प्राप्त आय पर दी जाती है और इस प्रकार विनियोग पर निर्वाह करने वाल (rentier) वर्ग के विरुद्ध विभेद किया जाता है; इस तरह की छूट न्यून आय कर वर्गों में जो वृद्धावस्था पैंशन पाने वाले हैं उन तक "वय-सहायता" (age relief) के रूप में फैला दी गई है।

इस प्रकार की सहायताओं के परिणामस्वरूप कर को आवश्यकताओं और आय-करों के साथ क्रमवर्द्धमान बना दिया गया है। करदान क्षमता के साथ उसका संबंध भी दो अन्य प्रकारों से सुधर गया है। प्रथम, अधिकांश करदाताओं के लिए प्रभावी मुक्ति-परिसीमा नाम मात्र सीमा से काफी ऊपर कर दी गई है। जैसे १९५३-५४ में जब संविहित (statutory) मुक्ति परिसीमा १२५ पौंड थी, तीन बच्चों वाले एक विवाहित युगल की आय यदि ६०० पौंड से अधिक नहीं थी तो वह कर से लगभग मुक्त ही था। १९३८ में यह बिन्दु ५०० पौंड पर आता था किन्तु युद्धपूर्व पौंडों में कहीं ऊँची मुक्ति परिसीमा अन्तर्निहित थी, द्वितीय, उस क्षेत्र में भी जिस में नाममात्र दरों में कोई अन्तर नहीं है, कर में उत्तरोत्तर वृद्धि का एक सामान्य तत्त्व प्रविष्ट करा दिया जाता है। इस प्रकार आय के न्यूनतर क्षेत्रों में सहायताओं का प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण है किन्तु ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाती है वे धीरे-धीरे महत्त्वशून्य हो जाते हैं।

---

१. देखिए अध्याय ८।

किन्तु वैयक्तिक आय-कर में उत्तरोत्तर वृद्धि, मुख्यतया आय में प्रत्येक वृद्धि के साथ उच्चतर दर लागू करने की युक्ति के द्वारा प्राप्त की जाती है (यह युक्ति अब प्राय. क्रमवर्द्धमान करों में प्रयुक्त की जाती है)। "आय-कर" क्षेत्र में (अर्थात् अधिकर मुक्ति परिसीमा के नीचे) परंपरा से ऐसे दो पग (steps) रहे हैं जो क्रमश: "न्यून-दर" और "स्टैंडर्ड दर" कहलाते हैं। (१९४१ के दूसरे बजट में एक द्वितीय न्यून दर प्रचलित की गई और बाद में तृतीय भी) अधिकर क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि अब ग्यारह पगों के द्वारा प्राप्त की जाती है।

जब कर के ये क्रम-दर या सीमांत दर करदाता की कुल आय पर औसत बना कर दिखाए जाएँ तो उसके कर-दायित्व की वृद्धि उसकी आय के बढ़ने के साथ एक लगभग सरल वक्र के अनुसार चलती है। यह स्थिति आगे के चित्र में दिखाई गई है जिसमें अ, अ', ब और ब' १९५३-५४ में कर के क्रमशः सीमांत और औसत (अथवा प्रभावी) दर जो एक अकेले सर्व नियोजन आय वाले व्यक्ति और तीन अवलंबी बच्चों वाले एक विवाहित युगल के लिए थे। तुलनात्मक उद्देश्य से १९३८ का अ' वक्र भी रखा गया है।

क्योंकि सीमांत वक्र पूरा रास्ता ऊपर उठते जाते हैं, औसत वक्र अनिवार्य रूप से उनके नीचे ही रहते हैं, किन्तु आय के बढ़ने के साथ वक्र एक दूसरे के निकट आते जाते हैं पर मिलते नहीं—क्योंकि एक निश्चित सीमा है (१०० प्रतिशत) जिसके ऊपर सीमांत वक्र नहीं जा सकता। जब यह बिन्दु पहुँचने के समीप हो भी तो (जैसा १९४१ से वह है) कर को, न्यूनतर आय स्तर पर अधिकतम दर लगा कर, अधिक क्रमवर्द्धमान बनाया जा सकता है।

३. कर के उच्च दरों का उद्दीपक तथा उद्यम पर प्रभाव (The Effect of High Tax Rates on Incentive and Enterprise)—सामान्य रूप से यह कहना सम्भव नहीं है कि कर के दरों में किसी एक दिए हुए परिवर्त्तन से करदाता परिश्रम पहले की अपेक्षा अधिक करेगा या कम। हाँ, हम यह नियम तो बना सकते है कि जहाँ कोई परिवर्त्तन औसत प्राप्ति की अपेक्षा सीमांत प्राप्ति पर अधिक प्रभाव डालेगा वहाँ उसकी प्रतिक्रिया

पौंड में शिलिंग
५शि०
१०शि०
१५शि०
वास्तविक आय (LOG SCALE)
१०० २०० २५० ५०० ८०० १,००० २,००० ५,००० १०,००० २०,००० ५०,००० १००,०००
१००
७५
५०
२५
अ ब
अ
ब
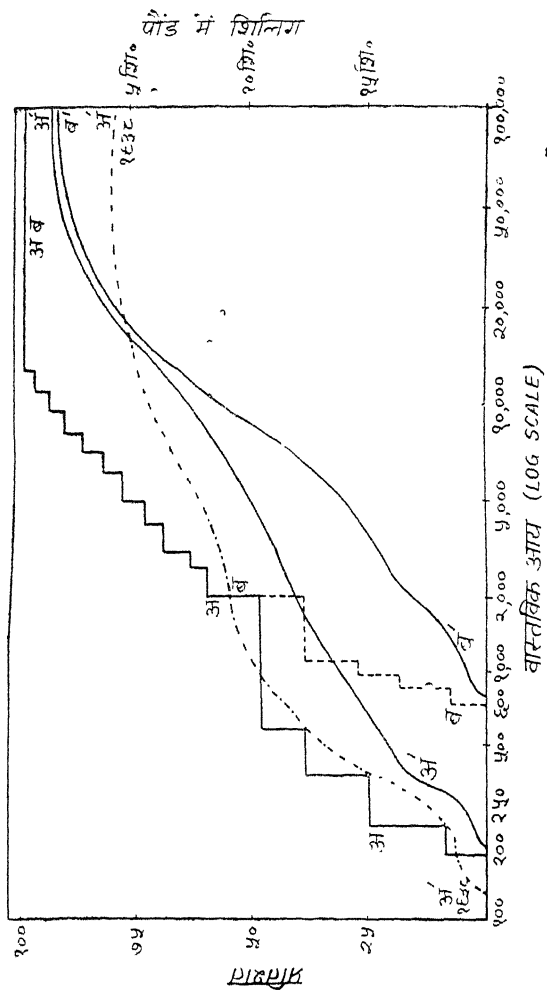
अधिक तीव्र होगी क्योंकि उस पर प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष और तात्कालिक है। सीमांत व औसत दरों में यदि बहुत अन्तर होगा तो सीमान्त प्रयास पर अपेक्षाकृत भारी कर होने के कारण वह अनुद्दीपक (disincentive) होने की प्रवृत्ति रखेगा। अतः आय-मानदण्ड के भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर आय-कर के सीमान्त और औसत दरों के अन्तर को काफ़ी महत्त्व प्राप्त हो जाता है। यह दिखाई देगा कि अन्तर वहाँ जहाँ आय-कर का दायित्व शुरू होता है और वहाँ जहाँ अधिकर का दायित्व शुरू होता है, वहाँ विशेष बड़ा है। स्पष्ट है कि इन दो में से पहला बिन्दु उद्दीपक की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखता है, किन्तु गत वर्षों में इस स्थान पर स्थिति "न्यून दरों" के गुणन से काफ़ी सुधर गई है और सीमान्त व औसत इतने समीप कर दिए गए हैं जितने पहले नहीं थे।

सीमान्त और औसत दरों में कर-रचना में होने वाले परिवर्त्तनों से जो सापेक्ष बदल आते हैं उनके विषय में किस रूप में सहायता दी जाती है, उसका महत्त्व है। वैयक्तिक और अवलम्बियों के 'रिबेट' के सर्वसमान होने के कारण केवल औसत दरों पर आघात करते हैं। दूसरी ओर अर्जित आय और वय-सहायताएँ (age reliefs) प्रतिशतता होने के कारण सीमान्त दरों पर परिणाम करती हैं और कर के दर में सीधी कमी के बराबर होती हैं जो दायित्व के निचली अभिसीमा में विशेष उल्लेखनीय होती है। इस प्रकार ये सहायताएँ दोहरा काम करती हैः नियोजन आय के विरुद्ध विभेद करने के वितरणात्मक लक्ष्य के अतिरिक्त, सहायताओं में वृद्धि के निश्चित रूप से उद्दीपक होने की सम्भावना है। ये दोनों लक्ष्य अधिक अच्छी तरह सेवित होंगे यदि अर्जित आय सहायता अधिकर के क्षेत्र में भी जारी रहे। जो स्थिति आज है उसमें विभेद थोड़ी सम्पत्ति के स्वामी के विरुद्ध है न कि विशाल सम्पत्ति के—जब तक हम मृत्यु करों के प्रश्न पर नहीं आते।

युद्ध-पूर्व अवस्था की तुलना में ब्रिटिश आय-कर का स्वरूप काफ़ी बदल गया है। १९३० की दशाब्दी में जब करदाता केवल ३८ लाख थे, यह मूलतः एक माध्यमिक व उच्च आय शुल्क था, जब कि अधिकर के नीचे केवल धनी

आते थे। प्रथम प्रभावी युद्ध-बजट के साथ मुक्ति परिसीमा घट गई और सहायताएँ कम कर दी गईं। इस प्रकार आय-कर एक जनता-कर बन गया जिसका दायित्व साप्ताहिक भृतिजीवियों (wage earners) की विशाल संख्या पर आ गया। साथ ही मुद्रा के मूल्य में कमी से मध्यम आय की विशाल संख्या अधिकर के क्षेत्र में आ गई। १९५० की दशाब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, युद्धकालीन दरों के कम होने के बाद भी १६० लाख से अधिक कर के दायी निकले और उनके अतिरिक्त बहुतेरे "सीमान्त" लोगों पर अस्थायी निर्धारण किया गया। कर के स्वरूप में यह परिवर्त्तन जान-बूझकर किया गया। यह युद्धोद्गत आयों के प्राप्त कर्त्ताओं को मानो बोली देकर कीमतें बढ़ा देने से रोकने के हेतु से बलात् बचत करने, और युद्ध-प्रयास के लिए साधनों को मुक्त करने की दृष्टि से किया गया।

युद्ध के बाद भी स्फीति का दबाव जारी रहा किन्तु साप्ताहिक भृति-जीवियों पर आय-कर का अनुद्दीपक परिणाम, जो युद्ध की अवस्था में उपेक्षणीय था, अब एक गम्भीर प्रश्न बन गया। इस कारण गाड़ी को उलटा चलाया गया : मुक्ति परिसीमाएँ ऊँची उठाई गईं और सहायताएँ बार-बार बढ़ाई गईं : दो नवमांश पर अर्जित आय व वय सहायताएँ पहले किसी भी काल से ऊँचे दर पर स्थिर हैं। अतः सहायताओं का संकलित प्रभाव एक नया महत्त्व प्राप्त कर गया है। यह पी० ए० वाई० ई० (Pay as you Earn) पद्धति द्वारा और भी बढ़ा दिया गया है जिसके अनुसार १९४३ से सभी वेतन व भृतिजीवियों से कर लिया जाता रहा है। इसका महत्त्व समझने के लिए पहले संक्षेप में उन सिद्धान्तों का परीक्षण करना आवश्यक है जिन के अनुसार पी० ए० वाई० ई० का कार्य चलता है।

कर में साप्ताहिक भृतिजीवियों के समावेश से यह आवश्यक हो गया कि (अमरीकन शब्द प्रयोग के अनुसार) "साथ-साथ रोक रखने" (Current Withholding) की एक पद्धति चलाई जाए क्योंकि उनसे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि अर्द्धवार्षिक या त्रैमासिक भुगतान के लिए आवश्यक नकदी जमा करते रहें। प्रशासी सुविधा के लिए पद्धति को विस्तृत

करके भृतिजीवियों पर भी लागू कर दिया गया चाहे उनमें से ऊपरी श्रेणियों पर रोका गया कर तो प्रायः कुल दायित्व में से ही भुगतान होगा। पी० ए० वाई० ई० चालू आय पर आधारित है इसलिए कर भुगतान यथासम्भव राष्ट्रीय मुद्रा आय के साथ मानो कदम मिलाकर ही चलता है और इस प्रकार एक अच्छा, स्थायीकरण का परिणाम प्राप्त होता है। प्रत्येक भृति-अवधि के लिए सारे वित्त वर्ष के दायित्व का औसत निकाल लिया जाता है। अतः आधार वार्षिक ही है न कि किसी काल-विशेष की आय। इसका अर्थ यह होता है कि वर्ष में घटती बढ़ती रहने वाली आय में से भी जो कर दिया जाता है वह बराबर नियमित आय की अपेक्षा अधिक नहीं होता। यह बात खण्ड कर्मकारों (piece workers) के लिए महत्त्व रखती है। इसका अर्थ यह भी है कि हर भृति-अवधि की समाप्ति पर करदाता का राजस्व-प्राधिकारियों के साथ हिसाब बराबर हो जाता है; साधारणतया जब वित्त-वर्ष का अन्त आएगा उस समय उसने राजस्व वालों को न कुछ देना होगा न लेना। अतः पद्धति बहुत साम्यपूर्ण है।

किन्तु पी० ए० वाई० ई० कई प्रकार से अनुद्दीपक (disincentive) है। मूल बात यह है कि वैयक्तिक (अवलंबियों की) सहायताएँ कैसे दी जाती हैं। माना यह जाता है कि वे वर्ष भर में नियमपूर्वक प्रति सप्ताह में एक बावनवाँ भाग इस दर से उपार्जित (accrue) होती हैं। अतः किसी सप्ताह में जब प्राप्ति औसत से कम होती है तब सम्भावना हो सकती है कि करदाता को जो सहायताएँ मिलनी चाहिएं वे सब न मिलें। तब वे जमे हुए कर-दायित्व के विरुद्ध लगा दी जाती हैं; एक तरह से उन्हें "हानि" मान लिया जाता है जिसे आवश्यक हो तो वर्ष के अन्त तक आगे ले जाया जाता है। जब आय कम होती है तो न्यूनतर औसत दर के साथ समायोजन का और उपार्जित सहायताओं का संकलित प्रभाव होता है अनुपस्थित रहने वाले श्रमिक को एक प्रकार की "वेतन सहित छुट्टी" उपलब्ध कराना। अगर वित्त वर्ष के अन्दर कार्य पूरी तरह रुक जाए तो उसको कई सप्ताहों के लिए पर्याप्त प्रतिशोधन दिलवा सकता है। साम्य और प्रभावा माँग के स्थायित्व

की दृष्टि से इस परिणाम की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु उसमें अनुद्दीपक की गम्भीर सम्भावना है। दूसरी ओर किसी भी सप्ताह में कार्य औसत से अधिक हुआ तो तत्काल अधिक कर तो ले लिया जाएगा; अतः पी० ए० वाई० ई० से, जब भी आयों में काफ़ी उतार-चढ़ाव हो तो, अनुद्दीपक का भय होता है।

इस त्रुटि के अतिरिक्त, पी० ए० वाई० ई० का प्रशासन सरल नहीं है। सहायताओं के साप्ताहिक आधार के कारण वर्ष के प्रत्येक सप्ताह के लिए पृथक् "सारणी" की आवश्यकता पड़ती है, जब कि सहायताओं के विभिन्न मिश्रणों के कारण हर करदाता के दायित्व की किसी "संकेतावलि" के अनुसार गणना की आवश्यकता होती है। पद्धति के प्रारम्भ से अन्तर्देशीय राजस्व (विभाग) ने अवसर का लाभ उठा कर एक ओर जिन खर्चों के लिए करदाता को छूट मिलनी है (जैसे बंधक-ब्याज अथवा बीमा किस्तें) उनमें "संकेत बन्धन (coding in) का निर्णय किया और दूसरी ओर न्यूनतर आय-वर्गों में प्रायः मिलने वाली सम्पत्ति आय की कुछ मदों का (जैसे युद्ध-ऋण-ब्याज और ऐसे मकान की आकलित आय जो करदाता के स्वामित्व में है और निवास के काम भी आता है)। काल के प्रवाह में १७० से अधिक भिन्न-भिन्न संकेतावलियाँ (codes) बनाई गई हैं। इन संकेतावलियों और सारणियों (codes and tables) का सारा प्रबन्ध जिससे साप्ताहिक कर-दायित्व की गणना हो सके, मालिकों के ऊपर पड़ता है। यह एक ऐसा सामाजिक व्यय है जिसे किसी भी तरह उपेक्ष्य नहीं समझा जा सकता। फिर, कर में परिवर्त्तन आने के बाद संकेतावलियों और सारणियों की पुनर्गणना की जटिलता इतनी होती है कि कोई परिवर्त्तन कम से कम तीन महीने के विलम्ब के बाद ही लागू किया जा सकता है। अतः साथ-साथ रोक रखने की पद्धति की स्थायित्व के उपाय के रूप में जो उपयोगिता है उसकी प्रशासी सुविधा के लिए कुछ सीमा तक बलि चढ़ा दी जाती है।

इसके अनुद्दीपक प्रभाव और जटिलता इन दोनों को देखते हुए पी० ए० वाई० ई० के सुधार की एक स्पष्ट आवश्यकता है। किन्तु इसमें कुछ भी

परिवर्त्तन करते हुए इसकी दो विशेषताएँ ऐसी हैं जिनको छोड़ देना दुर्भाग्य की बात होगी—दायित्व का वार्षिक आधार और करदाता व राजस्व प्राधिकारियों के मध्य में एक पर्याप्त निकट सन्तुलन का बनाए रखना। इन सीमाओं के भीतर भी सुधार की गई दिशाओं में कल्पना की जा सकती है। जैसे एक उपाय हो सकता है संयुक्त राज्य के अन्दर चलने वाली पद्धति के सदृश. एक अधिक सरल प्रणाली का उपयोग करना। वहाँ पारिवारिक सहायताओं का कुछ सर्व समान राशियों (५०० डालर) के रूप में प्रमापीकरण कर दिया गया है, और वर्ष की अनुमानित आय की साप्ताहिक औसत पर हर सप्ताह कर काट लिया जाता है। यह दावा किया जाता है कि इसका कोई अनुद्दीपक प्रभाव नहीं होता, और यह इतना साम्यपूर्ण भी दिखाई देता है कि स्वीकार्य हो सके, यद्यपि यह सच है कि वित्त वर्ष का अन्त साधारणतया ज्यादा रोक लिये गये कर की पर्याप्त मात्रा में वापसी से होता है।

एक और विकल्प जो प्रशासन में सरल है और जो सीमांत और औसत दरों के अन्तर का अनुद्दीपक प्रभाव भी पूरी तरह दूर कर देगा, यह है कि आय के प्रथम 'क्ष' पौंड पर ('क्ष' को ५०० पौंड के बराबर मानते हुए) एक सर्वसमान प्रतिशत दर लिया जाए; सहायताएँ प्रतिशतता कटौती के रूप में दी जा सकती हैं जो प्रबन्ध वर्त्तमान पद्धति से अधिक साम्यपूर्ण होगा। इस प्रकार के "सरल कर" के द्वारा प्रश्न का एक बहुत सुथरा हल प्राप्त हो सकता है यदि आय-कर के साथ, एक ओर सामाजिक बीमा के अंशदान और दूसरी ओर सामाजिक बीमा लाभ—जैसे पारिवारिक छूटें—जो इस समय दो बार दी जाती हैं, विधायक सामाजिक सुरक्षा भुगतानों के और नकारात्मक आय-कर रिबेटों के रूप में, मिला दिए जाएँ, इस मिलन से पर्याप्त प्रशासी बचत हो जाएगी। और भी, यदि सामाजिक बीमा के प्रति अंशदानों को वर्त्तमान सर्वसमान राशियों के प्रतिशत के रूप में रूपान्तरित कर दिया जाए, तो न्यून दरों के रद्द होने से आय-कर की निचले सिरे पर उत्तरोत्तर वृद्धि में जो कमी आई है उसका डंक दूर हो जाएगा। किन्तु, क्योंकि बहुत से कर्मचारी, सामाजिक सुरक्षा अंशदानों की परम्परागत पद्धति

को कर की बजाय बीमे की किस्त मानते हैं, जिसके कारण अंशदाता को लाभ अधिकार के रूप में मिलते हैं न कि साहाय्य के रूप में, इसलिए समस्या के इस समाधान के लिए सहमति प्राप्त करना आसान नहीं होगा।

पी० ए० वाई० ई० के सुधार के पक्ष में बल है ही, किन्तु दूसरी ओर भी कुछ बातें कही जा सकती हैं। यह कदापि निश्चित नहीं है कि सम्भाव्य अनुद्दीपक प्रभाव सामान्य अवस्था में वास्तविक कहाँ तक होते हैं। प्रश्न की प्रकृति ही ऐसी है कि सांख्यिकी पुष्टि प्राप्त करना असंभव है चाहे भली प्रकार अभिपुष्ट आकस्मिक उदाहरण (substantiated casual instances) सदा उपलब्ध रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कार्य करने की इच्छा युद्ध के तुरन्त बाद निम्नतम थी, युद्ध की थकान, दुकानों में उपलब्ध वस्तुओं की तुलना में धन की बहुलता और काम से अनुपस्थिति के कारण हटाए जाने की उपेक्षणीय संभावना ने पी० ए० वाई० ई० के साथ मिलकर एक मूलतः अनुद्दीपक स्थिति निर्माण कर दी। अधिक सामान्य काल में अधिकांश मज़दूरी और वेतन पाने वालों के पास प्रयत्न में बदल के द्वारा आय में परिवर्त्तन करने के अवसर बहुत नहीं होते।

उससे बढ़कर यह है कि संकेत बन्धन पद्धति (coding system) की ऊपर से दीखने वाली जटिलताएँ वास्तव में अन्तर्देशीय राजस्व द्वारा एक महान् प्रशासी सरलीकरण के रूप में बदल दी गई हैं। एक बार ठीक संकेतावलि पहचान ली जाए (और प्रायः यह सदा ही कर-दाता के हित में होता है कि पहचान ठीक हो), तो करदाताओं के विशाल बहुमत से आय की कोई विवरणी लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अमरीका की "सरल" पद्धति में भी प्रत्येक करदाता के लिए हर साल विवरणी प्रस्तुत करना अपरिहार्य होता है। फिर, यान्त्रिक प्रतिभा ने शीघ्र ही फ़र्मों को पी० ए० वाई० ई० मशीनें उपलब्ध करा दीं जो अनिपुण क्लर्कों द्वारा भी चलाई जा सकती हैं। इस कारण पी० ए० वाई० ई० के सुधार के पक्ष में दी जाने वाली युक्तियों में आज उतनी तीव्रता नहीं जितनी कुछ वर्ष पूर्व थी। किन्तु इससे पद्धति के वास्तविक दोष हमारी दृष्टि से ओझल नहीं हो जाने चाहिएँ, विशेषतया जैसे

यह साप्ताहिक वेतन-स्तर के ऊपर की आय वालों पर लागू होती है जिनकी आय के एक भाग का पी० ए० वाई० ई० द्वारा निर्धारण करदाता के लिए अपने बचे हुए दायित्व का अनुमान लगभग असम्भव बना देता है।

यद्यपि निचले आय-वर्ग सम्भवत: आय-कर के रूप के विषय में विशेष रूप से चिन्ता करते हैं, मध्यम और उच्च अभिसीमाओं में कर के ऊँचे दर अनुद्दीपक हो सकते हैं चाहे वे सीमांत दरों पर आघात करें अथवा औसत दरों पर। अधिक संभावना यह है कि परिणाम अधिकतम परिश्रम करने में झिझक का रूप ले ले, अथवा शायद अधिक वेतन दिलाने वाले आगे के प्रशिक्षण को प्राप्त करने में संकोच का, बजाय काम से अनुपस्थिति या इनकार के, तो भी उस कारण वह राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से हानिकर ही है। अधिक स्पष्ट यह है कि जो दर उचित माने जाते हैं उनसे अधिक हों तो परिणाम अनेक प्रकार से कानूनी अपवंचनों के रूप में सामने आ सकता है, उदाहरणार्थ व्यय लेखा में, जो पूरा का पूरा राजस्व प्राधिकारियों के परीक्षण के नीचे, कठिनाई के बिना, नहीं लाया जा सकता।

सबसे बढ़कर उच्च आय स्तरों पर कर के ऊँचे दरों ने, अन्य किसी भी कारक से अधिक शुद्ध वैयक्तिक बचत (savings) को समाप्तप्राय कर दिया है और कभी-कभी अपसंचय तक को बढ़ावा दिया है—कम से कम अल्पकाल में। किन्तु इसके लिए ऊँचे मृत्यु कर भी उत्तरदायी है। वैयक्तिक बचतों का ह्रास दो दृष्टियों से चिन्ता का विषय है। स्वैच्छिक बचतें साधनों को मुक्त कर के सार्वजनिक नियोजन के कार्यक्रम की सहायता करती हैं, अन्यथा मुद्रा स्फीति से बचना हो तो उन साधनों को बजट आधिक्य के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। निजी फ़र्मों को ऋण रूप में मिल कर के वैयक्तिक बचतें अब भी नए उद्यम के विस्तार के लिए "उपक्रम" (venture) पूँजी का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत बन सकती हैं। यह ऐसा नियोजन है जिसका वित्त प्रबन्ध छोटी और अल्पायु होते हुए कोई फ़र्म अपने आप से नहीं कर सकती।

किन्तु वर्त्तमान अवस्था में धनिकों के उच्च करारोपण का सामान्यतया नियोजन के प्रश्न से बहुत कम सम्बन्ध आता है। नियोजन संचालक मण्डलों

के निर्णयों से होता है और साधारणतया धनिकों की वैयक्तिक बचतों के प्रत्यक्ष उपयोग से नहीं, फ़र्मों के संचित आरक्षितों (Reserves) में से उसकी वित्त व्यवस्था होती है। इसलिए विचारणीय विषय इस सम्बन्ध में वैयक्तिक कर नहीं है, बल्कि अवितरित लाभ पर के स्टैन्डर्ड दर का नियोजन और उद्यम पर निरोधक प्रभाव। यह दो दिशाओं में अनुभव किया जा सकता है, एक मूलतः कर की अपनी ऊँचाई पर निर्भर है, दूसरी प्रस्तावित नियोजन के प्रकार पर।

इनमें से प्रथम का कार्यकरण देखने के लिए एक फ़र्म का उदाहरण लें जो १०,००० पौंड के नए उपकरण को लगाने के विषय पर विचार कर रही है। यदि फ़र्म आवश्यक पूँजी ५ प्रतिशत पर ऋण ले सकती है, तो ऋण के ब्याज का ५०० पौंड (और उपकरण पर आवश्यक अवमूल्यन अभ्यंश भी), नियोजन से कुछ भी शुद्ध लाभ मिलने के पूर्व प्राप्त होना चाहिए। यदि ५०० पौंड से अधिक के शुद्ध लाभ की सम्भावना हो भी तो यह शक्यता भी सदा रहती ही है कि प्राप्ति उससे कम हो जिस अवस्था में नियोजन का परिणाम शुद्ध-हानि के रूप में होगा, इसलिए अपेक्षित लाभ इस संभावना की क्षतिपूर्ति करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए। मान लीजिए ६०० पौंड की प्राप्ति की अधिकतम आशा, हानि की संभावना का हिसाब करते हुए पर्याप्त समझ ली जाती है। किन्तु यह ६०० पौंड कर देने के बाद शुद्ध लाभ है। यदि कर की दर पौंड में ५ शिलिंग हो तो कर पूर्ण नियोजन के उपयुक्त होने के लिए आवश्यक कर-पूर्व लाभ ६३३ पौंड होना चाहिए। किन्तु यदि कर का दर १० शिलिंग प्रति पौंड है तो कर-पूर्व लाभ ७०० पौंड होना आवश्यक है। ऐसे नियोजन जिन से ७ प्रतिशत प्राप्ति की अधिक आशा हो आसानी से नहीं मिलते। कर के ऊँचे दर कई आशापूर्ण औद्योगिक अवसरों का गला अवश्य ही घोंट देते हैं।

इसी प्रकार का तर्क संचित आरक्षितों से नए नियोजन के वित्त-प्रबन्ध पर भी लागू किया जा सकता है, अन्तर इतना ही है कि ब्याज निकाल कर शुद्ध लाभ के स्थान पर, यहाँ उपयुक्त गणना होगी नए नियोजन से अपेक्षित शुद्ध लाभ (कर निकाल कर) और उस धन के अन्य प्रयोग [उदाहरणार्थ

प्रतिभूतियाँ (securities) खरीदने पर] से जो प्राप्ति (वह भी कर निकाल कर) हो सकती है—उन दोनों के मध्य अन्तर की। यह भी उतना ही सत्य है कि (कर-पूर्व) लाभ में जो वृद्धि, नियोजन के लाभदायक होने के लिए आवश्यक है वह कर के दर में वृद्धि के साथ *आनुपातिक* (proportionately) से *अधिक* बढ़ती है।

व्यवहार में, एक फ़र्म के सामने एकमात्र अपेक्षित लाभ-दर नहीं, संभव परिणामों की एक श्रेणी उपस्थित रहती है जिन्हें एक वक्र पर चित्रित किया जा सकता है, अशुद्धि के सामान्य वक्र के समान। जोखिम वाले अपरीक्षित प्रकार के नियोजन के विषय में जहाँ परिणाम के सम्बन्ध में बहुत अनिश्चितता हो, अर्थात् बहुत बड़े लाभ की कुछ आशा किन्तु हानि की भी बहुत संभावना दिखाई दे, वक्र चौड़ा और चपटा होने की प्रवृत्ति होगी। सुरक्षित नियोजनों के बारे में, जिनमें क्षेत्र की नवीनता नहीं है, हानि की संभावना उपेक्षणीय होगी और बहुत विश्वास के साथ उस प्राप्ति-दर की अपेक्षा रखी जाएगी जिसकी अधिकतम आशा है। परिणामतः उनमें वक्र संकीर्ण और कुबड़ा होगा।

लाभ पर अतिरिक्त कर लगने से अपेक्षित प्राप्तियों के वक्र पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वक्र सशरीर बायी ओर सरक जाएगा। परन्तु उस के स्वरूप या हानि की सम्भावना में कोई अन्तर नहीं आएगा। जोखिम वाले नियोजन के वक्र में बहुत अधिक लाभ की सभावना जो हानि की बहुत संभावना का संतुलन करती थी इस प्रकार कट जाती है और परिणामस्वरूप पलड़ा उसके विरुद्ध झुक जाता है, जब कि अपेक्षया अप्रभावित होने के कारण सुरक्षित नियोजन अधिक आकर्षक हो जाएगा। उच्च लाभ करों का "उपक्रम पूँजी" के विरुद्ध विभेद, जो देश आधुनिक विकास के साथ-साथ आगे बढ़ना चाहता है उसके लिए चिन्ता का विषय है। किसी स्थापित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए जिसमें सब प्रकार के औद्योगिक उपकरण भरपूर उपलब्ध हैं और इस कारण जहाँ नवीन उद्यम को विशेष सतर्क रहने की जरूरत है, यह चिन्ता संभवतः और भी अधिक होगी। इस कर-प्रभाव का व्यापार चक्र के

साथ भी सम्बन्ध है; मंदी में अपेक्षित प्राप्तियों के वक्र चपटे हो जाने की प्रवृत्ति रखते हैं, कई सामान्यतया "सुरक्षित" नियोजन "जोखिम वाली" श्रेणी में पहुँच जाते हैं।

अतः अवितरित लाभ पर कर का उच्च दर आर्थिक दृष्टि से अवांछनीय है इसका कम से कम घटिया परिणाम यदि कोई है तो यह कि आरक्षितों में कटौती करता है और इस प्रकार संयंत्र के आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधा बनता है और निकृष्टतम यह कि यह उद्यम और खोज पर एक प्रबल रोक बन सकता है। फिर भी अवितरित लाभ को कराधान से पूर्णतया मुक्त रखना जिसका सुझाव कभी-कभी संयुक्त राज्य में दिया जाता है, वांछनीय नहीं है। अवितरित लाभ का कर वैयक्तिक कर की ही पूर्णता है। यद्यपि वे इनको उपभोग में काम नहीं ला सकते, तो भी लाभ व्यवसाय के स्वामियों (प्रायः सामान्य हिस्सेदारों) की आय ही होता है और परिसंपत् के किसी ठीक लेखा में उनके नाम पर डाला जाना चाहिए।[1] इस आय को कर से मुक्त रखने से, बोनस बाँट कर निजी कर का अपवंचन करने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाएगी। और भी, यदि अवितरित लाभ पर शून्य अथवा कर की नाममात्र दर लगाई जाएगी तो वास्तविक नियोजन को कोई विशेष प्रोत्साहन न मिलते हुए 'आरक्षितों' का संचय मात्र बढ़ेगा।

इसलिए अवितरित करों पर कर का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उत्पादन पर और विशेषतया संयंत्र के आधुनिकीकरण पर यथासंभव कम रोक लगे, जिस बात की वैयक्तिक कर की पूर्णता के साथ संगति है; और यदि संभव हो तो उद्यम और खोज का विधायक प्रोत्साहन मिले। इसमें यह अन्तर्हित है कि यह वैयक्तिक कर का स्टैन्डर्ड दर ऊँचा है और प्रशासी सुविधा की दृष्टि से अवैयक्तिक कर के लिए भी वही दर रखने की इच्छा है तो पर्याप्त रिबेट उपलब्ध होनी चाहिए, न केवल अप्रचलन और टूट-फूट के लिए अपितु नवीन नियोजन और खोज के लिए भी। बढ़ते हुए मूल्यों के समय जब आय

---

१. देखिये अध्याय १६।

कर में से अवमूल्यन के लिए दी गई छूट, उपकरण के पूँजी मूल्यों पर आधारित होने के कारण प्रतिस्थापन के लिए आवश्यक धन से बहुत कम पड़ रही हो, तब यह और भी जरूरी है। १९४५ के आय कर अधिनियम से लेकर एक ऐसा नवीनतापूर्ण उपाय निकाला गया है जो दोनों काम करता है। वह है "प्रारम्भिक छूटों" की पद्धति जिसमें कुल अवमूल्यन छूट का पर्याप्त बड़ा भाग (एक समय ४० प्रतिशत तक) उपकरण के जीवन काल के पहले वर्ष में ही उपलब्ध करा दिया गया। दीर्घकाल में यह छूट कर-दायित्व को कम नहीं करती, यह तो राजकोष से एक ब्याज-रहित ऋण बन जाती है। किन्तु जहाँ अच्छे बड़े पैमाने पर नियोजन किया जा रहा है वहाँ इसका परिणाम होता है कर-दायित्व का स्थगन (postponement of tax liability)—कभी-कभी तो अनिश्चित काल तक। प्रारम्भिक छूटों के दरों में परिवर्तन भी फ़र्मों के पूँजी निर्माण के दर को निश्चित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारक अनुभव किया गया है; इस प्रकार के एक उपयोगी स्थायिकारी (stabilizer) का कार्य कर सकते हैं। परन्तु यह ऐसा विषय है जिस पर हमें भाग ३ में लौट कर आना होगा।

४. **लाभ का आपातिक करारोपण** (The Emergency Taxation of Profits)—परम्परा से ब्रिटेन में व्यावसायिक लाभ का करारोपण पूर्णतया आय-कर में सम्मिलित रहा है; अधिकतर अन्य देशों में आय-कर निजी आयों तक सीमित रहा है और निगमित व्यवसाय के लिए एक पृथक् कम्पनी-कर लगाया जाता है। इस पद्धति की तुलना में ब्रिटिश ढंग में कम से कम तीन स्पष्ट लाभ हैं। पहला वैयक्तिक और अवैयक्तिक करों के एकीकरण और अवितरित लाभ के "स्टैंडर्ड दर" पर करारोपण से, कर "स्रोत पर" लगाते हुए लाभाँशों और तत्समान शोधनों में से स्टैंडर्ड-दर पर कर रोक लेने से सम्पत्ति-आय का करारोपण सुगम हो जाता है। इस प्रकार राजस्व की एक बड़ी राशि शीघ्रतापूर्वक और अपवंचन के भय के बिना संग्रह हो जाती है। वैयक्तिक करदाताओं के लिए यह रोकना अन्तिम भुगतान के लिए पहला पग है; अमरीकी शब्द प्रयोग में यह इसके प्रति "१०० प्रतिशत साख" है। अन्तिम

निबटारा होता है जब करदाता कुछ और शेष भुगतान करे तब, या वापसी का दावा करे जिसका अधिकार इस पर निर्भर है कि उस पर लागू होने वाली कर की ठीक प्रभावी दर, स्टैंडर्ड दर से ऊपर है या नीचे।

दूसरा यह भी देखने में आएगा कि उसी लाभ पर दोहरा करारोपण नहीं होता। इसलिए इसकी गणना करना कि अवितरित लाभ वास्तव में कितना कर दे रहे हैं आसान होता है, और अवमूल्यन के लिए उचित समायोजन आदि बुद्धिपूर्वक किया जा सकता है। तीसरा, सिद्धान्त रूप से निगमित और अनिगमित लाभों में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए निगमन में ऐसा कोई अड़चन नहीं आती जैसी अन्य देशों में प्रायः अनुभव की जाती है। छोटी फर्म के लिए कई जोखिमों के विरुद्ध यह एक महत्त्व का बीमा है। इसमें कोई शका नहीं कि सब सामान्य अवस्थाओं के लिए लाभ के करारोपण की यह पद्धति अन्य किसी से भी अधिक कार्यदक्ष और न्याय्य है।[1]

किन्तु आपातकालीन अवस्था में स्थायित्व के आधार पर, और शायद साम्य के आधार पर भी यह आवश्यक हो जाता है कि लाभ पर अधिक कर लगाया जाए। यह इस बात का पक्का प्रबन्ध करने के लिए होता है कि फर्म या हिस्सेदार अपनी आमदनी को खर्च न करें, क्योंकि उस अवस्था में उसका बचाना अपरिहार्य है।[2] १९१४-१८ के महायुद्ध में यह प्रश्न एक अतिरिक्त

---

१. सार्वजनिक वित्त द्वारा आय के पुनर्वितरण को जो बहुत अधिक पूर्वता देते हैं वे यह युक्ति देते हैं कि अधिक बड़े सम्पत्ति-लाभों पर, जितना केवल आय-कर से ही लिया जा सकेगा उससे अधिक कर लगाने के लिए एक अतिरिक्त लाभ कर आवश्यक है, जिससे खर्च के लिए उपलब्ध (disposable) आय पर १०० प्रतिशत से अधिक प्रभावी कर लग जाए। इस नीति का निर्धारण करते हुए यह भुलाना नहीं चाहिए कि कम सम्पत्ति-आय की अधिक आय की अपेक्षा सापेक्ष हानि ज्यादा होगी। आगे, अवितरित लाभों के उच्च करारोपण के पक्ष में निर्बल उत्पादनीय युक्तियों को देखते हुए, सामान्य कर-रचना के एक भाग के रूप में ऐसी नीति का औचित्य संदेहास्पद है।

२. जिस प्रकार आय-कर आज चलता है, लाभ की घोषणा और उसके करारोपण के मध्य में एक वर्ष का समय रहता है, एक पृथक् लाभ कर होता तो वह अधिक शीघ्रतापूर्वक

लाभ कर लगा कर हल किया गया। वह कर युद्धकालीन लाभ और युद्ध-पूर्व लाभ के अन्तर पर लगाया गया या अपवादरूप उदाहरणों में जहाँ युद्ध-पूर्व का कोई विश्वसनीय प्रभाव उपलब्ध नहीं था वहाँ परिसम्पत् के मूल्यांकन से मापी गई व्यवसाय में "लगाई गई पूँजी" के लिए एक स्टैंडर्ड प्राप्ति निश्चित करके, उससे जितना लाभ अधिक हुआ हो, उस पर।[1] इस प्रकार का आपातिक करारोपण अंशतः इस कारण किया गया क्योंकि यह बहुत क्षेत्रों में अनुभव किया जा रहा था कि युद्ध में से, दूसरे लोगों के सिर पर, बहुत भारी लाभ कमाए जा रहे हैं। यह वस्तुस्थिति तो थी परन्तु इसका बड़ा कारण युद्ध-पूर्व करों का निम्न स्तर, (कितनी तीव्रता से करों की वृद्धि सहन की जाएगी उसकी भी एक सीमा है) और नियोजन के भौतिक नियन्त्रण की किसी प्रभावी पद्धति का न होना था। अंशतः कुछ यह भी अनुभव किया जा रहा था कि अतिरिक्त लाभ पूर्णतया शासन के आदेशों (orders) के कारण थे, इसलिए उन पर कर लगने से उद्यम को कोई हानि नहीं होगी। १९३९-४५ के महायुद्ध में, एक अतिरिक्त लाभ कर पहले अतिरिक्त लाभ शुल्क से अधिक कठोर और अधिक ऊँचे दर वाला—युद्ध के प्रारम्भ काल में ही लगा दिया गया। एक वर्ष चलने के बाद उसके दर को बढ़ाकर १०० प्रतिशत कर दिया गया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन परिस्थितियों में वे लागू किए गए उनमें अतिरिक्त लाभ शुल्क और अतिरिक्त लाभ कर दोनों बलात् संचित (forced saving) के प्रबल यन्त्र सिद्ध हुए और इस प्रकार स्थूल रूप में उनसे उनका उद्देश्य प्राप्त हो गया। किन्तु वे मूलतः ही भोंडे और बुरे कर थे, पिछले अनुभव से लाभ उठाकर अगली किसी आपातिक स्थिति में इनके उद्देश्यों को प्राप्त

और इसलिए अधिक उपयोगितापूर्वक कार्य कर सकता। किन्तु प्रशासन में बहुत अधिक अव्यवस्था के बिना आय-कर के अन्तर्गत ही लाभ पर अधिक शीघ्रता से कर लिया जा सकता है।

१. दोनों महायुद्धों के अतिरिक्त लाभ करों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए, Hicks, Hicks, and Rostas; The Taxation of War Wealth.

करने के अधिक अच्छे उपाय ढूंढ़ लिये जाएँ यह सम्भव है । द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में तथा युद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में भौतिक नियन्त्रण चलाने का जो विशाल अनुभव प्राप्त किया गया, और जिसके कारण किसी भावी आपातिक स्थिति में राजकोषीय साधनों पर उतना अधिक निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही, उसकी दृष्टि से इसकी आशा और भी अधिक है ।

अतिरिक्त लाभ कर बुरे हैं क्योंकि कुल लाभ पर लगे प्रतिशत कर की अपेक्षा प्रयत्न और उद्यम पर इनका बहुत अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। युद्ध-काल में भी इस बात का महत्त्व है । ये कर इसलिए भी बुरे हैं कि करयोग्य आधिक्य को टालने के लिए व्यय को फैलाने के प्रयत्न को इसमें बहुत प्रोत्साहन मिलता है, और यह ढंग बरतना युद्ध आदेशों की भगदड़ में होता भी अत्यन्त सरल है । कुप्रबन्ध और फिजूलखर्ची की जो आदतें युद्ध-काल में बन जाती हैं, वे समय के सामान्य हो जाने के बाद भी आसानी से छूटती नहीं । अतिरिक्त लाभ कर के ये परिणाम और भी अधिक होते है क्योंकि कर अस्थायी है यह सब लोग जानते है । युद्ध-काल में, ऐसे व्यय करना, जिनका लाभ युद्धोपरान्त हो, बहुत अधिक अच्छे लगने लगते हैं ।

शीत युद्ध के गौण आपात में एक अतिरिक्त आय-कर व्यवहार्य नहीं है । तब साधारण लाभ जिस मात्रा में शासकीय आदेशों के कारण होते हैं उससे अधिक उद्यम और परिश्रमशीलता के, इसलिए किसी अतिरिक्त आय-कर के भीषण सीमान्त प्रभाव असह्य हो जाते हैं ।[1] तो भी लाभ पर किसी प्रकार का आशु-कार्यकारी आरोपण, एक अतिरिक्त कर के रूप में आवश्यक हो सकता है । इस परिस्थिति में उत्तर निस्सन्देह सभी लाभों पर एक सीधा प्रति-

---

१. यह संसद् की सद्बुद्धि से भी प्रकट हुआ जब १९३७ में चाँसलर (श्री नेविल चैम्बर लेन) ने जिस अतिरिक्त आय-कर का पुनश्शस्त्रीकरण के काल में स्थायित्व बनाए रखने के लिए प्रस्ताव किया था, उसकी जगह कुल लाभ पर एक सर्वसमान प्रतिशतता (एन० डी० सी०) कर लगा दिया । १९५२ में कुछ वैसी ही परिस्थितियों में 'कंज़रवेटिव' दल ने भी चुनाव-वचन का पालन करने के लिए एक अतिरिक्त लाभ आरोपण लगाने पर अपने आपको विवश पाया । उनमें यह समझ अवश्य थी कि उसे जितना थोड़े काल का और नरम वे रख सकते थे वैसा उन्होंने रखा ।

शतता कर ही है। आगे किसी भी परिस्थिति में अतिरिक्त लाभ कर के दुष्परिणामों को देखते हुए, यह बहुत सम्भव है कि किसी बड़े आपात का सर्वोत्तम हल भी कुल लाभों के एक कर का सहारा लेना ही हो, बजाय उसे जहाँ लाभ "अतिरिक्त" की परिभाषा में नहीं आते वहाँ एक अतिरिक्त बचाव के रूप में प्रयोग करने के (जैसा द्वितीय विश्वयुद्ध में एन० डी० सी० से किया गया।) यह इसलिए भी कि किसी भावी आपात में (अन्य साधनों के उपलब्ध होने के कारण) इसे स्थायीकरण का कार्य कम मात्रा में करना होगा।

किन्तु १९४७ से ब्रिटेन में कुल लाभों पर एक पृथक् कर भी चल रहा है जिसे निश्चय ही सामान्यतया अस्थायी नहीं समझा जाता। और उसे ऐसे काल में भी जारी रखा गया है जो सारा का सारा एक गौण आपात भी कहला नहीं सकता। इसलिए हमें संक्षेप में उसकी कारण मीमाँसा जाननी होगी। युद्धोत्तर लाभ-कर का प्रथम लक्ष्य तो मुख्यतया राजस्व-संग्रह करना ही था; यह स्पष्ट था कोई विकल्प न रहा तो ४ करोड़ पौंड से अधिक की जो राशि समाप्त हो चुके अतिरिक्त लाभ कर से प्राप्त होती थी, उसकी हानि बजट को ध्वस्त कर देती। और उसे केवल आय-कर में से पूरा करना लगभग निश्चित रूप से अव्यवहार्य था। यदि प्रारम्भ में ही नहीं थे तो जल्दी ही दो और उद्देश्य भी इसके लिए ढूंढ़ लिये गए।

नया लाभ-कर अपने पूर्वज एन० डी० सी० से न केवल अधिक विस्तृत क्षेत्र होने में भिन्न था, अपितु वितरित और रोके गए लाभों पर भिन्न-भिन्न दरों से निर्धारित होने में भी, अथवा यह कहें कि वह वितरित लाभों पर एक दर से निर्धारित होता था और रोके गए लाभ पर कुछ "अवितरणात्मक सहायता" ("non-distributional relief") दी जाती थी। समय बीतने के साथ, इस अन्तर को कई बार फैलाया गया जब तक कि वह ४० प्रतिशत पर न पहुँच गया (वितरित लाभों पर ५० प्रतिशत और रोके गए लाभों पर १० प्रतिशत)। इस अन्तर ने दो काम किए: एक तो जितना एक सर्वसमान प्रतिशतता करती उससे अधिक इसने सम्पत्ति आय के विरुद्ध विभेद किया; दूसरा आरक्षितों (reserves) के संचय को प्रोत्साहन मिला। इसी नीति का ऐच्छिक "लाभाँशश्यान" (Dividend Freeze) ने और भी समर्थन किया।

हमने उत्पादन के आधार पर इस पहले उद्देश्य की वैधता में शंका करने का कारण देखा साथ ही आरक्षितों का संग्रह मात्र पूँजी निर्माण के लिए केवल एक परोक्ष प्रोत्साहन है—इस अर्थ में कि फर्मों को जब वे तरल (liquid) हों उस स्थिति में, उस स्थिति की अपेक्षा जब उन्हें ऋण लेना पड़ता है नियोजन प्रवृत्ति अधिक अनुभव हो सकती है। इसके विरुद्ध पलड़े में नियोजन करने वाली जनता की जब बहुत कम लाभाँशों की आशा रखी जा सकती है तो प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिए बढ़ी हुई अनिच्छा को रखना होगा। यदि नियोजन-दर बढ़ाना ही उद्देश्य हो तो प्रारम्भिक छूटों के द्वारा पूंजी निर्माण को दिया गया प्रत्यक्ष प्रोत्साहन निश्चित रूप से अधिक कर्मदक्ष होगा। किन्तु वितरित और रोके गए लाभों में विभेद-प्रयत्न के विरुद्ध निर्णायक युक्ति है वह दायित्व जो वर्षानुवर्ष फर्म पर अवितरणात्मक सहायता की वापसी के रूप में जमा होता जाता है, जब भी कभी चालू वर्ष के लाभ से कुछ अधिक बाँटने का विचार किया जाए,[1] (जो कि फर्म, और सामान्य आर्थिक स्थायित्व, दोनों के हित में बहुत बार वाँछनीय हो सकता है)। निस्सन्देह यह अपरिहार्य है कि अन्तर्देशीय राजस्व पृष्ठ-सहायता (back relief) वापिस माँगे अन्यथा कोई फर्म सफलतापूर्वक कर के ऊँचे दरों का अपवंचन कर सकती है।

अतः यह स्पष्ट मालूम होता है कि कोई लाभ-कर जो वितरित और रोके हुए लाभों में विभेद का प्रयत्न करता है, अतिरिक्त लाभ-कर की तरह बहुत सीमित काल के लिए काम आ सकता है। इस शर्त के बिना १९४७ के बाद का लाभ-कर अपने बहुत से आकर्षण को खो देता। इस खोज से निराशा उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं क्योंकि जैसा हमने देखा है, सब सामान्य परिस्थितियों में इसके उत्पादनीय प्रभाव और अधिकाँश वितरणात्मक प्रभाव एकल संकलित आय कर की परम्परागत पद्धति से अधिक अच्छी प्रकार प्राप्त हो सकते हैं।

---

१. लाभ कर के विभेद से उत्पन्न होने वाली उलझनों के अच्छे विवरण के लिए देखिए, The Economist, Nov. 1951, विशेषतया २ नवम्बर।

अध्याय १३

पूँजी-आरोपण और पूँजी-कर

(Capital Levies And Capital Taxes)

१. आय और पूँजी करों की तुलना (Income and Capital Taxes Compared)—शुद्ध आय और लाभ के करों को छोड़कर जिनका हमने पिछले अध्याय में परीक्षण किया, सामान्य करों की दूसरी बड़ी श्रेणी में के कर हैं जो करदाता के मूल धन (अथवा कुल सम्पत्ति) के अनुसार निर्धारित होते हैं। जो लाभ आय-करों को व्यय-करों की तुलना में हैं, वे पूँजी करों को भी हैं। वे करदान-क्षमता के अनुसार बारीकी से समायोजित किए जा सकते हैं यद्यपि इनका बिल्कुल ठीक समायोजन कठिन होता है क्योंकि समान पूंजी सदा बराबर आय नहीं देती।

पूंजी का स्वामित्व व्यक्ति को, पूँजी के प्रयोग से मिलने वाली आय के अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक लाभ पहुँचाता है—सुरक्षा के रूप में और अवसर के रूप में इस अतिरिक्त लाभ को हम सम्भवत: "पूँजीपति की बचत" यह नाम दे सकते हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि इस "पूँजीपति की बचत" को बहुत पहले ही "भिन्नक करारोपण के लिए उपयुक्त विषय"[1] स्वीकार कर लिया गया, और जैसा हमने देखा ब्रिटेन में सर्वप्रथम क्रमवर्द्धमान कर इस पर ही लगा।

आगे, यह भी कहा गया कि आयों की असमता का सबसे बड़ा कारण दाय की असमता है।[2] और इस कारक के विरुद्ध, ऐसी पुनर्वितरण की नीति जो क्रम-वर्द्धमान पूंजी करों का पर्याप्त उपयोग न करे, विशेष कुछ कर नहीं पाएगी। अन्त में यह बात है जिसे हमने महत्त्वपूर्ण पाया है कि जहाँ ऊँचे आय-

१. जैसा सुझाव जे० एस० मिल ने दिया।

२. देखिए Dalton, The Inequality of Incomes.

कर उद्दीपक और उद्यम को हतोत्साहित करते हैं और अपवंचन को बढ़ावा देते हैं, वहाँ पूँजी कर [आय में से दिए जाने वाले आवर्ती (recurrent) पूँजी कर भी] इस प्रकार का परिणाम दें इसकी सम्भावना बहुत कम है क्योंकि कर का आधार भूतकाल के कृत्य से सम्बन्धित है न कि वर्तमान प्रयास से।

अतः पूँजी करों के समर्थन में एक निगम्य पक्ष (apriori case) है, विशेषतया जहाँ आय-कर के दर अन्यथा बहुत ऊँचे होंगे। इसके विरुद्ध एक सम्भवनीय दोष रखना चाहिए जिसने भूतकाल में पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया। यदि पूँजी करों के साथ ही वास्तविक नियोजन में क्षतिपूरक वृद्धि न हो, उनका परिणाम "पूंजी का उपभोग" हो सकता है—अर्थात् समाज के वर्तमान काल के उपबन्ध (provision) की अपेक्षा भविष्य के उपबन्ध में ह्रास। यह तभी होगा जब अर्थ-व्यवस्था में कहीं न कहीं, करदाता की पूँजी में हुई कमी के बराबर, बचत न हो जाए—जिस स्थिति की बहुत सम्भावना नहीं है जब तक पूँजी कर बहुत भारी न हो। कुछ भी हो, यह प्रश्न दीर्घकाल का है, यदि किसी बड़े परिमाण में पूंजी का उपभोग होता दिखाई देगा तो नए सार्वजनिक नियोजन के द्वारा कमी पूरी की जा सकती है।

यद्यपि अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से पूँजी-करों का पक्ष अच्छा मालूम पड़ता है, तो भी हमें करदाताओं की वरीयताओं (preferences) की चिन्ता करनी होगी। यदि उसे आज के एक निश्चित मूल्य का उसके जीवन काल तक फैला हुआ कर देयक दे दिया जाए, तो वह अपना दायित्व चुकाने का कौन सा ढंग पसन्द करेगा? व्यय-करों से उत्पन्न बचत की हानि का जो विश्लेषण हमने किया है उससे दीखता है कि वह प्रायः शासन द्वारा चुनी हुई किसी खास श्रेणी की वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय-कर देने की अपेक्षा एक सीधा आय-कर देना पसन्द करेगा। क्या अब भी वह प्रत्यक्ष आय-कर को अपनी सम्पत्ति का एक भाग दे देने की अपेक्षा जिसमें आय अपेक्षतया सुरक्षित बनी रहेगी, पसन्द करेगा? यह प्रश्न है जिसकी ओर अब हमें मुड़ना होगा।

इस प्रश्न की खोज करते हुए मूलतः एक बार लगाए गए पूँजी करों से ही

हमारा सम्बन्ध आएगा, जिन्हें प्रायः पूँजी आरोपण कहा जाता है।[1] आरोपण का अनपेक्षित रूप यह अनिवार्य कर देता है कि मुख्य रूप से परिसम्पत् बेच कर ही उसे चुकाया जाए। दूसरी सब अवस्थाओं में करदाता के पास कुछ अवसर होता है कि आय में से अपने दायित्व के लिए व्यवस्था करे; इस प्रकार पूँजी कर भी कुछ न कुछ मात्रा में आयकर का ही एक प्रकार बन जाता है। ऐसे पूंजी आरोपणों का इतिहास बहुत थोड़ा है, जो वास्तव में योजना के अनुसार ही कार्यान्वित हुए, इसलिए यदि हमारा सम्बन्ध केवल यहीं तक होता तो हमारे प्रश्न का क्षेत्र केवल सैद्धान्तिक ही रह जाता। किन्तु मृत्यु कर, कम से कम आज के समान ऊँचे दर ब्रिटेन में जब से लागू हैं, तब से, पूँजी आरोपणों से इतना मिलते हैं कि इन्हें पूँजी में से दिए करों के विश्लेषण में सम्मिलित करना उचित है।

क्योंकि मृत्यु करों के दायित्व की बात लोगों को पहले से मालूम होती है, इसलिए उनके लिए संभव होता है कि मृत्यु कर लगभग पूरे के पूरे पूर्ण या अपूर्ण कर-दायित्व निकाल कर संपत्ति के मृत्यु काल के मूल्य का बीमा करवा कर, आय में से "चुका" दें। छोटी अथवा मध्यम संपदाओं के स्वामी इस प्रकार मृत्यु कर के दायित्व को अग्रिम उतार सकते हैं, किन्तु बड़ी संपदाओं के दरों की उत्तरोत्तर वृद्धि इतनी तीक्ष्ण होती है कि उनके स्वामी यदि इस प्रकार अपना दायित्व चुकाने का प्रयत्न करते तो जीवन में उनके लिए निर्वाह के लिए पर्याप्त न बचता। इसलिए लोगों के सामने मृत्यु करों को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में आयकर मानने का अवसर है; किन्तु आंकड़े स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि वे इस अवसर का लाभ नहीं उठाते। वास्तविकता यह है कि मृत्यु करों के विरुद्ध बीमा करना बहुत असामान्य है। अतः उन्हें पूंजी आरोपण मानना बिलकुल उचित है।

---

१. व्यवहार में क़रदाताओं के लिए अपना दायित्व किस्तों में चुका सकने का प्रबन्ध प्रायः करना पड़ता है क्योंकि अन्यथा विवशता से सम्पत्ति को बेचने के कारण पूँजी के मूल्य अनुचित रूप से गिर जाएँगे, किन्तु सभी क़िस्तें एक मूल्यांकन पर ही निर्भर होती हैं।

करदाता की एकबारगी आरोपण के लिए वरीयता की उसकी वार्षिक कर के लिए वरीयता के साथ तुलना दोनों को एक सांझे आधार (या पूंजी मूल्य या वार्षिक मूल्य) पर लाए बिना नहीं की जा सकती। मृत्यु कर दायित्व को वार्षिक कर के रूप में प्रकट करने के कई उपाय सुझाए गए हैं।[1] पूंजी आरोपण को वार्षिक कर के रूप में बताने का कोई उपाय पूर्णतया संतोष-जनक और निरंकुश तत्त्वों अथवा अभिधारणाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि पूंजी में से दिए जाने वाले कर में हम भविष्य से सम्बन्धित होते हैं और भविष्य हमेशा अनिश्चित रहता है। किन्तु वरीयताओं का सापेक्ष अनुमान करने के लिए जिसे "आय-प्रवाह" पद्धति[2] कहा जा सकता है वह सब से अधिक समाधानकारक है।

इस उपाय का ढंग यह है कि किसी संपदा पर मृत्यु करों की अपेक्षा को (न केवल वर्तमान स्वामी के मरने पर जो दायित्व होगा वह बल्कि बाद के सभी हस्तान्तरणों पर भी), समान वार्षिक भुगतानों के एक सनातन प्रवाह के रूप में प्रकट किया जाता है और इस प्रवाह के आकार की (अर्थात् उसके वर्तमान पूंजी-मूल्य) की एक सनातन आय कर के आकार के साथ तुलना का जाती है।[3]

---

१. देखिए अध्याय १६, अनुभाग २.

२. देखिए N. Kaldor, "The Income Burden of Capital Taxes", Review of Economic Studies, IX (2).

३. मृत्यु कर प्रवाह की गणना का सिद्धान्त निम्न है: जब कोई व्यक्ति संपदा दाय पाता तो वह उसके साथ भावी मृत्यु करों का कुछ दायित्व भी दाय पाता है। यह दायित्व जागीर पर एक स्थिर प्रभार माना जा सकता है (बंधक से मिलता-जुलता सिवाय इसके कि इस पर ब्याज नहीं होता)। यदि जागीर के मूल्य को 'क' कहा जाए और उस से प्राप्ति की दर को 'इ' तब संपत्ति से प्राप्त आय 'क इ' हुई। यदि मृत्यु करों में देय पूंजी मूल्य का प्रभाग 'द' है तो 'क द इ' वर्त्तमान स्वामी के लिए जीवन ब्याज के समान है। उसकी भी मृत्यु के बाद संपदा की कीमत (क—क द) होगी और उसके उत्तराधिकारी को (क—क द) द इ जीवन ब्याज मिलेगा। इसी हिसाब से आगे भी, जब कि हर हस्तान्तरण पर संपदा छोटी होती जाती है। (एक के बाद एक उत्तराधिकारी अपने जीवन-काल में संपदा के मूल्य को बढ़ा सकते हैं,

मान लीजिए करदाता के सामने विकल्प है—मृत्यु करो के रूप में देनगियों का एक अनन्त प्रवाह जिनसे जागीर के मूल्य में क्रमिक ह्रास आता जाता है, एक ओर है और दूसरी ओर एक आय कर जो पूँजी को अक्षय छोड़ देता है। स्पष्ट है कि आय कर का कोई दर तो अवश्य होगा जिसे वह अपने उत्तराधिकारी को घटी हुई जागीर देने की आवश्यकता की तुलना में पसंद करेगा; अतः कोई दर ऐसा भी अवश्य होना चाहिये (जिसे हम "क्षतिपूरक आयकर" का नाम दे सकते हैं) जिससे उसे तुष्टि की बिलकुल समान हानि हो। उसका वर्त्तमान बाज़ार मूल्य मृत्यु-कर दायित्व के वर्त्तमान बाज़ार मूल्य से कम होने की संभावना है या अधिक? पहले तो प्रश्न को विपरीत दिशा से देखें। मान लीजिए करदाता को मृत्यु-करों और उतने ही वर्त्तमान बाज़ार मूल्य के आय कर (जो राजस्व प्राधिकारियों के लिए बराबर मूल्य का होगा) में चुनने का अवसर दिया जाए; उसे हम समान (equivalent) "आयकर" कह सकते हैं। राजस्व के लिए क्षतिपूरक आय कर की अपेक्षा यह अधिक मूल्यवान् होगा या कम?

आय-कर और मृत्यु-करों के मध्य में करदाता की वरीयता इस पर निर्भर है कि वह अपने मृत्यु-कर दायित्व का वर्त्तमान मूल्य निकालने के लिए किस दर पर बट्टा काटता है। अब मृत्यु-करों की अन्य सब करों से विलक्षणता यह है कि उन के लिए संपत्ति के वर्त्तमान स्वामी की ओर से आय या पूँजी के किसी वैयक्तिक समर्पण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए संभावना यह मालूम होती है कि करदाता मृत्यु-करों के अपने भावी दायित्व का काफ़ी ऊँचे दर से बट्टा काटेगा, जो बाज़ार दर जितनी होने की संभावना है उससे स्पष्ट-

---

इस तथ्य के लिए हम अवकाश रख सकते हैं यद्यपि वह अधिक जटिल हो जाएगा।) यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक हस्तान्तरण पर उत्तरोत्तर मृत्यु कर देने से, जैसे संपदा का मूल्य घटता जाता है, उस पर का कर-दायित्व (आय कर और मृत्यु कर दोनों के विषय में) आनुपातिक से अधिक घटता जाता है क्योंकि वह क्रमवर्द्धमान करों की अनुसूचियों में निचले स्तरों पर पहुँचती जाती है। मृत्यु करों के कारण पूँजी-मूल्य में हुई कमी के लिए यह कुछ क्षतिपूर्त्ति है। देखिए Kaldor उद्धृत स्थान पर।

तया ऊँची होगी, इसका ध्वनितार्थ यह है कि संपदा के स्वामी का मृत्यु-कर मूल्य-सम्बन्धी अनुमान जितना बाज़ार (या राजस्व विभाग) लगाएगा, उससे कम है। बाज़ार-मूल्यांकनों के हिसाब से संपदाओं के स्वामी उनका अधोमूल्यन करते हैं। परिणामस्वरूप जिस आय-कर का संपत्ति के स्वामी के लिए वही मूल्य है (क्षतिपूरक आयकर) वह राजस्व के लिए मृत्यु-करों (अथवा समान आय-कर) की अपेक्षा कम लाभदायक होगा। शासन मृत्यु कर लगा कर अधिक लाभ उठा सकता है बजाय उस आय-कर के जो करदाता की तुष्टि की समान हानि करता है।

क्या करदाता की उसके जीवन-काल में चुकाए जाने वाले एकबारगी आरोपण के लिए प्रतिक्रिया वैसी ही होने की संभावना है जैसी मृत्यु-करों के लिए। हम पर्याप्त निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसा नहीं है। आरोपण देने से आय में कमी तो आती ही है, किन्तु उससे बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है उस से होने वाली अवसर और सुरक्षा की हानि। संभावना यह है कि अधिकांश करदाता ऐसे पर्याप्त कठोर आय-कर को सहन करने के लिए तैयार होंगे जो उनके जीवनकाल में उनकी "पूँजीपति की बचत" को बना रहने दे। परिणामत: बहुत संभव है कि क्षतिपूरक आय-कर से राजस्व को जो लाभ है वह समान आय-कर से होने वाले लाभ से अधिक होगा (जिसमें अन्तर्निहित है राजस्व को उतना ही लाभ जितना आरोपण से होता है)।

अत: हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मृत्यु-कर आय-कर से अच्छे हैं, इस अर्थ में कि उनके द्वारा आय-कर की अपेक्षा करदाता की तुष्टि की कम हानि करते हुए, शासन एक निश्चित राजस्व प्राप्त कर सकता है। उसी अर्थ में, एक पूँजी-आरोपण जो करदाता के जीवनकाल में लिया जाता है, आय-कर की तुलना में घटिया है। जो शासन आरोपण लगाने का हठ करता है जब कि वह आय-कर भी लगा सकता है, वह करदाता की तुष्टि की कम हानि करने वाली पद्धति से एक नियत राजस्व प्राप्त करने के अवसर को व्यर्थ में गँवा रहा है।

२. **पूँजी करों और आरोपणों के आर्थिक प्रभाव** (The Economic Effects of Capital Taxes and Levies)—हमने देखा है कि पूँजी की एक एकल देनगी (single capital payment) को और आय-कर को इतनी परिशुद्धता के साथ एक साँझे आधार पर लाया जा सकता है कि करदाताओं की वरीयताओं की बुद्धिपूर्ण तुलना की जा सके। मृत्यु-करों और आय-कर के आर्थिक प्रभावों की प्रत्यक्ष तुलना की जा सकती है क्योंकि मृत्यु कर राजस्व का एक नियमित (और वास्तव में प्रायः स्थिर) भाग है। पूरी अर्थव्यवस्था के लिए उनका प्रभाव वार्षिक कर के जैसा है न कि एक एकबारगी आरोपण (once-for-all levy) जैसा। यद्यपि मृत्यु-कर सम्बन्धित संपदा की पूँजी में से ही मुख्यतः दिए जाते हैं, तो भी यदि समाज की वार्षिक बचतें इतनी हों कि जो कोई परिसंपत् मृत्यु-करों के भुगतान के लिए बेची जाएँ उनको पूरा करके कुछ बच रहें, और पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए, राष्ट्रीय पूँजी में कोई कमी न आए, तो मृत्यु-कर आय में से दिए जाते हैं, न कि पूँजी में से।

यदि मृत्यु-करों के कारण समूची अर्थ-व्यवस्था में पूँजी का उपभोग नहीं होता तो उनके मुख्य आर्थिक प्रभाव वे होंगे जो कर के कार्य से, संपत्ति के वितरण में धीरे-धीरे आने वाली अधिक समानता के द्वारा पैदा होते हैं। यह अधिक न्याय्य वितरण सामाजिक न्याय की कल्पना के अनुसार है; स्थूल रूप से, इससे अनुपयुक्त आर्थिक परिणाम होने की संभावना नहीं है, और जिस अर्थ-व्यवस्था में बचत के अतिशय (oversaving) का भय हो वहाँ यह उपभोग में स्थिरता लाने की प्रवृत्ति रखेगा। दूसरी ओर ब्रिटेन में संपत्ति की ऊपरी परतों में मृत्यु-करों की क्रम-वृद्धि इतनी अधिक हो गई है (जो कुल जागीर का ८० प्रतिशत तक हो जाती है) कि संपत्ति के विसर्जन की क्रिया बहुत, और बचतों की सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से संभवतः भयानक सीमा तक बढ़ गई है।

मृत्यु-करों का भू-सम्पदा के लिए विघटनकारी प्रभाव पहले ध्यान में आया। कारण यह संपत्ति का असामान्यतः अतरल स्वरूप और परिणाम में मृत्यु-करों को चुकाने के लिए हुई लाचारी की बिक्रियों के कारण आई मूल्य

की कमी, कम से कम आंशिक रूप में कृषि की पूँजी के उस ह्रास के लिए उत्तरदायी थी जो अन्तर्युद्ध काल में हुआ। किन्तु यह मानना होगा कि इस ह्रास का पर्याप्त भाग कृषि उत्पादकों के घटे हुए मूल्यों के कारण संभवतः स्वतन्त्र रूप से भी हो जाता। मृत्यु-करों का यह पक्ष १९५० की दशाब्दी में संभवतः कम महत्त्व का है, कुछ तो इस कारण कि अधिकांश बड़ी संपदाओं की सीमित (limited) कम्पनियाँ बन गई हैं और मृत्यु-करों का भार वैयक्तिक हिस्सों तक संकुचित हो गया है, और कुछ इस कारण कि राज्य अब भूमि के स्वामियों को उनकी कृषि-सम्बन्धी पूंजी बनाए रखने में बहुत सहायता देता है।

आज के स्तर पर मृत्यु-करों के विरुद्ध अधिक ठोस युक्ति वह कठिनाई है जो छोटे खेतों को हो सकती है न केवल नई पूँजी के निर्माण में (जो मूलतः वैयक्तिक बचत के ह्रास का परिणाम है और इसलिए जिसके वास्ते केवल आंशिक रूप में ही मृत्यु-कर जिम्मेवार हैं) बल्कि वास्तव में विद्यमान पूँजी को बनाए रखने में भी। जब कोई डायरेक्टर, जो बड़ा हिस्सेदार भी है मर जाता है तो फ़र्म के पास इतना पैसा चाहे न हो कि उसका दायित्व, व्यापार में लगाए उत्पादनीय उपकरण में से कुछ बेचे बिना, चुकाया जा सके। इस प्रक्रिया से स्पष्टतया फ़र्म का सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा बिखर सकता है। यह कठिनाई काफ़ी कम हो जाती यदि राजस्व प्राधिकारियों को मृत्यु-कर किस्तों में स्वीकार करने की अनुज्ञा होती।

एक एकबारगी आरोपण के आर्थिक प्रभाव, जो करदाताओं के जीवन-काल में लागू किया गया हो, सुगमता से अनुमान नहीं किए जा सकते। वे समय और स्थान की विशेष परिस्थितियों पर राजनैतिक व राजकोषीय परिस्थितियों और संस्थाओं पर और आर्थिक अवस्था पर अत्यधिक निर्भर हैं। आरोपण के लिए बड़ा मँहगा प्रशासी यन्त्र चाहिए इसलिए शुद्ध राजनैतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त किसी भी दृष्टिकोण से उपयुक्त होने के लिए वह इतना बड़ा अवश्य होना चाहिए कि वास्तव में प्रभावी राजस्व लाए। अतः आरोपण अर्थ-निकाय (body economic) पर एक बड़ी शल्यक्रिया के समान

है; वह या इस पार करेगा या उस पार, या स्वस्थ करेगा या समाप्त, इसलिए नियमित खुराक अथवा मालिश का जो असर सामान्य कर-रचना के द्वारा होता है उससे इसके परिणाम बहुत भिन्न होंगे।[१] जिन आरोपणों का प्रयास हुआ है या योजना बनी है उनमें से अधिकांश का आकार इतना विशाल रहा है कि उससे सामान्य सार्वजनिक वित्त के अधिकतर प्रभाव तो उस समय के लिए धुल ही गए।

सिद्धान्त रूप से, आरोपण के प्रारंभिक प्रभाव अपस्फायी (deflationary) होने की अपेक्षा होती है, कारण और कुछ नहीं तो व्यापार योजनाओं और पूँजी बाजारों में आरोपण के कारण आरोपणदाता अपना दायित्व चुका सके, इसलिए पूँजी हस्तान्तरणों की जो बाढ़ आ जाती है उस से उत्पन्न अव्यवस्था है। इस कारण से युद्ध के तुरन्त बाद के काल में, युद्ध-वित्त की जो अपरिहार्य देन होती है उस मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति के निरोध के लिए आरोपण का प्रस्ताव स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष व्यवहार में इन परिस्थितियों में लगाए आरोपणों का वांछित प्रभाव होने के स्थान पर विपरीत भी हो सकता है; १९२० की दशाब्दी में जिन-जिन देशों ने आरोपण लगाने का प्रयत्न किया प्रायः सभी का निश्चित रूपेण यही अनुभव रहा।[२] यदि, जैसा प्राय. होता है, आरोपणदाताओं को अपने दायित्व ऐसे रूप में चुकाने के लिए कि जिसकी व्यवस्था शासन के लिए संभव हो, ऋण • सुविधाएँ उपलब्ध करानी पड़ें, और यदि वास्तव में आरोपण का पर्याप्त भाग इस प्रकार नए ऋण में से चुकाया जा रहा हो तो

---

१. १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् युद्ध संपत्ति-संबंधी समिति के लिए ब्रिटिश राजस्व प्राधिकारियों द्वारा तैयार की गई, आरोपण की योजना में आरोपणदाताओं की अनुमानित संख्या किसी एक वर्ष में जितनी संपदाओं पर मृत्यु-कर दिये गए थे उसका पांचगुना थी यद्यपि अपेक्षया उच्च मुक्ति परिसीमा (५००० पौंड) रखी गई थी। प्रस्तावित दरों पर पूँजी की जो मात्रा समर्पित होनी थी वह मृत्यु करों में प्रतिवर्ष समर्पित होने वाली राशि का अनुमानतः तीस से चालीस गुना थी।

२. देखिए, Hicks and Rostas, The Taxation of War Wealth उ० ग्र०, पृष्ठ २५३—५।

परिणाम अपस्फायी कदापि नहीं होगा। उसके वैसा होने की संभावना उतनी ही नगण्य है जितनी युद्ध काल में लगाये गए आरोपण की है।

किन्तु, १९२० की दशाब्दी के आरोपणों के उग्रतापूर्ण स्फीति के उपबन्ध बन जाने का मुख्य कारण था शासनों द्वारा पर्याप्त विनिमय नियंन्त्रण लागू न कर सकना जिससे पूँजी के पलायन ने शासनों के लिए अपनी चालू आवश्यकताओं की खातिर अपना ऋण और भी अधिक गति से बढ़ाना आवश्यक कर दिया (या तो कर्जों के द्वारा या जो अधिक संभव था, कागजी नोट बढ़ा कर)। विनिमय-नियन्त्रण के लिए अधिक अच्छा यन्त्र होने पर भी आरोपण कठिनाई से संभलने वाला औजार है और पहले इसके बारे में पक्का कर लेना चाहिए कि एक तो जिन उद्देश्यों के लिए उन्हें लगाया जा रहा है वे वास्तव में आवश्यक हैं और दूसरा कि वे अधिक नरम उपायों द्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते।

पूंजी आरोपण असाधारण उपाय है, केवल असामान्य आपातों में ही वे चर्चा का प्रमुख विषय बनते हैं। आपात के रहते एक आरोपण को कार्यान्वित करना किसी प्रकार भी अव्यवहार्य ही होगा, और यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि युद्धकाल में भी इसका चालू आवश्यकताओं के लिए सुरक्षित उपयोग नहीं किया जा सकता। किन्तु एक बार आपात बीत चुकने पर उसके चलते जो ऋण जमा हो गया है उस पत्थर को देश के गले से उतारने के उपाय के रूप में, एक आरोपण का सुझाव अवश्य दिया जा सकता है।[1] जब राष्ट्रीय ऋण का एक बड़ा भाग चुका देने के लिए एक आरोपण का समर्थन किया जाता है तब वास्तव में दो युक्तियाँ उसमें लगती हैं, एक यह कि ऋण का मूल्य बहुत अधिक है, दूसरा यह कि उसका वार्षिक व्यय बहुत भारी है।

---

१. युद्ध-काल में अनुचित लाभ कमाने वालों पर विलंबित न्याय थोपने के लिए एक साधन के रूप में भी आरोपण की इच्छा की जा सकती है। कोई ऐसा आरोपण जो आपात में हुई संपत्ति की वृद्धि तक ही सीमित हो, अपना खर्च भी निकाल नहीं सकता इसलिए व्यवहार में वृद्धि-आरोपण के साथ ही प्रायः संपत्ति पर सामान्य आरोपण भी लगता है।

बहुत बड़े राष्ट्रीय ऋण का भी एक अच्छा भाग चुका देना वाँछनीय है यह स्वयमेव सिद्ध नहीं दिखाई देता जब हम यह विचार करते है कि निजी सम्पत्ति का इतने बड़े परिमाण में विनाश, जब कार्यरूप लेगा तो उसके परिणाम अवश्यमेव बहुत अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले और अपस्फायी होंगे। क्या यह वाच्छनीय है कि असामान्य प्रयास करके ऋण चुका दिया जाए ? और यदि है तो कब ? इस प्रश्न में सार्वजनिक वित्त की सारी नीति और उसका राष्ट्रीय आय से सम्बन्ध सब आ जाता है। अतः यह ऐसा विषय है जिसका हमें बाद में अधिक सम्पूर्णता से विचार करना होगा।[1] ऋण का वार्षिक भार (इसके वित्त प्रबन्ध के लिए जो आय-कर आवश्यक होता है उसके रूप में) बहुत है, इस आधार पर आरोपण के पक्ष में जो युक्ति है वह अधिक ठोस है। आरोपण का पक्ष मूलतः वही है जो ऊँचे आय-कर का विपक्ष है और उसमें, जैसा हमने देखा है, पर्याप्त बल है।

यदि आरोपण का लक्ष्य आय कर में कमी के लिए रास्ता बनाना है, तब उसकी निपुणता इसी से मापी जाएगी कि ऋण चुका देने से राजस्व प्रभार में कितनी शुद्ध बचत हुई है। और किसी दिए हुए आकार के आरोपण के लिए वह बचत तीन साधनों पर निर्भर है : प्रथम, ऋण पर जो ब्याज देना पड़ता है उसका दर (जिससे यह तय होता है कि ऋण के लिए कितनी राशि ब्याज रूप में चाहिए होगी अर्थात् यह कि ऋण चुका देने से कितना राजस्व बचेगा। द्वितीय, ऋण ब्याज कहाँ तक आय-कर के अधीन है और ऋण की पूँजी के धारक कहाँ तक आय-करदाता है—जिससे यह निश्चित होगा कि ऋण-धारी किस मात्रा में अपने कर-शोधन के द्वारा स्वयं ही अपना ब्याज प्रस्तुत कर देंगे। तृतीय, किस सीमा तक राजस्व सामान्यतया क्रम-वर्द्धमान कराधान (आय-कर व मृत्यु-शुल्कों) पर निर्भर है क्योंकि इनके राजस्व में भारी कमी आ जाएगी जब करयोग्य सम्पत्ति के रूप में ऋण और करयोग्य आय के रूप में उसका ब्याज—दोनों लुप्त हो जाएँगे।

---

१. देखिए अध्याय १९।

ब्रिटेन में ये सब कारक अब आरोपण के प्रतिकूल पड़ते हैं। राष्ट्रीय ऋण के ब्याज पर आय-कर लगते हैं और जैसा कि हम जानते हैं राजस्व क्रमवर्द्धमान करों पर बहुत निर्भर है इसलिए अधिकर और मृत्यु-शुल्कों से होने वाली प्राप्ति में जो कमी आएगी वह भारी होगी। परिणामस्वरूप, ऋण का एक बड़ा भाग (मान लीजिए पूँजी का ५० प्रतिशत) चुका देने से भी आय-कर में साधारण ही कमी सम्भव होगी।[१] '२० की दशाब्दी में, '४० अथवा '५० की दशाब्दी की अपेक्षा राजकोषीय स्थिति आरोपण के अधिक अनुकूल थी क्योंकि ऋण पर औसत ब्याज पर्याप्त अधिक था और कराधान की क्रमवृद्धि (progression) कम प्रपाती (steep) थी।

राजकोषीय स्थिति और ऋण-धारण (debt holdings) किस प्रकार बँटा हुआ है यह दिया हुआ हो तो राजस्व-देय में जो बचत पूंजी आरोपण के द्वारा होगी वह आरोपण की रचना पर निर्भर है अर्थात् मुक्ति परिसीमा कितनी ऊँची और क्रम-वृद्धि कितनी प्रपाती है इस पर मुक्ति परिसीमा जितनी नीची रखी गई होगी और क्रम-वृद्धि जितनी धीमी होगी, क्रमवर्द्धमान करों के दरों को, मूल के चुकाने से ऋण-सेवा में आई कमी के कारण उतना ही अधिक घटाया जा सकेगा। यह इस कारण है कि उन नागरिकों द्वारा पूँजी के समर्पण से जिन से शासन को अपने अधिकर व मृत्यु-शुल्कों की प्राप्ति का बहुत थोड़ा भाग मिलता है, इन करों के भावी राजस्व में विशेष क्षीणता नहीं आएगी। ब्रिटेन में जैसी स्थिति है उसमें भी एक *अनुपाती* आरोपण से आय-कर में पर्याप्त कमी की जा सकती है, जो उस कमी से लगभग दुगुनी होगी जो वर्त्तमान मृत्यु-शुल्कों के तुल्य क्रम-वृद्धि वाले आरोपण के द्वारा की जा सकेगी। किन्तु एक अनुपाती आरोपण सामाजिक न्याय के विचारों के

---

१. The Taxation of War Wealth, में १९३८ के सम्पत्ति-वितरण और आय-कर की रचना के आधार पर एक अनुमान लगाया गया था; आय-कर में शुद्ध बचत पौंड में ६ पैंस से अधिक नहीं थी। १९४० की दशाब्दी में ब्याज दरों में निरन्तर कमी और कर प्रगामिता में वृद्धि ने उसे अवश्य और भी पर्याप्त कम कर दिया होगा। देखिए The Taxation of War Wealth, उ० ग्र० अध्याय २९।

अनुकूल न हो यह हो सकता है। वह आरोपण के समय से प्रारम्भ करके तब तक के लिए जब तक नई बचत से पूँजी की कमी पूरी नहीं हो जाती, कर-रचना की क्रम-वृद्धि के समान ही होगा।

३. **पूँजी करों और आरोपणों की प्रविधि** (The Technique of Capital Taxes and Levies)—यह मान लेने के बाद कि स्थिति अनुकूल है (विशेषतया यह कि आरोपण को पूंजीपति स्वीकार कर लेते हैं) और यह निर्णय कर लिया गया है कि आरोपण लगाया जाए, उस अवस्था में उसके निर्धारण और भुगतान में जो प्रावैधिक प्रश्न खड़े होंगे उनका विचार हमने अभी करना है। जहाँ तक निर्धारण का सम्बन्ध है, मृत्यु-शुल्कों के समान दूसरे पूँजी-करों में और आरोपण में केवल मात्रा का ही अन्तर है। सभी पूँजी-करों और वास्तव में सभी सम्पत्ति-करों के मार्ग में मौलिक बाधा है सम्बन्धित सम्पत्ति का उचित मूल्य खोजने की कठिनाई और[1] खर्च।

ब्रिटिश मृत्यु-शुल्कों के विषय में तो मूल्यांकन की एक विश्वस्त और न्याय प्रविधि धीरे-धीरे निर्मित हो गई है। मूल्यांकन निष्पादकों के प्रविवरणों (executors returns) के आधार पर जिनका अन्तर्देशीय राजस्व प्राधिकारी परीक्षण करते हैं, किया जाता है। सम्पत्ति का पर्याप्त अनुपात प्रतिभूतियों (securities) के रूप में होता है जिनका भाव स्टॉक एक्सचेंज (stock exchange) पर कहा जाता है, और जिनके विश्वस्त बिक्री मूल्य सुगमता से मिल जाते हैं। घरेलू वस्तुओं, पुरातन पदार्थों, आभूषणों आदि के लिए व्यावसायिक मूल्य निर्धारक मिल जाते हैं। स्थावर सम्पदा के मूल्यांकन में अधिक कठिनाई आती है परन्तु सब से बढ़कर कठिनाई छोटे व्यवसायों के हिस्सों अथवा परिसंपत् के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है। बहुत कम लेखापालों, निष्पादकों (executors) और अन्तर्देशीय राजस्व के मध्य में लम्बी वार्त्ता के पश्चात् ही मूल्यों पर समझौता होता है (और परिणामतः दायित्व निश्चित

१. मूल्यांकन के यन्त्रों के अधिक सविस्तर परीक्षण के लिए देखिए Hicks and Rostas उ० ग्र० अध्याय २८।

होता है) । मृत्यु शुल्कों के विषय में छोटी फर्म को होने वाली जिस कठिनाई की चर्चा हमने पृष्ठ २४४ पर की थी, उसके अतिरिक्त यह एक और मुश्किल है ।

तो भी, मृत्यु-शुल्कों के लिए मूल्यांकन अपेक्षतया सरल मामला है । प्रतिवर्ष जिन सम्पदाओं का प्रश्न उठता है उनकी संख्या प्राय: स्थिर ही है और अधिकांश वर्षों में पूंजी-मूल्य पर्याप्त स्थायित्व रखते हैं जिससे मृत्यु के कुछ काल बाद तक भी यदि दायित्व का निर्णय न हो सके तो कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती । यदि सम्पत्ति के कुछ ऐसे प्रकार हैं जिनके लिए काम में लाई गई मूल्यांकन पद्धति बिलकुल निर्दोष नहीं है तो कम से कम सम्पदाओं के स्वामी तो जीवित होते नहीं जो शिकायत करेंगे, और वैसी अन्य सम्पदाओं से तुलना सुगम नहीं है । किन्तु इसमें तनिक भी शंका नहीं कि ब्रिटिश मृत्यु-शुल्क जिस साम्य व मितव्ययिता से संग्रह होते हैं वह अन्य किसी भी कर से कम नहीं है ।

जब एकबारगी-आरोपण के लिए मूल्यांकन करना हो तो इन अनुकूल प्रावैधिक कारकों में से विरले ही उपस्थित रहेंगे । प्रथम तो कार्य की विशालता इतनी है कि पर्याप्त संख्या में अनुभवी मूल्य निर्धारक उपलब्ध नहीं हो सकते (शासन को, यदि उसने स्वयं मूल्यांकन करना है अथवा सम्पत्ति-स्वामियों को यदि उनको विवरणियाँ प्रस्तुत करनी पड़ती हैं) जिससे कि अल्पकाल में ही मूल्यांकन सम्पन्न हो सके । यह महत्त्व की बात है क्योंकि आरोपण अस्थिर कीमतों की स्थिति में ही लगने की सम्भावना है । द्रुतगति से बदलने वाली कीमतें उचित मूल्यांकन की कठिनाई को ही नहीं बढ़ातीं, वे अपना दायित्व शीघ्रता से चुकाने वालों में और उन लोगों में जो भुगतान को जहाँ तक बने टालते रहते हैं, बहुत असाम्य उत्पन्न कर देती हैं ।

मूल्यांकन और निर्धारण की समस्याओं से पार पा लेने के बाद भी एक कठिनाई शेष रहती है (जो मृत्यु-शुल्कों के विषय में उपेक्ष्य है) । वह है सम्पत्ति की बहुत बड़ी मात्रा के हस्तान्तरण को बलाद् विक्रय (forced sales)

का आवश्यकता के बिना संविलीन (absorb) करना और इस प्रकार उनके कारण यदि कीमतों में सामान्य कमी नहीं तो विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति के मूल्यों में जो सापेक्ष परिवर्तन आ सकता है उसे दूर रखना। यदि आरोपण-दाताओं के पास उनका दायित्व पूरा करने योग्य युद्ध-ऋण हो तो हस्तान्तरण का प्रश्न अपेक्षया सरल होता है: परन्तु ऐसा होना बड़ी असाधारण स्थिति होगी, और यदि हो भी तो अपनी तरलतम परिसम्पत् (most liquid asset) को छोड़ देने के लिए वे चाहे तैयार ही न हों। अतः शासन को शोधन के अनेक वैकल्पिक उपायों के लिए प्रबन्ध करना होगा और सम्भव है उसे अस्थायी रूप में भाँति-भाँति की सम्पत्ति को, समाज के हित की दृष्टि से मूल्यों को सहायता देने के वास्ते स्वयं अपने हाथ में ले लेने के लिए भी तैयार रहना पड़े।

इन कठिनाइयों की दृष्टि से जब आरोपण का निर्माण हो गया हो, तो मूल्यांकन के नमन उपायों को अपनाने और संग्रह के हलके स्तर से समाधान कर लेने का एक बड़ा प्रलोभन होता है। जैसे, बाजार मूल्यों की खोज करने की बजाय सम्पत्ति के मूल्य का—प्रायः आय-कर-विवरणियों के आधार पर, जो स्वयं निर्दोष नहीं होंगी[1] बैठे बिठाये आय से "अनुमान" कर लिया जाए यह सम्भव है। इसी प्रकार शीघ्रता से कुछ राजस्व प्राप्त करने के लिए अपवंचन की इतनी मात्रा सहन कर ली जाती है जितनी नियमित करों में छोड़ी नहीं जाएगी।

यदि किसी आरोपण को कार्यान्वित करने के लिए इस प्रकार बिगाड़ना पड़े तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसे लगाने का प्रयत्न न करना अधिक अच्छा होता। साम्य का जितना दर्जा अन्य करों में स्वीकार्य होगा उससे कम का इसमें स्वीकरण वित्तीय प्रशासन के सम्पूर्ण स्तर को विकृत कर सकता है। एक आरोपण की गड़बड़ का परिणाम वांछित के

---

१. मूल्यांकन की इस पद्धति के विषय में ब्रिटिश राजस्व-प्राधिकारियों ने (पीछे पृष्ठ २४४ पर उल्लिखित स्मरण-पत्र में) कहा: "परिणाम को पूँजी मूल्यांकन का नाम देना भाषा का दुरुपयोग होगा।"

विपरीत हो सकता है, आर्थिक व राजनैतिक दोनों दृष्टियों से। और, संग्रह में अति विलम्ब का अर्थ है व्यापारी-वर्ग को निरन्तर अनिश्चितावस्था में रखना जिसका उद्यम पर कम से कम उतना ही हानिकारक प्रभाव हो सकता है जितना आय-कर का।

४. ऊंचे आय-करों के विकल्प के रूप में पूँजी कर (Capital Taxes as an Alternative to High Income Taxes)—जहाँ तक आरोपण का मुख्य उद्देश्य उच्च आय-कर से बचना है न कि ऋण के मूल में कमी करना (जिस उद्देश्य के साथ यहाँ हमारा सम्बन्ध ही नहीं है)।[1] पहले यह विचार करना उचित है कि निर्धारण की पद्धति बदल कर (कर का दर दिया हुआ हो तो) क्या उद्यम और उद्दीपक पर आय-कर का भार कम नहीं किया जा सकता ? हमने देखा है कि ब्रिटिश आय-कर में इस सम्बन्ध में, सुधार के लिए अवकाश है। सिद्धान्त रूप में आरोपण का एक अधिक उपयुक्त विकल्प होगा पूंजी-मूल्यों पर आधारित एक छोटा-सा वार्षिक कर। यद्यपि यह निस्सन्देह आय में से ही दिया जाएगा, यह निश्चित ही आय-कर से कम आयन्त्रक होगा और उतना ही राजस्व प्राप्त करेगा क्योंकि इसका प्रयास के साथ शिथिल सा ही सम्बन्ध होगा। व्यवहार में इस विकल्प के मार्ग में भी बाधा मूल्यांकन की कठिनाई और व्यय ही है।

पूँजी कर ने शेष कर-संरचना के साम्य के स्तर से यदि नीचा नहीं हो जाना है, तो न केवल पूँजी आरोपण की तरह सारी सम्पत्ति का मृत्यु-शुल्क पद्धति से, अनुमानित बाजार मूल्यों पर मूल्यांकन करना होगा, बल्कि मूल्यांकनों का समय-समय पर प्रतिवर्ष पुनरीक्षण कर के उन्हें आर्थिक अवस्था के समकक्ष रखना होगा। पुनर्मूल्यन का खर्च ही सदा पूँजी-करों के मार्ग की खाई रहा है, ब्रिटिश स्थानीय दर के जैसे भूमि और भवन के सीधे सादे करों के लिए भी। सकल पूंजी के कर के लिए संकार्य की जटिलता अत्यधिक होगी और किसी कारण पुनरीक्षण न किया गया तो असाम्य बहुत अधिक हो जाएगा।

ब्रिटेन की परिस्थिति में पूँजी अथवा सामान्य सम्पत्ति कर से कर-संरचना

१. किन्तु देखिए अध्याय १६।

में सुधार होने की सम्भावना अधिक नहीं है किन्तु अन्यत्र परिस्थिति भिन्न हो सकती है। स्कैंडेनेविया और जर्मनी में छोटे व्यवसायों के स्वामियों से, विशेषतया फुटकर व्यापारियों से कर संग्रह करने के लिए (जहाँ आय-कर प्राय: असफल रहता है) धन का बड़ा उपयोगी साधन अनुभव किया गया है। वहाँ की स्थिति में पहला अन्तर तो (ब्रिटेन की अपेक्षा) छोटे व्यवसायों का बहुत अधिक अनुपात है, दूसरा निगमन (incorporation) की प्रणाली का कम होना (जिससे राजस्व प्राधिकारियों के लिए शुद्ध आय का निर्णय अधिक कठिन हो जाता है।) और आंशिक रूप में, यह स्थिति पृथक् निगम कर (corporation tax) के परम्परागत प्रयोग के कारण भी है।

जैसे आरोपण के बारे में है वैसे ही पूँजी कर के बारे में भी, इसकी बहुत संभावना है कि मूल्यांकन समस्या का आसान हल खोजा जाए और फिर प्रत्यक्ष व्यवहार में कर विशिष्ट प्रकार की संपत्ति तक, संभवतः मुख्य रूप में स्थावर संपदा तक अथवा जहाँ प्रभावी आय-कर विद्यमान है, स्टाक एक्सचेंज प्रतिभूतियों तक, सीमित हो जाएगा। अधिकाश वास्तविक संपत्ति कर मूल अभिप्राय में पूँजी कर थे। जहाँ, कर-रचना में स्थावर संपदा पर एक वार्षिक कर के लिए स्थान हो,[1] किसी विशिष्ट प्रकार की संपत्ति पर एक अतिरिक्त आरोपण ऐसे उद्देश्य से लागू करना जो वह पूर्ण न कर सकता हो, व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक होगा। और भी, पूँजी-कर के कुछ उद्देश्य उससे कहीं अधिक सरल उपाय से भी प्राप्त किए जा सकते हैं। वह उपाय हैं संपत्ति से प्राप्त होने वाली आय के विरुद्ध विभेद की स्थापना (अथवा वृद्धि) कर के, और यह गुण कुछ आय करों में लाया भी जा चुका है।[2]

कर की क्रम-वृद्धि का उच्च दर अनिवार्य रूप से ऊपर की परिसीमाओं में अपवंचन को प्रोत्साहन देता है। जहाँ तक यह अपवंचन "अवैध" है, इसका

१. देखिए अध्याय १५, अनुभाग ५.

२. ब्रिटिश आय-कर में "अर्जित आय छूट" (earned income allowance) (देखिए अध्याय १२) का व्यवहार में यह परिणाम होता है।

राजस्व प्राधिकारियों की ओर से अधिक सतर्कता के सिवा कोई उपाय नहीं। और जहाँ तक यह "वैध" है यह वित्त मन्त्रियों का प्रयत्न होना चाहिए कि करों की रचना में धीरे-धीरे सुधार कर के सब संभव छिद्र बन्द कर दें। जहाँ तक मृत्यु-शुल्कों का सम्बन्ध है, बड़ी कठिनाई है मृत्यु के पूर्व जीवितों में उपहारों के द्वारा संपदाओं के आकार में क्रमिक ह्रास।[1] अधिकर के मामले में सब से बड़ा भय है आय के स्थान पर (कर मुक्त) पूँजी लाभों का प्रतिस्थापन। यह कई प्रकार से किया जा सकता है।[2] किसी छोटी संचालक-नियन्त्रित (director-controlled) कम्पनी में, व्यापार में जितने लाभ को उपयोगिता-पूर्वक लगाया जा सकता है, उससे अधिक रोक रखा जा सकता है ताकि बाद में वह पूँजी बोनसों के रूप में बाँट दिया जाए। अधिक सामान्यतया, बढ़ते मूल्यों के दिनों में विशेषतया स्थावर संपदा अथवा स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूतियों के (जो चाहे ब्याज दरों में आई हुई एक स्वतन्त्र कमी के प्रतिबिंब के अतिरिक्त कुछ न हो), नियोजक सम्पत्ति का क्रय-विक्रय, उस वार्षिक आगम (annual return) के लिए नहीं जो उससे उन्हें प्राप्त होगा, बल्कि उन बहुत बड़े पूँजी लाभों के लिए जिन के विषय में वे प्राय: निश्चित मान सकते हैं, होने लग पड़ता है। सिद्धान्त रूप में इस प्रकार के प्रवंचनों की रोकथाम का एक आशाजनक ढंग होगा मृत्यु-शुल्कों को फैला कर सब उपहारों और पूँजी के हस्तान्तरण के लाभों पर लागू कर दिया जाए।

आर्थिक सिद्धान्त में पूँजी लाभों को करारोपित करने के पक्ष में एक ऊपर से जंचने वाली युक्ति है, क्योंकि कई व्यक्ति अधिकांश अवसरों में वे कर आय की उस परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं कि आय वह राशि है जो स्वामी

---

१. मृत्यु के ५ वर्ष के अन्दर दिए गए उपहार अब ब्रिटिश मृत्यु-करो की संपदा में सम्मिलित किए जाते हैं। अभी भी बचाव का यह प्रबन्ध पर्याप्त मानना कठिन है।

२. देखिए अध्याय १२, एक प्रसिद्ध छिद्र था "बन्ध धुलाई" (bond washing) के नाम जानी जाने वाली प्रथा। बन्ध जब मूल्य ऊँचे होते तो बेच दिए जाते क्योंकि ब्याज का समय निकट होता, और करार यह रहता कि वे वापिस खरीद लिये जाएँगे जब कूपन फाड़ लिया गया होगा, अर्थात् "आगामी लाभांश को छोड़ कर।"

की पूंजी सम्बन्धी स्थिति को कोई आघात लगे बिना खर्च की जा सकती है। इस अर्थ में पूँजी लाभ "निर्वर्त्य आय" (disposable incomes) का एक भाग हैं—उतने ही जितना सामान्य आय-प्रवाह, और उसी प्रमाण में स्वामी के आर्थिक सामर्थ्य में वृद्धि करते हैं। संयुक्त राज्य में जहाँ आर्थिक सामर्थ्य के प्रति, जिसके साथ ही राजनैतिक सामर्थ्य का भय जुड़ा होता है, पर्याप्त सतर्कता है, पूँजी लाभों के कराधान को बहुतेरे लोग वैयक्तिक आय कर का अपरिहार्य संपूरण मानते है। अन्य देशों ने भी पूँजी-लाभ-करों के प्रयोग किए है। यह निर्विवाद है कि एक पूँजी-लाभ-कर की अनुपस्थिति में आय-कर के बहुत ऊँचे दर भी स्फीति के दबाव के समय में अतिरिक्त खर्च को नियन्त्रित करने में असमर्थ रह सकते हैं।

किन्तु, पूँजी-लाभों पर न्याय्य कर (जो दूसरी ओर हानियों के लिए उसी ढंग से सहायता भी दे) की कठिनाइयाँ बहुत दुर्गम हैं और यह सन्देहास्पद है कि वह कभी भी प्रभावी ढंग से दूर की जा सकती हैं या नहीं। किसी पूँजी लाभ पर कर लगाने का आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त समय तो स्पष्ट रूप से वही है जब वह कमाया जाए किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में लाभों पर कर तभी लगता है जब वे प्राप्त किए जाएँ— जो पर्याप्त काल के पश्चात् भी हो सकता है; इस प्रकार कर अपनी संभाव्य संपूरक शक्ति (potential compensation) का काफी अंश और अपनी न्याय्यता का कुछ अंश खो देता है। फिर, व्यवहार में हानियों के लिए तदनुसार सहायता देना भी साध्य नहीं क्योंकि उन्हें फिर कर अपवंचन के लिए साधन के रूप में बहुत सरलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

एक और कठिनाई यह है कि सब पूँजी लाभ हितकर अथवा प्राप्ति-कर्त्ताओं के लिए वांछनीय नहीं होते। कम्पनियों के दिवाले अथवा बोनस वितरण—जो बड़े हिस्सेदार के लिए लाभप्रद होते हैं,[1] क्योंकि वह अधिकर

---

१. यह मानते हुए कि पूँजी लाभ पर कर के दर अन्य आय की अपेक्षा कम हैं, जैसा प्रायः होता है।

की ऊपरी परिसीमा से बचना चाहता है, वे ही छोटे हिस्सेदार के लिए हानि-कारक हो सकते हैं क्योंकि उसका हित स्थायी आय में होता है और वह अकस्मात् स्वयं को एक अवांछित "लाभ" के परिणामस्वरूप उच्च अधिकर परिसीमा में धकेल दिया गया अनुभव करता है। इस कठिनाई का सब से बेढब 'पक्ष' सामान्यतया बढ़ते हुए मूल्यों अथवा घटते हुए ब्याज दरों के काल में सामने आता है जब कि संपत्ति का प्रायः कोई भी हस्तान्तरण, मुद्रा के रूप में कुछ लाभ प्राप्त किए बिना नहीं हो सकता, यद्यपि वास्तविक अर्थों में आय के अन्य आर्थिक प्रकारों जैसे मजदूरी, के परिवर्तन की अपेक्षा वह हानि का ही प्रतीक हो।

इन सब कठिनाइयों को देखते हुए, शासनों ने प्रायः पूँजी-लाभों को सामान्य आय-प्रवाह के बिलकुल बराबर मान लेने में संकोच अनुभव किया है। पूँजी लाभ कर का दर अधिकर की ऊपरी परिसीमाओं से पर्याप्त नीचे रखा गया है और इस प्रकार अधिकर-अपवंचन (surtax evasion) के लिए मानो निमन्त्रण दिया गया है। हानि के लिए सहायता बहुधा नाममात्र ही होती है। जहाँ परिसम्पत् को अल्प काल के लिए ही हाथ में रखा गया है वहाँ कर का दर बहुत अधिक रख कर कभी-कभी अवाँछित और योजनाबद्ध लाभों में विभेद करने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु इनमें से कोई युक्ति भी क्षणिक से बढ़कर नहीं है।

अतः यह प्रश्न कम से कम विवादास्पद है कि क्या एक पूंजी-लाभ-कर बढ़ जाने से कर-रचना को लाभ होगा या नहीं। यहाँ भी परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर है : अर्थ-व्यवस्था में धन का राजनैतिक व आर्थिक महत्त्व एक ओर, और राजस्व प्राधिकारियों की प्रवीणता दूसरी ओर। किसी भी अवस्था में, यह तो स्पष्ट है कि पूँजी-लाभ-कर के सैद्धान्तिक लाभ प्रत्यक्ष व्यवहार में बहुत अपूर्ण रूप में ही प्राप्त किए जा सकते हैं। ब्रिटेन में किसी संचालक-नियन्त्रित कम्पनी में लाभ के अनुचित रूप से रोक रखने की कठिनाई का अधिकांश, अन्तर्देशीय राजस्व को अतिरिक्त आरक्षितों पर अधिकर के दरों से कर लगाने का अधिकार दे कर दूर कर दिया गया है। यह कर मालिकों के

पृथक् हितों के अनुसार लगता है, वैसे ही जैसे मानो लाभ बाँट दिया गया हो। पूंजी लाभ कर का स्पष्टतया सबसे प्रबल पक्ष स्फीति के दबाव को रोकने के लिए एक साधन के रूप में हैं, किन्तु यहाँ भी असाम्य और कठिनाई का भारी भय बना रहता है। बहुत सी, शायद अधिकांश ऐसी स्थितियों में जहाँ मूल्यों में तीव्र वृद्धि अथवा व्याज दरों में तीव्र कमी आए (जैसा द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद इंगलैण्ड में हुआ) तथा जिसमे व्यापक और ध्यान खींचने वाले पूँजी लाभ प्रकट हों, तो वे राजकोषीय व्यवस्था के बाहिर दोषपूर्ण अर्थनीति का लक्षण होते हैं और सम्भवतः अधिक उपयुक्त उपायों के द्वारा उनका उपचार हो सकता है।

क्रमवर्द्धमान करों के अपवंचन को रोकने के लिए अतिरिक्त उपायों की आवश्यकता कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसका अनुमान केवल राजस्व प्राधिकारी लगा सकते हैं। फिर भी, यह अनुभव कर लेना उपयुक्त ही है कि निपुणता की जो उच्च कोटि प्राप्त कर ली गई है उसके बाद भी प्रत्यक्ष करों की ब्रिटिश व्यवस्था सर्वथा निर्दोष कदापि नहीं है।

अध्याय १४

सामान्य प्रभाव वाले अन्य कर

(Other Taxes With General Effects)

१. उपरिव्ययों पर कर (Taxes on Overheads)—जब हम कर-विश्लेषण की पद्धति की चर्चा कर रहे थे तब हमने देखा था कि कुछ ऐसे कर होते हैं जो यद्यपि धन के विशिष्ट प्रकार से व्यय अथवा उपभोग पर लगाए जाते हैं, किन्तु अर्थ-व्यवस्था में इतना व्यापक महत्त्व रखते हैं कि राष्ट्रीय आय के परिमाण को निश्चित करने वाले कारकों पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार के करों के लिए उस आँशिक विश्लेषण के अतिरिक्त जो व्यय करों के लिए साधारणतया उपयुक्त होता है, एक सामान्य विश्लेषण भी आवश्यक होता है।

ऐसे "सामान्य" व्यय करों के सम्भव प्रकार हैं—एक ओर वे जो किसी आवश्यक घरेलू उपरिव्यय पर बाकायदा निर्धारित होते हैं (जैसे, घरों और भूमि पर लगा कर), अथवा सामान्य उपभोग पर [जैसे अप्रवरणशील (non-selective) बिक्री कर]; दूसरी ओर हैं यथाविधि उत्पादन पर निर्धारित होने वाले, या तो सामान्य औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उपरिव्ययों पर (जैसे कारखानों और व्यापार स्थानों पर लगा कर) अथवा चालू व्ययों पर (तथा-कथित सकल आय-कर, समस्त विक्रय-राशि कर और वेतन कर)।

हमारे ध्यान में यह आ चुका है[१] कि यदि वह उच्च प्रति पौण्ड दर पर निर्धारित हो तो ब्रिटिश स्थानीय दर निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था में नियोजन की सामान्य गति को प्रभावित करेगा। किसी स्थावर सम्पदा कर का भी निर्माण पर ऐसा ही परिणाम होने की सम्भावना है, सिवाय उस कर के जो किसी स्थान के उपयोग की माँग बढ़ जाने

---

१. देखिए अध्याय ११, अनुभाग ३.

से उसके मूल्य में हुई वृद्धि मात्र पर लगाया गया हो।[1] यह ऐसा अपवाद है जो बसे हुए देशों के लिए तो पाठ्य पुस्तकों के सिद्धान्तों के बाहिर प्रत्यक्ष जगत् में कहीं नहीं होता।

यहाँ हमें नियोजन की गति पर, स्थावर सम्पदा करों में होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव के विश्लेषण को दोहराने की आवश्यकता नहीं है। हम देख चुके हैं कि गृह सम्पत्ति के कर के विषय में, कर वृद्धि के विपरीत प्रभाव गृह-प्रबन्ध साहाय्यों के द्वारा बहुत कुछ धोए जा सकते है। औद्योगिक व वाणिज्यिक भवनों के बारे में यह नीति उतनी सुगमता से कार्यान्वित नहीं की जा सकती, किन्तु लगभग वैसे ही परिणाम, विशिष्ट नए निर्माण के लिए लगने वाले आरक्षितों में जो अवितरित लाभ डाले जाते है उन पर उपयुक्त 'रिबेट' (rebate) देकर प्राप्त किए जा सकते हैं।[2] ब्रिटेन में, जहाँ तक औद्योगिक भवनों का सम्बन्ध है, उच्च स्थानीय दरों के यदि कोई निरोधक प्रभाव थे तो वे १९२९ के स्थानीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत दरों के दायित्व में की गई ७५ प्रतिशत कमी से अवश्यमेव दूर हो गए होंगे।

वाणिज्यिक और कार्यालय-भवनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई सहायता नहीं दी गई है। १९३० की दशाब्दी में तब तक जो भवन निवासार्थ प्रयुक्त होते थे उनके कार्यालयों और गोदामों में परिवर्तित हो जाने का जो बड़ा व्यापक रूपान्तर हुआ, उसमें प्रति पौण्ड उच्च दरों का, नए निर्माण को रोकने में जो प्रभाव पड़ा उसकी झाँकी आकर्षक है। प्रकटतः यही था वह परिवर्तन जिसने वण्टनात्मक व्यापारों (distributive trades) के लिए बहुत थोड़े नए नियोजन के साथ बहुत बड़े विस्तार की वित्त-व्यवस्था सम्भव बना दी थी।

सामान्यतया, किसी भवन के उद्दिष्ट में इस प्रकार का परिवर्तन ऐसा बदल नहीं है जिसका प्रोत्साहन समाज के लिए उचित हो। अतिरिक्त निवासों की आवश्यकता पर्याप्त काल तक तीव्र रहने की सम्भावना है, और यदि नगरों

---

१. उ० अ०, अनुभाग ४।

२. देखिए अध्याय १२।

के केन्द्र में अथवा अन्तरस्थ उपनगरों में स्थित भवनों को बाँट कर आधुनिक गृह-व्यवस्था के स्तरों के अनुसार बनाया जा सके तो वह कई दृष्टियों से बाहरी उपनगरों के विस्तार की अपेक्षा श्रेयस्कर होगा। दूसरी ओर रहने के घर विरले ही कारबार के उपयोग के लिए सुविधाजनक होते हैं। निर्माण पर स्थानीय दरों के इस प्रभाव को, फर्मों को उपयुक्त आय-कर "रिबेट" के द्वारा कार्यालय व गोदामों के नए निर्माण के लिए प्रेरित कर के अथवा निवास के मकानों के बँटवारे तथा आधुनिकीकरण के लिए सहायता देकर, निष्फल किया जा सकता है।

२. सामाजिक बीमा अंशदानों का भार (The Incidence of Social Insurance Contributions)—ब्रिटेन में चालू व्यय पर सब से महत्त्वपूर्ण कर सामाजिक बीमा योजना के रूप में है। ब्रिटेन की अवस्थाओं का विचार करते हुए मालिकों और कर्मचारियों के अंशदानों में विभेद करना जरूरी है। यद्यपि हमने यह निर्णय किया है कि कर्मचारियों का अंशदान कर ही समझा जाना चाहिए क्योंकि वह अनिवार्य है (और इसलिए कमाई पर लगा हुआ प्रति व्यक्ति कर है), तो भी इस का प्रभाव तुल्य आकार व आय-वितरण वाले आय-कर के जैसा नहीं हो सकता। यह सम्भव ही नहीं निश्चितप्राय है कि राजकीय बीमा योजना न हो तो भी, तुलनीय दरों पर उन्हीं उद्देश्यों के लिए अधिकांश कर्मचारी स्वयमेव अपना बीमा करवा लेंगे। अतः पारिवारिक व्यय वितरण में अनिवार्य योजना के होने से बहुत थोड़ा अन्तर आता है।

कर्मचारियों के अंशदान के जिस मात्रा में सामान्य कर-प्रभाव हैं, उस मात्रा में जब तक योजना "२५० पौण्ड से नीचे" के वर्ग तक सीमित थी, वे प्रभाव जिस प्रकार के आय-कर से ब्रिटेन में लोग परिचित हैं उसके नहीं बल्कि व्यय कर के थे; अर्थात् कर का भार बचत की बजाय प्रायः उपभोग पर था। यह प्रभाव इसलिए गहनतर हो गया कि अंशदान बराबर होने के कारण आय के विरुद्ध प्रतिगामी होते हैं; उन अनिपुण कारीगरों पर जो कम बचाते हैं, अधिक वेतन प्राप्त करने वाले इस योजना के सदस्यों की अपेक्षा अधिक भारी रहते

है। जब (१६४८ में) बीमा योजना फैला कर सारे समाज पर लागू कर दी गई तब भार स्वाभाविकतया आय-कर के भार के अधिक सदृश हो गया।

आर्थिक दृष्टि से, स्वामियों के अंशदान का भार अधिक रोचक है। मालिक के लिए सामाजिक बीमा के लिए उसका अंशदान उसके वेतन देयक (wage bill) में वृद्धि के बराबर है; यह वृद्धि वह अपने बिक्री मूल्यों में जोड़ लेता है जिससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में कर के कारण मूल्य लगभग अनुपात में बढ़ जाते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि स्वामी और कर्मचारी प्रत्येक का अंशदान ४ शिलिंग है, तो हम इन शोधनों को इस तरह भी देख सकते हैं कि वेतनों में ४ शिलिंग की एक सार्वत्रिक वृद्धि हुई है और साथ ही कर्मचारियों पर ८ शिलिंग का प्रभार लगा है। किन्तु क्योंकि धन आय-हस्तान्तरणों के द्वारा बँटता है, सब की आय मूल्यों के साथ स्वयमेव बढ़ जाती है। परिणामतः अंशदानों में वृद्धि से रोजगार (सेवायुक्ति) और शुद्ध आयों पर शुद्ध प्रभाव प्रायः (सुपरिचित कीन्सियन विश्लेषण[1] के अनुसार) शून्य के बराबर होने की सम्भावना है क्योंकि इस परिवर्तन में बचत (saving) अथवा नियोजन (investment) की प्रवृत्ति को प्रभावित करने वाली कोई बात नहीं।

किन्तु स्वामियों के अंशदान का कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव न होना केवल आन्तरिक परिस्थिति की ओर संकेत करता है। सामाजिक बीमा अंशदानों में वृद्धि का अल्पकालीन प्रभाव तो यह होता है कि अन्यों की तुलना में ब्रिटिश मूल्य बढ़ जाते हैं और इस कारण निर्यात कम हो जाता है; उसी समय अतिरिक्त लाभों के कारण कर्मचारियों के बढ़े हुए वेतन आयात को प्रोत्साहन दे सकते हैं—जिससे शोधन शेष (balance of payments) दोनों ओर से, दुर्बल हो सकता है। व्यवस्था जितनी श्रमिक वर्ग की आय तक सीमित रहेगी उतना ही आयात का प्रोत्साहन अधिक होने की सम्भावना है क्योंकि ऊँची आयों का सम्भवतः अधिक बड़ा अंश घरेलू श्रम की सेवाओं पर व्यय होता है और अधिक खाद्य व अन्य आयात पर कम।

---

१. देखिए Keynes, General Theory of Employment, Chapter XIX.

३. प्रमुख लागत पर अन्य कर (Other Taxes on Prime Costs)—करों का जो दूसरा बड़ा समूह हमने यहाँ विचारार्थ लेना है, उसमें आते हैं तथाकथित सकल आय के कर, समस्त विक्रय-राशि के कर और सामान्य बिक्री के कर। १६३० के संकट में इस प्रकार के कर योरुप और अमरीका दोनों में व्यापक रूप से लगाए गए परन्तु ब्रिटेन ने बजटीय तूफान का सामना दूसरे उपायों के द्वारा किया किन्तु ब्रिटिश क्रय कर मूलतः करों की उसी श्रेणी का है, यद्यपि उसके सामान्य प्रभाव खाद्य व अन्य सस्ते पदार्थों के मुक्त रहने के कारण बहुत कुछ नरम हो जाते हैं।

नाम इन करों के कुछ भी रख लीजिए और उनके ब्योरे में कैसे भी अन्तर क्यों न हों, प्रभाव में ये कर मूलतः सदृश होते हैं। उत्पादक उन्हें व्यय में वृद्धि मानते हैं और अपने बिक्री मूल्यों में जोड़ लेते हैं। उत्पादक और उपभोक्ता की बचत (surplus) की जो हानि अन्ततोगत्वा होती है वह हर उदाहरण में उत्पादक के सामने जो माँग वक्र है उसकी लोच पर निर्भर है, उसी ढंग से जिसका हम पहले ही व्यय के आंशिक करों के सम्बन्ध में विश्लेषण कर चुके हैं।[1] किन्तु यहाँ हमारा सम्बन्ध उस परिणाम से नहीं है बल्कि मूल्यों में सामान्य वृद्धि का अर्थ-व्यवस्था पर जो प्रभाव होता है उससे और कर के आरोपण के परिणामस्वरूप होने वाली वास्तविक आय की कमी से है।

कर का ब्योरा जो भी हो, वह उपभोग पर कुछ न कुछ रोक तो अवश्य लगाता है,[2] और इस कारण सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में कुछ रोक नियोजन पर भी—उदाहरणार्थ, उस रोक की अपेक्षा जो उतना ही राजस्व लाने वाले किसी शुद्ध आय-कर के आरोपण से लगेगी। यह इस कारण है कि भार खर्च करने पर है, बचने पर नहीं। उपभोग और नियोजन पर रोक उतनी ही अधिक होगी

१. अध्याय ६।

२. जब तक हम अतिशय रोजगार (overfull employment) और सुगम द्रव्य की अवस्था नहीं स्वीकार करते, जिसमें श्रमिक इसे, बल्कि उन पर जो कोई कर भी पड़े उसको वेतन बढ़वाने के लिए एक साधन के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। चर्चा के लिए देखिए आगे अध्याय १७।

जितनी आशा कर—या उसका नया दर—अस्थायी होने की होगी। यदि कर बहुत अस्थायी है यह धारणा हो तो सुदूर भविष्य के लिए नियोजन को बढ़ावा मिल सकता है जबकि अधिक तात्कालिक अवसर उपेक्षित रह जाते हैं। किसी संघराज्य में जब इस प्रकार के कर संघटक राज्यों द्वारा स्वीकार किए जाते हैं तो ऊँचे कर वाले राज्यों से बच निकलने के हेतु से उत्पादन और विपणन (marketing) के मार्गों में विकृति के आने से अतिरिक्त उलझनें और व्यय उत्पन्न हो सकते हैं। अमरीका में १६३०-३१ के संकट में स्थानीय बजटों को सहायता देने के लिए राज्यों के जो बिक्री कर लगे और जैसा हमने देखा तबसे बढ़ते ही चले जा रहे हैं, उनमें यह सब कुछ प्रकट हुआ।

यदि कर बिक्री (अथवा क्रय) कर के रूप में लगता है तो उसका सम्भवतः यह अर्थ होता है कि राजस्व उत्पादनीय प्रक्रिया की थोक अथवा फुटकर अवस्था से संग्रहीत होता है, यह समस्त विक्रय राशि के कर की तुलना में कुछ थोड़ा सुधार है। प्रथम तो उत्पादन की जितनी पिछली अवस्था पर कर लगेगा उतनी ही कम सम्भावना है कि उत्पादन की प्रत्येक अवस्था में सदा बढ़ते जाने वाले आधार पर एक निश्चित प्रतिशतता, अगले क्रेता से कर का व्यय वसूल करने के लिए, जोड़ते हुए कर का "स्तूपीकरण" किया जाए (पिरेमिड का आकार बनाया जाए)।[1] यदि प्रशासन की ओर से इस ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा तो कुछ वस्तुओं का मूल्य कर की मात्रा से कहीं अधिक बढ़ सकता है। द्वितीय यह कि कर यदि केवल वाणिज्य-अवस्था (merchanting stage) पर निर्धारित होगा तो बड़ी व छोटी फर्मों के मध्य में, एकीकरण (integration) की मात्रा में अन्तर होने के कारण असाम्य के लिए अवकाश कम होगा, अपेक्षा इसके कि जब कर सामान्य रूप में विक्रय-राशि पर निर्धारित हो। इस सबका निष्कर्ष यह है कि किसी विशिष्ट कर के भार का निर्धारण करने के प्रयत्न से पूर्व उसके प्रशासी ब्योरे की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

---

१. किसी एकाधिकार के करारोपण के विश्लेषण से तुलना कीजिए, अध्याय १० अनुभाग ४।

वाणिज्य-अवस्था पर निर्धारित कर को चालू खर्चों पर लगे अन्य सामान्य करों की अपेक्षा यह अतिरिक्त लाभ होता है कि निर्यात के लिए अभिप्रेत वस्तुओं पर "रिबेट" दी जा सकती है। इस विचार के अतिरिक्त, इस प्रकार के कर, उदाहरणार्थ सामाजिक बीमा अंशदानों के उलट, आयातों की माँग को बढ़ाए बिना—क्योंकि सम्पूर्ण रूप में उपभोग कम हो जाता है, (गृह-निर्मित वस्तुओं की घरेलू माँग को घटा कर) निर्यात को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति रखते हैं। अतः एक सामान्य बिक्री कर एक दुर्बल शोधन शेष (balance of payments) को शक्ति देने में कुछ सहायक हो सकता है।

जैसा कहा जा चुका है यह सन्देहास्पद है कि ब्रिटिश क्रय कर की अनेक प्रकार की विस्तृत छूट होते हुए कहाँ तक उसके महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रभाव हो सकते हैं। और यह और भी सन्देहास्पद है कि निर्बाध उपभोग के काल में क्या उसका शोधन शेष पर पर्याप्त प्रभाव हो सकता है। यह सब विभिन्न वस्तुओं पर कर के दर क्या हैं, इस पर निर्भर है। अधिकतर परिस्थितियों में शोधन शेष के ऊपर उतना ही अच्छा प्रभाव सम्भवतः, वेतन-जीवियों (wage earners) की आयों पर एक आनुपातिक कर के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जो करदानक्षमता के भी अधिक अनुसार होगा और लगभग निश्चय ही बचतों (surpluses) की कम हानि करेगा। किन्तु जैसा हम बाद में देखेंगे,[1] क्रय कर के ढग का कर चक्रीय स्थिति (cyclical condition) में उपभोग पर नियन्त्रण के लिए एक सुविधाजनक यन्त्र के रूप में हाथ में रह सकता है क्योंकि सब व्यय-करों के सदृश इसकी प्रतिक्रिया भी अत्यन्त तेजी से होती है।

---

१. देखिए अध्याय १७।

अध्याय १५

स्थानीय करारोपण का सिद्धान्त

(The Theory of Local Taxation)

१. संघ-राज्य प्रणाली और स्थानीय शासन की वित्तीय समस्या (The Financial Problem of Federalism and Local Government)—स्थानीय वित्त की समस्याएँ और उसका राष्ट्रीय वित्त से नाता ऐसा विषय है जिससे संसार के सभी देशों का सम्बन्ध आता है। यूरोप के कई देशों में दृढ़ स्थानीय शासन का विकास आधुनिक राज्य के निर्माण के सब से महत्त्वपूर्ण कालों में उसकी उन्नति का, एक अनिवार्य अंग रहा है। इसका प्रारम्भ तब ही हो गया जब अपने कार्यों का प्रबन्ध प्राय: स्वयं ही करने वाले महान् नगरों ने संघ प्रणाली के विरुद्ध सांझे संघर्ष में राष्ट्रीय शासन के साथ कंधा जोड़ कर खड़े हो जाने में अपना सर्वोपरि हित समझा। उपनिवेशों और अमरीका में जो राष्ट्रीय शासन बने उनका जन्म मुख्यत: उन बस्तियों के स्वेच्छापूर्वक एक संघ बनाने के परिणामस्वरूप हुआ जो मूलत: पृथक् और स्वतन्त्र थीं, इस कारण उनके संविधान का स्वरूप बहुत कुछ संघात्मक था जब कि यूरोप में उसके विपरीत एकात्मक राज्य का स्वरूप सब से अधिक प्रचलित हो गया।

आधुनिक जगत् में इस मौलिक संवैधानिक अन्तर के होने पर भी, एकात्मक राज्य और संघ राज्य में केन्द्रीय / स्थानीय वित्त के प्रश्नों में अन्तर प्रकार की अपेक्षा मात्रा का ही है। तथापि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में राजनैतिक एकीकरण की मात्रा में भेद के कारण—जो भौतिक अवस्थाओं और सामाजिक दृष्टिकोण में भिन्नता तथा राजनैतिक जन्म के अन्तर को प्रतिबिम्बित करता है—केन्द्रीय और स्थानीय वित्तीय संस्थाओं में पर्याप्त भिन्नता आ जाती है। स्थूल रूप से, तीन मुख्य राजनैतिक प्रकार, और उनके अनुरूप वित्तीय

व्यवस्थाएँ पृथक् की जा सकती हैं। तीनों के उदाहरण चिरकाल से उपलब्ध हैं और इनमें (कम से कम अभी-अभी तक) बदलने अथवा परस्पर मिल जाने की कोई विशेष प्रवृत्ति प्रकट नहीं हुई।

एक चरम सीमा पर है प्रभावी संघ-राज्य[1] जिसमें सदस्य-राज्यों के अधिकार अत्यन्त विस्तृत होते हैं—उन्हें वास्तव में अवशिष्ट संवैधानिक अधिकार हों चाहें न हों—और उनके कर-अधिकार भी उसी के अनुसार विस्तीर्ण होते हैं। इस अवस्था में राष्ट्रीय और प्रादेशिक शासनों को बहुत बार दोहरे कर-अधिकार होते हैं जिससे पर्याप्त स्पर्द्धा और अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। किन्तु आज के राजस्व-सम्बन्धी दबाव से स्पष्ट हो रहा है कि संघर्ष बराबरी का नहीं है; आज नहीं तो कल राष्ट्रीय शासन को कर-रचना पर अपनी पकड़ कसनी होगी क्योंकि वही युद्धकाल में प्रतिरक्षा के मूलभूत कर्त्तव्य के लिए और सामान्य अवस्था में राष्ट्र के आर्थिक कल्याण के लिए उत्तरदायी होता है। ये ऐसी सेवाएँ हैं जिनके वित्त-प्रबन्ध में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए।

दूसरी चरम सीमा पर है सुसंघटित एकात्मक राज्य, जिसका अधिनायकवादी होना कदापि आवश्यक नहीं है किन्तु जिसमें फिर भी, स्थानीय शासन का अपना स्वतन्त्र जीवन बहुत कम होता है। स्थानीय प्राधिकारी जनता के द्वारा निर्वाचित हो सकते हैं और नाम के लिए उन्हें पर्याप्त कर-अधिकार होना भी सम्भव है। परन्तु व्यवहार में वे केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधियों के अधीन होते हैं और इसलिए जो राजस्व वे संग्रह करते हैं उसके अभिन्यास के ढंग पर उनका प्रभावी नियन्त्रण नहीं होता। इस व्यवस्था का ही विशिष्ट उदाहरण है तथाकथित "नायकीय" पद्धति ("prefectorial" system) जो नैपोलियन ने यूरोप में विस्तार सहित स्थापित की थी और जो आज भी कई देशों में (विशेषतया फ्रांस और इटली में) न्यूनाधिक रूप में सुरक्षित है।

१. यद्यपि उसका औपचारिक रूप संघराज्य का है, यू० एस० एस० आर० की राजनैतिक और वित्तीय संस्थाएँ संघराज्य की अपेक्षा एक अत्यन्त एकीकृत राज्य से अधिक समानता रखती हैं।

नायकीय पद्धति में, यद्यपि स्थानीय प्राधिकारी लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित होते है, तो भी उनके हाथ में वास्तविक शक्ति नाम की ही होती है—कुछ तो इस कारण कि उनका अधिवेशन बहुत दीर्घकालोपरांत ही होता है किन्तु मुख्यत: इस कारण कि उनके निर्णय और बजट नायक की 'वीटो' के अधीन होते हैं।

इन दो चरम सीमाओं के मध्य में है जिसे हम आंग्ल-स्कैन्डेनेवियाई (Anglo-Scandinavian) समझौता कह सकते हैं। उसमें एकात्मक राज्य के चौखटे के अन्दर ही स्थानीय स्वायत्तता (autonomy) के लिए अवकाश बना लिया जाता है जिसका पालन, न्यूनाधिक रूप में निरन्तर अधिवेशन में रहने वाली स्थानीय प्रतिनिधि संस्थाएँ करती हैं। सर्वोपरि संवैधानिक अधिकार केन्द्रीय शासन के पास रहते हैं और अवर (छोटे) शासन उस क्षेत्र के बाहिर कार्य नहीं कर सकते जिसकी उन्हें अनुज्ञा होती है, न ही ऐसे कर लगा सकते हैं जिनका उन्हें विशिष्ट अधिकार नहीं है। तथापि केन्द्रीय और स्थानीय कार्यों के मध्य की विभेद रेखा प्राय: कड़ी नहीं होती। उदाहरणार्थ ब्रिटेन में स्थानीय प्राधिकारियों ने, समय-समय पर, संसद् के निजी अधिनियमों के द्वारा अपने अधिकार-क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि की है।

यद्यपि केन्द्रीय / स्थानीय संगठन के ये तीन प्रकार चिरकाल से विद्यमान हैं, अन्तर्युद्ध काल में इन सब पर दबाव और आलोचना का बहुत जोर पड़ा। और परिणाम प्राय: सभी स्थानों पर केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण में वृद्धि के रूप में ही आया। स्पष्टत: इसका सब से ज्वलंत उदाहरण नाजी जर्मनी का संकालन (Gleichschaltung) था जो उसके उपग्रहों (satellites) में कुछ हलके रूप में प्रतिबिंबित था, किन्तु संयुक्त राज्य और ब्रिटिश अधिराज्यों (Dominions) में दो महायुद्धों के भार ने राष्ट्रीय शासन के प्रभाव में असामान्य वृद्धि की है। इसलिए संघराज्य, यदि कानून से नहीं तो भी तथ्य में तो, ब्रिटिश ढंग के संगठन के समीप आते गए हैं। साथ ही साथ ब्रिटेन में सशक्त केन्द्राभिग (centripetal) ताकतें कार्यरत रही हैं जिन का प्रभाव

१६३६ और १६४५ के मध्य में युद्ध की दृष्टि से आवश्यक दीखने वाले केन्द्रीय और प्रादेशिक नियन्त्रण ने और भी बढ़ा दिया।

राष्ट्रीय शासनों के इस बढ़ते हुए दबाव के कारण केन्द्रीय स्थानीय सम्बन्धों का नए सिरे से परीक्षण आवश्यक हो गया है। यद्यपि आंग्ल स्कैन्डिनेवियाई समझौते की पीठ पर आज एक ओर सामाजिक सेवाओं के विकास का और दूसरी ओर राजनैतिक स्थायित्व का प्रभावशाली इतिहास है, फिर भी स्थानीय स्वायत्तता (Local Autonomy) के जिस आधार पर वह आज खड़ा है उसमें गम्भीर शंका प्रकट की जा रही है।

२. ब्रिटिश स्थानीय प्राधिकारी—दर और अनुदान (The British Local Authority—Rates and Grants)— जैसा हमने देखा है, उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी चतुर्थांश में सामाजिक व्यय का वह विस्तार जिसने सामान्य स्थिति में सार्वजनिक व्यय का अधिकतम भाग पचा लिया है, निश्चित रूप में प्रारम्भ हो चुका था। वास्तव में इस व्यय का कुछ अंश भी केन्द्रीय शासन ने शायद ही किया, १६३० की दशाब्दी में स्थानीय प्राधिकारी कुल के दो-तिहाई के प्रशासन के लिए उत्तरदायी थे। शेष का अधिकांश स्थानीय निकायों (जैसे सामाजिक बीमा निधियाँ और सहायता बोर्ड) की देखरेख में था किन्तु ये न्यूनाधिक रूप में केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। कार्यों के इस बेढब से वितरण का कारण अंशतः ऐतिहासिक है और अंशतः वित्तीय। 'नई" सामाजिक सेवाओं—शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और बाद में गृह-व्यवस्था ने स्वाभाविकतः निर्धन सहायता का—जो पूर्वकाल से प्राप्त होने वाली एक मुख्य सेवा थी—स्थानीय उत्तर-दायित्व बनने में अनुकरण ही किया।

एक बार राष्ट्रव्यापी आधार पर स्थापित हो जाने के बाद ये सेवाएँ तीव्र-गति से बढ़ीं। मुख्य वित्तीय भार प्रारंभ में स्थानीय दर पर पड़ा जो पहले ही निर्धन-सहायता के भारी बोझ से दबा हुआ था। १८६० की दशाब्दी से दरों पर बढ़ते हुए भार के कारण स्थानीय प्राधिकारियों को मिलने वाले राजकोषीय अनुदानों का—विशेषतः शिक्षा के लिए, क्रमशः, यद्यपि अनिच्छा

से ही विस्तार हुआ। परन्तु नीति में कोई वास्तविक परिवर्त्तन वर्त्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दी के अन्त तक नहीं हुआ। उस समय वृद्धावस्था-पेन्शनों की, तथा स्वास्थ्य और बेकारी बीमा की जो योजनाएँ स्थापित हुई वे सब केन्द्र द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों के प्रबन्ध में ही चलती थीं--स्थानीय प्राधिकारियों के क्षेत्र से पूर्णतया बाहिर। इस नई नीति ने प्रौढ़ों, रोगियों और बेकारों की सहायता से न केवल अकिंचनता का धब्बा उतारा (जिसके साथ १९१८ तक राजनैतिक अशक्तताएँ भी जुड़ी हुई थीं) बल्कि दरों पर का बोझा भी, निर्धन-सहायता के लिए दिए गए अनुदान के काल्पनिक "भय" के बगैर ही, कम कर दिया।

इस प्रकार सामाजिक सेवाओं के प्रशासन अधिकांश स्थानीय प्राधिकारियों 'काउंटी' नगरों, प्रशासी 'काउंटियों' और 'काउंटी' जिलों (County Boroughs, Administrative Counties and County Districts) मंडलों, कुल मिलाकर १३०० पृथक् निकायों का उत्तरदायित्व ही रहा। स्थानीय वित्त की दृष्टि से इसका ध्वनितार्थ यह है कि व्यय का अधिकांश सामाजिक सेवाओं से संबंधित है किन्तु धन का केवल आधा ही स्थानीय करारोपण से प्राप्त होता है। १९५३ में स्थानीय प्राधिकारी जो ९१ करोड़ ६० लाख पौंड चालू खाते में खर्च कर रहे थे और ४३ करोड़ ६० लाख पौंड जो उन्होंने दरों से प्राप्त किए, इनका अन्तर प्रायः सारा ही,[1] राष्ट्रीय बजट से प्राप्त अनुदानों के द्वारा पूरा हुआ।

वर्त्तमान ब्रिटिश स्थानीय वित्त प्रणाली की जड़ें इतिहास में बड़ी दूर से आई हुई हैं। बारहवीं शताब्दी में ही स्थानीय समाज एक "दर" के द्वारा स्थानीय सुविधाओं और कार्यों—पुलों, बाँधों आदि की व्यवस्था कर रहे थे।[2] एलिजाबेथ प्रथम के राज्य तक संसद् ने सब 'पैरिशों' (parishes) को अपने

---

१. अनुदान=४१ करोड़ दस लाख पौंड, अन्य स्थानीय आय (सकल)=१८ करोड़ ६० लाख पौंड।

२. देखिए Cannan, "History of Local Rates in England."

क्षेत्र में निर्धनों की सहायता के लिए एक दर लागू करने पर विवश कर दिया, और इस समय तक स्थानीय समाज राष्ट्रीय शासन के लिए अन्य सेवाओं का, विशेषतया न्याय-प्रशासन के सम्बन्ध में, प्रबन्ध कर रहे थे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में केन्द्रीय शासन की वृद्धि के साथ ही साथ स्थानीय समाजों की गतिविधियाँ भी विकसित हुईं। नगर-शासन का वर्त्तमान विकास अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कुछ नगरों में संसद् के निजी अधिनियमों के द्वारा स्थापित "सुधार कमिश्नरों"[1] से आरम्भ हुआ माना जा सकता है।

संसद् ने धीरे-धीरे इस प्रकार स्थानीय प्रयत्नों से यदा-कदा प्राप्त किए गए अधिकारों और कर्त्तव्यों को राष्ट्रीय विधान के द्वारा सामान्य रूप देने के कार्य में हाथ डाला। पहले तो जैसे-जैसे एक नयी सेवा राष्ट्रीय आधार पर स्थापित की गई वह तदर्थ (ad hoc) स्थानीय प्राधिकारियों की एक नयी श्रृंखला—जैसे दरिद्र विधि प्रतिपालक (poor law guardians), राजपथ बोर्ड (highway boards), स्वच्छता मंडल (sanitary districts) और विद्यालय बोर्ड आदि—द्वारा प्रशासित होती रही। किन्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थानीय शासन के कर्त्तव्य धीरे-धीरे सामान्य अविशेषित (non-specialized) स्थानीय प्राधिकारियों के हाथ में केन्द्रित[2] होते गए और देश का मानचित्र इस प्रकार बनाया गया कि वह प्रतिनिधि शासी निकायों (representative governing bodies) के एक जाल से पूरी तरह ढक गया। यद्यपि पृथक् अधिकार क्षेत्रों की संख्या अब भी बहुत थी, अधिकारों के इस प्रकार केन्द्रित होने

---

१. जैसे १७४४ में लिवरपूल कमिश्नरों ने गलियों के प्रकाश प्रबन्ध, सफाई, अनुत्रास (nuisance) की रोकथाम और गाड़ियों के खड़े रखने के नियन्त्रण के लिए अधिकार प्राप्त किए।

२. विलीन होने वाले अन्तिम तदर्थ (ad hoc) अधिकारी थे दरिद्र विधि प्रतिपालक १९२९ में।

(concentration of powers) से स्थानीय प्रशासन बहुत सरल बन गया।[१] उसके बाद कार्य के और (वस्तुतः) केन्द्रित हो जाने के कारण अब अधिकाँश व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए 'काउँटी' नगरों और प्रशासी 'काउँटियों' की गतिविधियों का विचार कर लेना पर्याप्त होता है, अर्थात् १३०० की अपेक्षा केवल १४० निकायों का ही ध्यान करना पड़ता है।

स्पष्ट है कि लगभग आरंभ से ही किसी स्थानीय निकाय पर दो प्रकार के कार्यों का उत्तरदायित्व था - ऐसे जो उसने स्वयं चुने थे और ऐसे जो संसद् ने उसके कन्धों पर डाले थे। हाँ, इन दो प्रकार की गतिविधियों में कोई सन्तोषजनक कार्यात्मक भेद नहीं था।[२] उद्यमशील समाजों ने अपने लिए जिन सेवाओं की व्यवस्था की वे अन्य स्थानों के लिए भी उपयुक्त अनुभव की गईं और संसद् को यह स्वाभाविक इच्छा हुई कि वे उन लोगों को भी उपलब्ध हों जो कम प्रगतिशील—अथवा कम समृद्ध—क्षेत्रों में रहते हैं। इस प्रकार जो सेवाएँ आरम्भ में स्वेच्छापूर्वक और यदा-कदा उपलब्ध करवाई गईं, उनकी धीरे-धीरे व्यापक और स्थानीय प्राधिकारियों के लिए अनिवार्य बन जाने की प्रवृत्ति रही।

जैसा हमने देखा है स्थानीय दर का सर्वप्रथम उपयोग स्थानीय समाजों ने अपने इलाकों को सुधारने के लिए किया परन्तु एलिजाबिथन दरिद्र विधि के पूर्व दृष्टान्त के अनुसार जब अतिरिक्त सेवाएँ अनिवार्य हुईं तो संसद् ने उन्हें भी स्थानीय दर पर डाल दिया। स्पष्टतः एक ही कर से अतिरिक्त सेवाओं के वित्त-प्रबन्ध की संभावना की एक सीमा थी--ऐसी सीमा जो (जैसा हम आगे देखेंगे) दर की अपनी विशेषताओं के कारण और भी अधिक सुनिश्चित हो गई। किन्तु, क्योंकि कोषागार ने शेष सभी करों के ऊपर राष्ट्रीय

---

१. आश्चर्य का विषय है कि कार्य संयुक्त राज्य अमरीका में कभी इस प्रकार केन्द्रित नहीं हुए, वहाँ स्थानीय प्रशासन १७५,००० पृथक् प्राधिकारियों के हाथों में है जिनमें से कइयों के अधिकार-क्षेत्र एक दूसरे से ठीक तरह पृथक् भी नहीं हैं—"Overlapping" हैं।

२. देखिए दुर्वह लाभदायक विभेद (onerous beneficial distinction) की चर्चा, अध्याय १५।

बजट के अधिकार को निष्ठापूर्वक सुरक्षित रखा,[१] यह अपरिहार्य हो गया कि आज नहीं तो कल संसद् अपने साधनों में से स्थानीय वित्त की सहायता करे। यह संयोग की ही बात नहीं थी कि पहला राजकोषीय अनुदान (१८२५) नैपोलियनीय युद्धों के कारण दरिद्र (विधि के) दर में अत्यन्त वृद्धि के तुरन्त बाद दिया गया।

सेवाओं के सामान्याकरण की संसदीय इच्छा का एक नैसर्गिक परिणाम यह था कि संसद् सेवा के प्रमापों को भी सामान्य करे। इस नीति से केवल औसत दर राजस्व की सहायता के लिए अनुदान ही जरूरी नहीं होता, बल्कि ऐसे क्षेत्रों के लिए जो असाधारण रूप से निर्धन हों अथवा जिनकी विशिष्ट आवश्यकताएँ असामान्य रूप से अधिक हों, विशेष उदारतापूर्ण अनुदान आवश्यक हो जाता है। एक बार यह नीति स्वीकार कर ली जाए तो अनुदानों की प्रवृत्ति न केवल बढ़ने की ओर होती है बल्कि अधिक जटिलता की ओर भी। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक काल से इस अर्थ में भिन्न-भिन्न अनुदान धीरे-धीरे शिक्षा सेवा में अधिकाधिक महत्त्व वाले बनते गए हैं। वे पहली बार सामान्य उद्देश्यों के लिए "ब्लॉक अनुदान" (Block Grant) में दिए गए जिसने १९२९ में, पहले से दिए गए कुछ विशिष्ट अनुदानों का स्थान लिया।

३. स्थानीय स्वायत्तता का राजनैतिक महत्त्व (The Political Importonce of Local Autonomy)—घटनाओं के जिस क्रम का हमने अनुशीलन किया है, वह राष्ट्रीय शासन और ब्रिटिश स्थानीय प्राधिकारियों के मध्य में प्रशासी व वित्तीय उत्तरदायित्व के बँटवारे की *व्याख्या* तो कर देता है, परन्तु क्या वह एक या दूसरे का *औचित्य भी स्थापित* करता है? स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या (यह मानते हुए कि स्थानीय कर आधार का विस्तार व्यवहार्य नहीं है) यह अधिक अच्छा नहीं होगा कि राष्ट्रीय से स्थानीय राजकोषों को धन के हस्तान्तरण के बेढब और सम्भवतः खतरनाक तन्त्र को रद्द कर

१. उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोश्चन के "नियत राजस्व" का काल भी केवल दीखने में ही एक अपवाद है, स्थानीय प्राधिकारियों को जो कर नियत थे उनके दरों पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था।

के, उसकी बजाय सम्बन्धित सेवाओं को केन्द्रीय नियन्त्रण में दे दिया जाए ? वास्तव में ब्रिटेन में यह प्रक्रिया वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक काल से चल रही है। १९०९ के राजकीय आयोग की रिपोर्टो से लेकर चली हुई "दरिद्र विधि के भंग" की नीति से न केवल केन्द्र द्वारा नियन्त्रित व वित्त-पोषित वृद्धावस्था पेंशन तथा स्वास्थ्य व बेकारी बीमा आया, बल्कि १९४० की दशाब्दी में प्रक्रिया और भी गति से चली। यह दरिद्र सहायता का स्थान राष्ट्रीय साहाय्य द्वारा लेने, और स्थानीय प्राधिकारियों की कई स्वास्थ्य सेवाओं के १९४८ में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में विलय से हुआ। अन्तर्युद्ध काल में प्रमुख शासनों की ओर से गौण शासनों को सहायता अनुदान अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होते गए, न केवल ब्रिटेन में बल्कि अन्य कई देशों में भी, विशेषतया संयुक्त राज्य (अमरीका) और ब्रिटिश अधिराज्यों[1] में, अतः प्रश्न सामान्य रुचि का है। स्पष्ट है कि प्रश्न ऐसा है जिसके दो पक्ष हैं—एक ओर राजनैतिक और प्रशासी तथा दूसरी ओर वित्तीय और आर्थिक। यद्यपि हमारी प्रथम रुचि उत्तरोक्त (latter) पक्ष में है, किन्तु दोनों का परस्पर सम्बन्ध इतना है कि हम राजनैतिक पक्ष की भी पूर्णतया उपेक्षा नहीं कर सकते।

हमने देखा है कि जिस समय संसद् ने राष्ट्रीय पैमाने पर सार्वजनिक सामाजिक सेवाओं का विकास प्रारम्भ किया, उस समय स्थानीय समाज अपनी सुविधा के लिए कुछ शासन-कार्य पहले से ही कर रहे थे। इस प्रकार संसद् नई सेवाओं का प्रशासन स्थानीय नियन्त्रण में देकर न्यूनतम विरोध का मार्ग अपना रही थी, किन्तु उस समय की, एक ओर संचार व परिवहन की अवस्था और दूसरी ओर प्रशासा प्रविधि की पुरातन स्थिति के कारण वह बहुत कुछ अपरिहार्य ही था।

---

१. देखिए H. J. Bittermann, State and Federal Grants in Aid; Hansen and Perloff, State and Local Finance in the National Economy; Report of the Royal Commission on Dominion-Provincial Relations (Canada); the Australian Grants Commission की रिपोर्टें भी इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उद्बोधक हैं।

किन्तु परम्परा से स्थानीय प्रशासन का औचित्य प्रावैधिक सुविधा-मात्र से कहीं गहरा है। जो सेवाएँ नागरिक के व्यक्तित्व और परिवार से सम्बन्ध रखती हैं उनके लिए प्रशासन को स्पष्टतया स्थानीय जानकारी व समझ होनी चाहिए। यह सार्वजनिक सहायता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रशासन के लिए विशेष रूप से वाँछनीय माना गया। शिक्षा और गृह-व्यवस्था जैसी अन्य सेवाओं के लिए, यदि नागरिकों को उनके पैसे का पूरा मूल्य मिलना है तो यह उतना ही आवश्यक है कि सम्बन्धित अधिकारी स्थानीय औद्योगिक और तलरूप-अवस्थाओं (Topographical Conditions) से परिचित रहें।

किन्तु स्थानीय प्रशासन का अर्थ अनिवार्य रूप से, कार्यकारी अधिकारियों पर स्थानीय नियन्त्रण नहीं है। आधुनिक संचार (Communications) और प्रशासी यन्त्र (Administrative Machine) के विकास से यह सम्भव हो गया है—कम से कम ब्रिटेन जैसे छोटे देश में तो अवश्य—कि एक विकेन्द्रित राष्ट्रीय प्रशासन वैयक्तिक व स्थानीय आवश्यकताओं की ओर उतना ही ध्यान दे सके जितना कोई स्थानीय रूप से नियन्त्रित प्रशासन दे सकता है। अन्तर्युद्ध काल में सहायता बोर्ड की सफलता द्वारा यह अन्तिम रूप से सिद्ध हो गया। इस अनुभव ने उस तर्क को कि ब्रिटेन में सामाजिक सेवाओं पर स्थानीय नियन्त्रण चाहिए, जड़ से हिला दिया है। सच में, ऐसा सोचने के लिए निगम्य पक्ष है कि किसी केन्द्रीय विभाग की स्थानीय शाखाएँ अर्द्धस्वतन्त्र स्थानीय प्राधिकारियों की अपेक्षा समान रूप से अच्छी सेवाएँ उपलब्ध कराने में अधिक सफल होंगी।

दूसरी ओर यह युक्ति दी जाती है कि देहात में शहरों के विकास से और उसके कारण एक स्थान पर रहते हुए दूसरे स्थान पर कार्य करने की बढ़ती हुई आदत से जब किसी सम्बद्ध अर्थ में "समाज" (Communities) संविहित स्थानीय प्राधिकारियों के अधीन नहीं रहे। एक ओर तो पड़ोस (neighbourhoods) अब शारीरिक और मानसिक रूप में अभिन्न नहीं रहे, दूसरी ओर स्थानीय प्राधिकारियों के परम्परागत अधिकार-क्षेत्र आधुनिक जीवन के लिए बहुत संकीर्ण हो गए हैं।

इन धारणाओं में पर्याप्त तथ्य है और इसमें आश्चर्य नहीं कि इनका परिणाम दोहरा हो रहा है—केन्द्रीय कार्यों का वास्तविक विकास और स्थानीय प्राधिकारियों के बड़ी "प्रादेशिक" इकाइयों में समूह बनाए जाने (grouping) की माँग। आगे, शुद्ध आर्थिक आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक गतिविधि का एक उच्च स्तर सफलतापूर्वक बनाए रखने के लिए दो उपाय हैं। या तो राष्ट्रीय शासन (प्रत्यक्ष अथवा सार्वजनिक निगमों के द्वारा) नियोजन के पर्याप्त प्रकार—उदाहरणार्थ गृह-व्यवस्था और राजमार्ग हाथ में ले, और या स्थानीय नियोजन के समय-क्रम का व गहनता का नियन्त्रण करने के लिए जितने साधन उसके पास अन्तर्युद्ध काल में थे उससे कहीं अधिक चाहिएँ। अतः यह अपरिहार्य है कि अर्थ-व्यवस्था में स्थानीय नियोजन का जो स्थान रहा है उस में परिवर्त्तन आए।

अतः ब्रिटेन में स्थानीय स्वाधीनता को कई ओर से भय है। यह भय अधिक चिन्ता का विषय इसलिए है कि इसे देश के प्रगतिशील तत्त्वों का—शिक्षणविज्ञों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और उन सब लोगों का जो निपुणता को बहुत महत्त्व देते हैं, समर्थन प्राप्त है। तथापि स्वायत्त स्थानीय शासन के पक्ष में एक मौलिक तर्क रहता है जिसका महत्त्व निपुणता से कम नहीं है। और भी वह तर्क ऐसा है जिसे इतिहास की धारा कमजोर करने की बजाय बल दे रही है।

स्थानीय स्वायत्तता के संरक्षण के पक्ष में और इसलिए, परम्परागत ब्रिटिश स्थानीय शासन के ढाँचे के पक्ष में विश्वासोत्पादक युक्ति आज लगभग पूर्णतया राजनैतिक ही है। अभी के इतिहास का यह बलपूर्वक कथन है कि स्थानीय उपक्रमण (initiative) की शक्ति सफल और स्थायी प्रजातन्त्र की पहली शर्त है। इसका कारण यह है कि सजीव स्थानीय शासन, नागरिक और कार्यपालिका के मध्य में सक्रिय सम्बन्ध का पक्का प्रबन्ध होता है। राजनैतिक रचना की जटिलता वास्तव में एक अच्छाई है क्योंकि वह शासकों और शासितों के संपर्क को बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त संपर्क को नष्ट करने के परिणाम की भीषणता १९४० में फ्रांस में दुःखदायक ढंग से प्रकट हुई।

उस संपर्क की परछाई तक न रहे यह प्राधिकारवादी (authoritarian) राज्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

वास्तव में एक-एक नागरिक में राजनैतिक उत्तरदायित्व की भावना ही जनतन्त्र की आत्मा है। यह सत्य है कि लोकतांत्रिक गुण कई प्रकार के मेल-जोल से बढ़ाए जा सकते हैं—जो सामाजिक और व्यावसायिक दोनों ढंग का हो सकता है (श्रमिक संघों और दैनिक कार्यों से सम्बन्धित संस्थाओं तक) किन्तु स्थानीय समाजों का ऐसी संस्थाओं के रूप में संगठन जो राजनैतिक हों, इस अर्थ में कि अंशतः स्वायत्त हों, राजनैतिक उत्तरदायित्व की भावना बढ़ाने का विशेष गुण रखता है। स्थानीय स्वायत्तता केवल उन लोगों के लिए ही प्रशिक्षण का स्थान नहीं है जो शासन में भाग लेना चाहते हैं बल्कि कहीं एक बड़ क्षेत्र के लिए है।

स्थानीय स्वायत्तता के पक्ष में राजनैतिक युक्ति इतनी प्रबल है कि निपुणता की कुछ कमी का भय मोल लेकर भी उसे कुछ पहल देना उचित है। किन्तु यह सावधानी से विचार करना आवश्यक है कि वास्तव में युक्ति किस प्रकार की स्वायत्तता से सम्बन्ध रखती है। मूलतः वह स्थानीय समुदायों की स्वाधीनता के लिए है, अर्थात् ऐसे समूहों के लिए जिनमें साँझे स्थानीय उद्देश्यों और हितों की भावना हो। स्पष्ट है कि ब्रिटेन में ऐसे समूह केवल उसी पैमाने पर विद्यमान हैं जिसका प्रशासी रूप शहरी समाजों में ही होता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वह केवल उन ८३ प्रमुख नगरों में ही हो जिन्हें आज "काउँटी नगरों" के अधिकार प्राप्त हैं। अतः स्थानीय स्वायत्तता की राजनैतिक युक्ति कम से कम इंगलैण्ड में तो मूलतः नगर-शासन की स्वाधीनता की युक्ति है। जिन क्षेत्रों में प्रशासी सुविधा वाले कोई आत्म-चेतन (self-conscious) समूह विद्यमान नहीं हैं,[1] वहाँ राष्ट्रीय या प्रादेशिक

१. संतोषजनक स्थानीय इकाई का आकार जनसंख्या की गहनता और प्रकार के अनुसार देश-देश में पर्याप्त भिन्न होता है। स्कॉटलैण्ड में इङ्गलैण्ड की अपेक्षा देहाती क्षेत्रों में सामाजिक जीवन अधिक प्रबल मालूम होता है, और वहाँ का औसत (typical) नगर (borough) इंगलैण्ड के नगर से बहुत छोटा है। यह बिल्कुल संभव है कि स्कॉटलैण्ड में—

नियन्त्रण से प्राप्त होने वाली अधिक निपुणता की भारी संभावना की तुलना में स्थानीय स्वाधीनता की युक्ति दुर्बल होती है।

४. राष्ट्रीय 'स्टैण्डर्ड' और स्थानीय असमानताएँ (National Standards and Local Inequalities)—अतः स्थानीय शासन में एक मौलिक दुविधा (dilemma) है—स्वायत्तता के राजनैतिक लाभों को, बड़ी प्रशासी इकाइयों की मितव्ययिताओं और सामाजिक सेवाओं के समान स्तरों से होने वाले सामाजिक लाभों के साथ तोलना। यह दुविधा और जितनी उलझनें इस से उत्पन्न होती है केवल ब्रिटेन की समस्या नहीं है। यह हर उस देश में उठती है और आश्चर्यजनक सादृश्य सहित उठती है—जो[1] पूर्ण केन्द्रीकरण कर के प्रश्न को जड़ से ही नहीं उखाड़ देते; बड़े संघराज्यों में यह विशेष रूप से असाध्य होती है क्योंकि तब यह दोहरे स्तर पर होती है—संघ राज्य के अथवा प्रान्त के स्तर पर और नगर के अथवा स्थानीय स्तर पर भी। जो देश उच्च रोजगार (high employment) की एक व्यवस्थित नीति पर चलना चाहता है उसमें तो इस समस्या का हल विशेष महत्त्व रखता है

जो कारण हल को सब से अधिक उलझा देता है वह है स्थानीय धन और आवश्यकताओं में विभेद। ब्रिटेन अथवा संयुक्त राज्य जैसे किसी उन्नत और सुशिक्षित देश में ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं कि एक नगर स्थानीय परिषद् के लिए उतने योग्य नागरिक नहीं निर्माण कर सकता जितने कोई दूसरा कर सकता है (यह स्मरण रखते हुए कि हमारा सम्बन्ध एक न्यूनतम

या फ्रांस में ही जो कई दृष्टियों से उसके सदृश है—छोटे देहाती क्षेत्रों में स्वतन्त्र प्रशासन अच्छी प्रकार चल सकेगा। संयुक्त राज्य में ३५,००० से ५०,००० की जनसंख्या की इकाई अधिक अच्छी मानी जाती है (देखिए Hansen and Perloff उ० ग्र०); अंग्रेजी स्टैण्डर्ड से यह कुछ कम है। देखिए स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा स्थानीय शासन सीमा आयोग को स्वतन्त्र अधिकारों के लिए सिफारिश किया गया निम्नतम।

१. देखिए एक "Conference on Problems of Reconstruction between the Birmingham Reconstruction Committee and Representatives of some cities of the Allied Nations," की रिपोर्ट, बर्मिंघम, अप्रैल, १९४४।

आकार के शहरी समाजों से है); अथवा यह कि *समान वित्तीय अवसर होने पर* सभी स्थानीय प्राधिकारियों को समान प्रशासी (administrative) और कार्यकारी (executive) योग्यता उपलब्ध नहीं होगी। योग्यता और रुचियों में गौण अन्तर सदा अपेक्षित होते हैं और उनसे कुछ बिगड़ता नहीं। (उदाहरणार्थ, मानचेस्टर को अपनी शिक्षा नीति में विशेष रुचि है और बर्मिंघम को अपने सार्वजनिक स्वास्थ्य में। यह बधाई का विषय है न कि निरुत्साहित करने योग्य, जब तक अन्य सेवाओं की हानि नहीं होती।) इस प्रकार के गौण अन्तरों का विशिष्ट नागरिकों के हितों के विरुद्ध कोई व्यवस्थित अथवा स्थायी झुकाव होने का कोई कारण नहीं।

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि वित्तीय अवसर स्वाभाविक रूप से समान नहीं होता। स्थानीय समाजों में धन की दृष्टि से परस्पर भयंकर अन्तर होता है। वह अन्तर ठीक कितना विस्तृत है यह निश्चित करना सुगम नहीं है। जब समाजों के अन्त:सम्बन्ध हों और कई नागरिकों के पास प्रभावी दोहरी स्थानीय नागरिकता हो तो स्थानीय आयों को मापने का कोई पूर्णतया संतोषजनक उपाय नहीं होता। संयुक्त राज्य में आय-संवितरण (disbursements) के आंकड़ों से प्रादेशिक अन्तरों को स्थूल रूप से मापा जा सकता है। १९३८-४० में प्रति व्यक्ति आय मिसिसिपि में १९९ डालर से लेकर न्यूयार्क राज्य में ८५३ डालर तक गई हुई थी। ब्रिटेन में यदि दरों के लिए मूल्यांकन सारे देश में एक समान आधार पर किया जाए तो प्रति व्यक्ति दर योग्य मूल्य सापेक्ष सम्पत्ति का एक बहुत उपयुक्त संकेतक बन सकता है किन्तु वर्त्तमान मूल्यांकन पद्धति के अन्तर्गत, जो अन्तर हैं उनके साथ पूरा न्याय नहीं होगा।[1] धन और आवश्यकताओं के बीच के विभेद की कुछ कल्पना प्रति व्यक्ति दरों की तुलना से की जा सकती है, यह गणना अनुदानों के समकारी प्रभाव (equalizing effects) के लिए अवकाश रखती है। जैसे १९३८ में बराबर प्रति व्यक्ति व्यय के लिए मानचेस्टर में १६ शि० और १७ शि० प्रति पौंड

१. देखिए Hicks (J. R. and U. K.) and C. E. V. Leser, The Problem of Valuation for Rating. भाग २, अध्याय २, अनुभाग १.

दर की आवश्यकता थी जबकि ईस्टबोर्न में केवल ९ शि० की।[1]

ये स्थूल आँकड़े समस्या की जटिलता की ओर संकेत भर करते हैं। स्थानीय समृद्धि में अन्तर कुछ तो समूचे प्रदेशों के इकट्ठे सम्पन्न अथवा निर्धन होने के साथ आता है या तेजियों और मन्दियों के कारण हुई कम अधिक हानि के साथ। अंशतः वह विशिष्ट भारों के ह्रास अथवा उत्थान से उत्पन्न होता है जो प्रवृत्ति सारे प्रदेश की प्रवृत्ति के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है। समस्या का एक विशेष कठिन रूप है नगरों के ठीक बीच के बहुत निर्मित क्षेत्रों का अधिक आधुनिक व आकर्षक उपनगरों की तुलना में ह्रास। जब नगर-सीमाएँ उपनगरों के विकास को शामिल करने के लिए सुविधापूर्वक फैलाई नहीं जा सकतीं, तो एक अन्यथा समृद्ध नगर का भी वित्तीय दृष्टि से उतार प्रारम्भ हो सकता है। इन सब स्थितियों में निर्णायक बात यह है कि धन और आवश्यकताओं में प्रतीप (उलटा) सम्बन्ध होता है, इसलिए एक दिए हुए स्तर की सेवाओं के लिए धन जुटाने के वास्ते एक निर्धन नगर में एक समृद्ध नगर की अपेक्षा प्रतिव्यक्ति न केवल अधिक व्यय आवश्यक होता है बल्कि, यदि सेवाओं के लिए वित्त का प्रबन्ध स्थानीय साधनों से हा करना हो तो कर का दर भी आनुपातिक से बहुत अधिक ऊँचा रखना होगा।

अतः स्थानीय शासन की दुविधा का हल इतने मात्र से नहीं हो सकता कि राष्ट्रीय शासन स्थानीय शासनों को इतना धन दे दे जिससे वे अपने कार्य में सन्तोषजनक औसत स्तर प्राप्त कर सकें किन्तु इतना न दे जो उनके उपक्रमण को समाप्त कर दे (अर्थात् उन्हें अपने साधनों के सब से अधिक उपयोगी इस्तेमाल के लिए कोई उद्दीपक न देकर)। प्रश्न इससे कहीं अधिक जटिल है। उसके हल के लिए दो वस्तुओं का मेल आवश्यक है एक ध्यानपूर्वक समायोजित भिन्नक अनुदान प्रणाली और दूसरी स्थानीय कर प्रणाली जो अनुदानों का कार्य न्यूनतम कर देती है।

---

१. Hicks (J. R. and U. K.) Standards of Local Expenditure.

५. अच्छे स्थानीय कर की विशेषता (The Characteristics of a Good Local Tax)—अच्छे स्थानीय कर के गुणों के विषय की ओर राष्ट्रीय कर की अपेक्षा बहुत कम ध्यान दिया गया है, किन्तु थोड़ा विचार करने से भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों कदापि सदृश नहीं हैं। यह तो वांछनीय है ही कि किसी अन्य कर की तरह स्थानीय कर भी सुविधापूर्ण और सुनिश्चित हो, एक जैसी अवस्था के व्यक्तियों में न्याय करे और संग्रह में मितव्ययी हो। (यह अन्तिम विशेष आवश्यक है क्योंकि जितना निपुण प्रशासन राष्ट्रीय शासन को उपलब्ध होता है उसका प्रबन्ध छोटे प्राधिकारियों के सामर्थ्य में नहीं होता।) परन्तु अर्थ-व्यवस्था में स्थानीय वित्त का स्थान कई दृष्टियों से केन्द्रीय वित्त से भिन्न होता है और इस बात का, किस प्रकार का कर चाहिए इस पर भी प्रभाव पड़ता है।

जैसे राष्ट्रीय व छोटे (subordinate) शासनों के अन्तिम कर अधिकारों में मौलिक अन्तर अनिवार्य है, उसी तरह उसके अनुरूप लगभग उतना ही अनिवार्य अन्तर उनकी ऋण शक्तियों में भी है। राष्ट्रीय शासन कितना ऋण ले सकता है इसकी प्रायः कोई सीमा ही नहीं है जब तक वह नागरिकों का विश्वास नहीं खो बैठता। दूसरी ओर, छोटे शासनों का उधार लेना अनिश्चित सीमा तक बढ़ने नहीं दिया जा सकता। यह संभावना की सीमाओं के बाहिर नहीं है कि जो छोटा शासन असीम ऋण ले सकता है वह राष्ट्रीय शासन की नीति की अवज्ञा कर सके और राष्ट्र का विघटन तक कर दे।[1] उससे कम नाजुक परिस्थिति में भी यह बहुत अवाँछनीय है कि एक छोटा शासन ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले जिसमें उसके औचित्य से बढ़ जाने का भय हो (जो कि ऋण-शक्ति असीम होने पर निस्सन्देह हो सकता है)। एकात्मक शासन में स्थानीय की ओर से यह भय सहन नहीं किया जा सकता (परिणाम-स्वरूप ब्रिटेन में स्थानीय ऋण पर केन्द्रीय शासन के किसी विभाग का सदा पर्याप्त कठोर अंकुश रहा है, तब भी जब ऋण किसी व्यापारी सेवा के

---

१. देखिए विशेष रूप से अमरीकी गृहयुद्ध में प्रसंधानित राज्यों का व्यवहार।

उपकरणों के लिए धन जुटाने के वास्ते था)। किसी संघ राज्य में भी एक सदस्य की अवहेलना के कारण शासन का आधार ही हिल जाए यह संभव है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रादेशिक शासनों को न्यूनाधिक रूप में निजी उद्यम के लिए उपयुक्त "सुस्थित वित्त" (sound finance) का पालन करना चाहिए (जिसका संयोगवश ध्वनितार्थ यह है कि यदि सम्पूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र में आर्थिक नीति की दृष्टि से घाटा आवश्यक है तो उसका उत्तरदायित्व राष्ट्रीय शासन को ही निभाना होगा)। इसलिए स्थानीय कर के लिए पहली आवश्यकता यह है कि वह छोटे शासनों को अपना वित्त सम गति वाला बनाने में सहायता दे—अर्थात् कर ऐसा हो जिसकी प्राप्ति अच्छे और बुरे सब दिनों में पर्याप्त स्थिर रहे। इस सिद्धान्त की उपेक्षा ने १९३० की मन्दी में प्रथम श्रेणी के अमरीकी नगरों की सेवाओं को भी विराम अवस्था में पहुँचा दिया।

स्थानीय कर का दूसरा वाँछित गुण यह है कि उसका आधार करारोपण करने वाले प्राधिकारी के अधिकार-क्षेत्र में ही स्थित हो, तभी स्थानीय प्राधिकारियों को प्रभावी स्वायत्तता (effective autonomy) प्राप्त हो सकती है, क्योंकि तभी उनका अपने बजटों पर प्रभावी नियन्त्रण हो सकता है। (यह पाठकों के ध्यान में आएगा कि वर्तमान परिस्थिति में आय कर यह शर्त पूरी नहीं कर पाता।) किन्तु आधार का स्थानीयकरण (localisation of base) एक नई कठिनाई खड़ी कर देता है। धन और आवश्यकताओं में अन्तर होने के कारण इसका वास्तविक भय है कि जो स्थानीय प्राधिकारी अपने कर के दर को असामान्य रूप से ऊँचा हो जाने देगा वह करदाताओं को अपने क्षेत्र से बाहिर भगा देगा। इस प्रकार उनका निकलना सम्बन्धित प्राधिकारी को संचयी कठिनाइयों में फंसा देगा। उसके उपरि व्यय कठोरतापूर्वक स्थिर होते हैं, और चालू व्यय में कमी के लिए संभावना अत्यन्त सीमित होती है। यह कठिनाई विशेष रूप से उग्र होती है जब स्थानीय अधिकार-क्षेत्र छोटे हों क्योंकि छोटे क्षेत्रों में धन औसत करने का अवसर कम होता है और लोगों के जाने का अवसर बहुत। इस कठिनाई से दो महत्त्वपूर्ण विचार प्राप्त होते हैं।

ऐसा स्थानीय कर होना अत्यन्त वाँछनीय है जो धन की स्थानीय असमानताओं को बढ़ाता न हो। यह ध्यान में आएगा कि इससे ब्रिटिश ढंग के आय कर स्थानीय उपयोग के लिए उचित सिद्ध होते है। निर्धन प्राधिकारी कभी भी अपना निर्वाह न कर सकते यदि उन्हें अपना लगभग संपूर्ण राजस्व उन्हीं गिने-चुने साधारणतया धनी व्यक्तियों से लेना पड़ता जिनकी उनके क्षेत्रों में रहने की संभावना होती। आगे, अधिक लोगों के अन्यत्र चले जाने के भय का ध्वनितार्थ यह है कि आय के सम्बन्ध से एक उच्चतम सीमा है जिसके ऊपर मूलतः एक क्षेत्र और दूसरे क्षेत्र में कर के सापेक्ष दरों का ही प्रश्न रह जाता है, जितना ऊँचा स्थानीय करारोपण का सामान्य स्तर होगा उतने ही स्थानीय कर-दायित्व में अधिक अन्तर होंगे। इन दृष्टियों से, ऐसा कर जो आनुपातिक है या थोड़ा बहुत प्रतिगामी भी, वह स्थानीय उद्देश्यों के लिए एक क्रमवर्द्धमान कर से अधिक उपयुक्त है, और वितरणात्मक आधार पर उसे अस्वीकार्य नहीं समझना चाहिए जब तक श्रमिक वर्ग की आय के विचार से दायित्व औचित्य की सीमा के अन्दर ही हैं।

अन्त में यदि स्थानीय कर स्थानीय उपयोग के लिए सुरक्षित रखा जा सके तो कम से कम कहना हो तो भी, यह तो मानना पड़ेगा कि अत्यन्त सुविधा होगी। मूलतः इसका उद्देश्य स्थानीय स्वायत्तता को पक्का करना हैं; किन्तु दूसरे कारणों से भी राष्ट्रीय और प्रादेशिक शासकों में दोहरे कर-अधिकारों से बचना बहुत वाँछनीय है। जब राजस्व की आवश्यकताएँ असाधारण हों तो मुख्य शासन प्रादेशिक प्राधिकारियों के हितों का अवश्यमेव लंघन कर जाता है। इससे बहुत संघर्षण होता है, और स्थानीय बजटों में गड़बड़ भी। कैनेडा और आस्ट्रेलिया दोनों में १९३९ और १९४५ के मध्य में इसी कारण बहुत मनोमालिन्य पैदा हुआ।

जब कर के दरों में अन्तर-स्थानीय अन्तर बहुत हों, तो दोहरे (overlapping) अधिकार वास्तव में कुछ क्षेत्रों में कर दरों को व्यवहार्य सीमा से भी अधिक बढ़ा कर राष्ट्रीय शासन की कर्त्तव्य-पूर्त्ति के मार्ग में बाधा खड़ी कर सकते हैं (उदाहरणार्थ, १०० प्रतिशत से अधिक के आय कर निर्माण

कर के)। एक ही आय अथवा पदार्थ के दोहरे—बल्कि तेहरे—करारोपण का एक बड़ा कारण करों का स्पर्द्धात्मक उपभोग (competitive exploitation) भी हो सकता है। अन्त में स्पर्द्धात्मक उपयोग की महत्त्वपूर्ण वितरणात्मक हानि यह होती है कि यह केन्द्रीय शासन के लिए कर-रचना की क्रमवृद्धि के दर को नियमबद्ध करना असंभव बना देता है।

किसी एकात्मक देश में यह सदैव संभव होना चाहिए कि स्थानीय करों को स्थानीय उपयोग के लिए सुरक्षित कर दिया जाए और फिर भी स्थानीय प्राधिकारियों का राजस्व पर इतना नियन्त्रण बना रहे कि उसकी स्वायत्तता पर आँच न आए। संघ राज्य में कुछ दोहरापन अपरिहार्य हो सकता है यदि प्रादेशिक शासनों ने अपने कानूनी कर्त्तव्यों की व्यवस्था करनी है, किन्तु उसका विस्तृत होना आवश्यक नहीं है।

६. ब्रिटिश स्थानीय दर पर प्रयुक्ति (The Application to the British Local Rate)—एक अच्छे स्थानीय कर के गुण विदित होने के बाद, हमें इसका परीक्षण करना है कि जो कर स्थानीय कार्यों के लिए सब से अधिक काम में लिये जाते हैं वे अपने कर्त्तव्य के लिए कहाँ तक उपयुक्त है, विशेष रूप से ब्रिटिश स्थानीय दर और उसका विदेशी प्रतिरूप स्थावर संपत्ति पर लगा स्थानीय संपत्ति कर। सिद्धान्त रूप में यह देखा जाएगा कि भूमि और भवनों के कर (जो शेष सब स्थानीय करों में सब से अधिक सामान्य है) की स्तुति में बहुत कुछ कहा जा सकता हैं। कर आधार असंदिग्ध रूप में स्थान सीमित (localized) होता है और प्राप्ति प्रायः अत्यन्त स्थिर होती है। राजस्व की स्थिरता निश्चय ही आंशिक रूप में इस कारण होती है कि मूल्यांकन कड़ाई के साथ संपत्ति में परिवर्तनों के अनुसार समायोजित नहीं होते; किन्तु मूलत: वह इस कारण होता है कि स्थावर संपदा बहुत "अतरल" (illiquid) प्रकार की संपत्ति है, उसकी "परिचालन की गति" अन्य प्रकार की संपत्ति के सामने कुख्याति की सीमा तक धीमी होती है, इसलिए उसका मूल्य

बहुत कम अस्थिर होता है।[१]

दूसरा, भूमि और भवन अन्य जो वस्तुएँ कर लगाने की दृष्टि से उपलब्ध हैं उनकी अपेक्षा उपभोग में बहुत अधिक "महत्त्वपूर्ण" स्थान रखते हैं, जिस कारण इन से एक निश्चित राजस्व किसी और व्यय कर की बजाय कम प्रति व्यक्ति दर से प्राप्त किया जा सकता है।[२] अतः छोटे शासन इस साधन के द्वारा बहुत स्वतंत्र राजस्व शिखर (ऊपर की सीमा) के साथ टकराने के भय के बिना भी प्राप्त कर सकते हैं।[३] अन्त में भूमि और भवनों का कर ऐसा है जिस पर छापा मारने के प्रलोभन से बचना राष्ट्रीय शासन के लिए सुगम होना चाहिए; आपातों (emergencies) में इसकी स्थिर (और परिणामत. बढ़ाने में कठिन) प्राप्ति विशेष उपयोग की नहीं होती; सामान्य अवस्था में समान आपात वाले कर स्रोतों की कोई कमी नहीं। ब्रिटेन में स्थानीय दर को सदा स्थानीय प्राधिकारियों के लिए छोड़ दिया गया है;[४] संयुक्त राज्य में हाल ही में स्थानीय संपत्ति कर को नगरों और स्थानीय प्राधिकारियों के पास रहने देने की एक बहुत स्पष्ट प्रवृत्ति रही है, अतः दोहरे अधिकार-क्षेत्रों और स्पर्द्धात्मक उपयोग की समस्या अब प्रायः संघ राज्य स्तर पर ही रह गई है।[५]

---

१. प्राप्ति की यह स्थिरता अन्यत्र की अपेक्षा संयुक्त राज्य में बहुत कम अनुभव की जाती दिखाई देती है। भूतकाल में अमरीकी स्थानीय संपत्ति कर का राजस्व आर्थिक गतिविधि के स्तर के साथ बहुत अधिक घटता-बढ़ता रहा है। यह मुख्यतः मंदी में (शायद असंतोषजनक ऋण सुविधाओं के कारण) संपत्ति के स्वामियों के अशोधनों (defaults) के परिणामस्वरूप था ऐसा दीखता है; भूमि-बिक्री के अपेक्षाकृत बड़े परिमाण और इस कारण मूल्य में अधिक उतार-चढ़ाव के प्रभाव से भी हो सकता है। कई दृष्टियों से वह आज भी एक नया देश ही है।

२. देखिए विश्लेषण, अध्याय १०।

३. यह हानि भी ब्रिटेन की अपेक्षा संयुक्त राज्य में कम पूर्णता के साथ अनुभव की जाती दिखाई देती है। कारण शायद अमरीकी कर आधार का मुक्तियों से खोखला हो जाना है, देखिए अगला पृष्ठ। कुछ राज्यों में भी संपत्ति कर के लिए एक नीचा शिखर (ऊपर की सीमा) जानबूझ कर संविधान में लिख दिया गया।

४. सत्रहवीं सदी का भूमि कर मूलतः एक आय कर ही था, देखिए अध्याय ८।

५. देखिए, संयुक्त राज्य की कर-रचना का विवरण, अध्याय ५ व उसके आगे।

इन स्पष्ट गुणों के होने पर भी स्थानीय संपत्ति कर की बहुत आलोचना और विरोध होना सामान्य अनुभव की वस्तु है, विशेषकर उन देशों में जो इस पर पर्याप्त भार डालते हैं। यद्यपि ब्रिटिश स्थानीय दर पर भार अनुचित नहीं है,[1] यह भी इस आलोचना से मुक्त नहीं है इसलिए हमें उसके कारण और औचित्य की जाँच करनी होगी।

स्थावर संपत्ति करों के विरुद्ध एक स्पष्ट आपत्ति तो कर योग्य संपत्ति के लिए पुराने और अनुपयुक्त मूल्यांकनों का उपयोग है, जो व्यवहार में सामान्यतया दिखाई देता है। यह आंशिक रूप गौण शासनों के सीमित वित्तीय साधनों के कारण होता है, विशेषतया जहाँ अधिकार-क्षेत्र छोटे हों। सिद्धान्त रूप में तो कर "घाटे का" (uneconomical) नहीं होता, किन्तु आधार का ठीक निर्णय कुछ कठिन और मँहगा होता है। मूल्यांकन निपुणता से होने वाला काम है और नए सिरे से सारा पुनर्मूल्यांकन पर्याप्त समय के लिए अच्छा मँहगा कर्मचारी वर्ग लगाए बिना नहीं हो सकता। इस कारण मूल्यांकनों में लापरवाही से करने अथवा उन्हें स्थगित करने की प्रवृत्ति रहती है जब तक कालांतर में वे एक दूसरे से तथा तथ्यों से दूर हट कर बेमेल हो जाते हैं।

इस कठिनाई का संभवतः सर्वोत्तम उपचार *मूल्यांकन* (किन्तु स्पष्टतया निर्धारण अथवा संग्रह नहीं) का कर्त्तव्य एक केन्द्रीय निकाय को सौंप दिया जाए जिसका व्यय राष्ट्रीय राजकोष पर रहे।[2] इससे मूल्यांकन पद्धति में एक-रूपता रहेगी और इस प्रकार कर का साम्य काफ़ी बढ़ेगा। यही नहीं इससे स्वयमेव (स्थानीय वित्त के फन्दों के ऊपर से एक ऐसा खर्च हटने से जो छोटे जिलों में विशेषकर भारी होता है) स्थानीय वित्तीय स्वायत्तता किसी प्रकार भी कम किए बिना अन्तःस्थानीय वित्तीय अवसरों के बराबर होते जाने की प्रवृत्ति रहेगी।

गतकाल-मूल्यांकन (out of date valuations) स्थानीय संपत्ति कर में

---

१. देखिए, यथारूप आपात के प्राक्कलन, अध्याय १६ व उसके आगे।

२. ब्रिटेन में यह स्थानीय शासन अधिनियम १९४८ के द्वारा हुआ।

असाम्य का एक बड़ा कारण तो है, किन्तु एकमात्र कारण नहीं है। संयुक्त राज्य में निरंकुशता (arbitrariness) संपत्ति और अमूर्तों (intangibles) तक को कर में सम्मिलित करने के (भिन्नतायुक्त) प्रयत्नों से उत्पन्न होती है। ब्रिटिश स्थानीय दर भी भूतकाल में ऐसे ही कष्टों में से निकल चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कर को स्थावर संपत्ति तक सीमित रखना अच्छा है जिसे अपेक्षाकृत सरल प्रशासी यंत्र द्वारा साम्यपूर्वक करारोपित किया जा सकता है; सच तो यह है कि स्थानीय उद्देश्यों के लिए कर के लिए जो लाभ हैं उनमें से इस का क्षेत्र इस प्रकार सीमित होने पर निर्भर है। एक इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कष्ट (जिसका पुनः संयुक्त राज्य में दृष्टान्त मिलता है) कर से मुक्तियों का गुणन (multiplication of exemptions) है जो कुछ तो वोटों को दृष्टि में रख कर होता है और कुछ गुप्त साहाय्य (concealed subsidy) (उदाहरणार्थ गृह-स्वामियों को) के रूप में। इसका परिणाम होता है, जो मुक्ति का दावा नहीं कर सकते हैं उनके विरुद्ध कर के दर का बढ़ जाना और इस प्रकार (अन्तर्व्यक्तिगत असाम्य के अतिरिक्त) जितना राजस्व प्राप्त किया जा सकता है उसका सीमित होना तथा साथ ही साथ उसका कम स्थिर रह जाना।

यद्यपि ब्रिटिश स्थानीय दर मुक्तियों के जाल में फँसा हुआ नहीं है तो भी उसका विभिन्न प्रकार की संपत्ति पर वर्त्तमान आपात अनावश्यक रूप से निरंकुश है। १९२९ से कृषि-भूमि और भवनों को मुक्ति दी गई है जो खुले साहाय्य के रूप में देना अधिक अच्छा होता; आंशिक रूप से कम दरों वाले उद्योग की तुलना में दुकानें और कार्यालय भार से दबे हुए हैं, सम्राट् संपत्ति (crown property) और सार्वजनिक उपयोगिताओं के मूल्य आँकने के तरीके अनिश्चित और निरंकुश हैं। इन विषमताओं से अधिक चिन्तनीय (क्योंकि दर राजस्व का ६० प्रतिशत के लगभग उनसे प्राप्त होता है) स्थिति निवास-गृहों के मूल्यांकन से सम्बन्ध रखती है। यद्यपि मूल्यांकन मुक्त बाजार के किरायों पर ठीक प्रकार से आधारित थे, जैसा कि कानून की दृष्टि से आवश्यक था, क्योंकि नियमित पुनर्मूल्यांकन का कोई प्रबन्ध नहीं था इसलिए प्रथम

महायुद्ध के प्रारम्भ होते-होते बड़े-बड़े गम्भीर अन्तर उत्पन्न हो चुके थे जो मूल्यांकन की तिथि पर निर्भर थे। इन अन्तरों का तब प्रथम विश्वयुद्ध के किराया नियन्त्रण द्वारा जड़ीकरण कर दिया गया। जब (१९२५ में) नियमित पंचवार्षिक पुनर्मूल्यांकन का प्रबन्ध किया गया तो स्थिति इस कारण और भी उलझ चुकी थी कि मूल्यांकन करने वाले नए मकानों का मूल्य समान आकार के मकानों के नियन्त्रित किरायों को सादृश्य से लगाने की प्रवृत्ति रखते थे बजाय उस समय के (और स्पष्टतया पर्याप्त अधिक) किरायों के बाजार-दर की खोज करने के। इसके अतिरिक्त क्योंकि समान स्थान (accommodation) के स्तर वाले पुराने मकानों की अपेक्षा नए मकानों के छोटे होने की प्रवृत्ति थी इसलिए इस आचार ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिस में पुराने मकानों की अपेक्षा नयों का सामान्यतया अधोमूल्यन (undervaluation) ही हुआ था। इससे यह सम्भावना भी खड़ी हो गई कि कुछ क्षेत्रों का समूचे रूप में ही अधोमूल्यन हो जाए यदि अन्यों की अपेक्षा उनकी सीमाओं में छोटे नए मकानों की संख्या अधिक हो। यह एक गंभीर विषय था क्योंकि १९२९ से प्रति व्यक्ति दरयोग्य मूल्य उन तत्त्वों में सम्मिलित हो गया जिन पर स्थानीय राजस्व को दिए जाने वाले सामान्य राजकोषीय अंशदान की राशि आधारित की गई।

१९३९ तक अभ्यन्तर और अन्तःस्थानीय मूल्यांकन की जो विषमताएँ जमा हो चुकी थीं उनको ठीक करने का एकमेव उपाय सम्भवतः केन्द्रीय प्राधिकारी द्वारा मूल्यांकन ही था। इसलिए जब (स्थानीय शासन अधिनियम १९४८ के द्वारा) मूल्यांकन अन्तर्देशीय राजस्व को हस्तांतरित किया गया तो सिद्धान्त रूप से यह एक सुधार ही था। किन्तु उस समय तक द्वितीय विश्वयुद्ध के संपूर्ण किराया नियन्त्रण ने एक बार फिर सापेक्ष मूल्यों का, जिस परस्पर सम्बन्ध में वे अकस्मात् पहुँच गए थे, वहीं जड़ीकरण कर दिया था। साथ ही उसने अनिश्चित काल तक उस दिन को भी स्थगित कर दिया था जब (मुक्त बाजार के किराये के) मूल्यांकन के परम्परागत आधार को लौटाया जा सकेगा। इस दलदल में से निकाल कर निवास-गृहों के मूल्यांकन

को पुन: सूखी ठोस धरती पर खड़ा करने के लिए कोई भी शासन अब तक योजना नहीं बना सका।[१] अनुदानों के सम्बन्ध में स्थिति अब और भी गंभीर है क्योंकि (जैसा हम देखेंगे) स्थानीय शासन अधिनियम १९४८ का समकरण अनुदान (equalization grants) समान मूल्यांकन पर और भी अधिक निर्भर है। स्थानीय दर के आधार का यह कटाव स्थिति का एक ऐसा चिन्ताजनक तत्त्व है जिसे स्मरण रखना होगा, फिर भी स्थानीय कर के रूप में दर के पक्ष में जो मौलिक युक्तियाँ है उन्हें यह समाप्त कर देता है यह नहीं कहा जा सकता।

विद्यमान स्थानीय स्थावर सम्पत्ति करों की प्रणाली के विरुद्ध जो आपत्तियाँ हैं उनके अतिरिक्त दो सैद्धान्तिक आपत्तियाँ भी बहुत बार उठाई जाती हैं। यह कहा जाता है कि स्थानीय प्राधिकारियों की दृष्टि से राजस्व बेलोच और कठोर होता है और करदाताओं की दृष्टि से यह आय के विरुद्ध प्रतिगामी है। प्रथम बंधन बड़े और अधिक सम्पन्न स्थानीय प्राधिकारियों को जिनके सामने पड़ोस के विकास की महत्त्वाकाँक्षापूर्ण योजनाएँ होती हैं, विशेषरूप से अनुभव होता है। हमारे विश्लेषण ने प्रकट किया है कि लोच की यह कमी अपरिहार्य है और वास्तव में कर के गुण का एक भाग है क्योंकि इसी को दूसरी ओर से देख कर स्थायित्व कहा जाता है। यदि समृद्ध नगरों को क्रम वर्द्धमान स्थानीय आय-कर का उपयोग करने की अनुज्ञा हो तो निर्विवाद है कि उन्हें लाभ होगा, किन्तु यदि वे ऐसा करेंगे तो केन्द्रीय शासन और उनके अधिक निर्धन पड़ोसियों के लिए कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलन को गड़बड़ में डाले बिना स्थानीय महत्त्वाकाँक्षाओं को निरंकुश नहीं छोड़ा जा सकता।

हमारा विश्लेषण यह भी बताता है एक स्थानीय कर में साधारण प्रतिगामिता का होना उसके लिए अवश्यमेव आपत्ति हो, ऐसा नहीं है, कुछ मात्रा में वह उसके समकारी गुणों का अनिवार्य सहचर है। सब व्यय करो में कुछ

---

१. देखिए औपचारिक भार के अनुमान, आगामी अध्याय में।

प्रतिगामिता होती है, दरों की अन्य कई व्यय करों से कम कठोर होती है ।[1] किन्तु प्रतिगामिता केवल तब तक स्वीकार्य होती है जब तक राष्ट्रीय शासन शेष कर-रचना के अधिकांश पर नियन्त्रण बनाए रखता है (जिससे क्रम वृद्धि का समस्त दर (over-all rate) समायोजित किया जा सके) और जब तक स्थानीय कर के दर साधारण हों । इसका ध्वनितार्थ यह है कि यदि गौण शासनों के लिए ऐसे कर्त्तव्य ग्रहण करना संवैधानिक दृष्टि से आवश्यक हो जो स्थावर संपत्ति कर के साधनों से परे हों तो उन्हें स्थावर संपत्ति कर में खतरे की सीमा (danger point) पहुँचने के पूर्व ही राजस्व के अन्य साधन दिए जाने चाहिएँ ।

स्थानीय कर क्षेत्र के उपयुक्त विस्तारों की पर्याप्त चर्चा करनी हो तो हम क्षेत्र में बहुत दूर निकल जाएँगे । यह मुख्यतः संघ शासन की समस्या है और इसका सर्वोत्तम समाधान स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर है जो बहुत भिन्न हो सकती हैं । एक नए देश में भूमि मूल्यों पर कर के लिए अवकाश हो सकता है । पर्याप्त स्थान-सीमित साधनों वाले अन्य कर हैं प्रमोद कर (entertainments duty) 'मोटरिंग' कर, विशेषतया यान (vehicle) 'लाइसैंस' शुल्क । इन सब में यह गुण है कि वे अधिकांश राष्ट्रीय शासनों द्वारा विशेष असुविधा के बिना ही रिक्त करवाए जा सकते हैं,[2] वे विशेष प्रतिगामी नहीं हैं और उनसे दोहरे कराधान अथवा व्यापार तथा उद्योग के मार्ग में अन्तःस्थानीय प्रशुल्क का प्रश्न खड़ा होना आवश्यक नहीं है ।

७. अनुदानों के द्वारा समकरण (Equalization through Grants)—एक सन्तोषजनक स्थानीय कर स्थानीय वित्त की दुविधा को सरल तो बहुत कर देता है किन्तु उसे पूर्णतया सुलझा कभी नहीं सकता । जब तक स्थानीय शासनों के अधिकार और कर्त्तव्य जितने राजनैतिक कारणों से वांछनीय हैं,

---

१. देखिए औपचारिक भार के अनुमान, आगामी अध्याय में ।

२. कुल राजस्व का राष्ट्रीय आय के साथ अनुपात भी सुसंगत है । जहाँ राजस्व की आवश्यकता कम होती है एक अनुपाती आय कर के, प्रादेशिक शासनों के ऊपरी तल के लिए जो स्पष्ट लाभ हैं वे इतने अधिक होते हैं कि इसकी हानियों की उपेक्षा की जा सकती है ।

उससे अधिक सीमित न करने हों,[1] बराबरी लाने की प्रक्रिया के लिए राजकोषीय अनुदान आवश्यक होंगे। स्थानीय करों के दरों के सामान्य स्तर को बहुत ऊँचा होने से रोकने की दृष्टि से भी स्थानीय साधनों को बढ़ाने के लिए उनकी आवश्यकता हो सकती है। (इसके अतिरिक्त, नई सेवाओं के विस्तार को प्रोत्साहन देने के लिए भी अनुदान देने का विचार किया जा सकता है। यह नीति अपने आप में स्तुत्य होते हुए भी जैसा हम देखेंगे—मुख्य समस्या को सुलझाने की कठिनाई बढ़ा देती है।) अतः किसी भी अनुदान प्रणाली में नीति के दो मुख्य प्रश्न सुभलाने पड़ते हैं, एक तो कुल स्थानीय वित्तीय साधनों के सम्बन्ध में अनुदानों के समूचे आकार से सम्बन्धित होता है और दूसरा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों वाले प्राधिकारियों में अनुदानों के बँटवारे से।[2] इन प्रश्नों की सविस्तर चर्चा तो हमें प्रशासी क्षेत्र के बहुत भीतरी भाग में ले जाएगी, किन्तु अधिक सीमित वित्तीय समस्या के विश्लेषण को पूर्ण करने के लिए प्रत्येक के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है।

बहुत भारी अनुदानों में भय यह है कि वे अनुत्तरदायी व्यय को जन्म देते

---

१. साथ हीं, स्थानीय प्राधिकारियों के वर्त्तमान अधिकारों और कर्तव्यों को भी देव-प्रणीत (sacrosanct) नहीं समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में फायर ब्रिगेड के अतिरिक्त जो महायुद्ध में एक राष्ट्रीय सेवा थे, राजमार्ग सेवाओं के पूर्णतया स्थानीय नियन्त्रण से अधिक हस्तान्तरण के लिए अवकाश है।

२. यहाँ उस परम्परागत उपाय का भी उल्लेख करना चाहिए जिसके द्वारा ब्रिटेन में दोनों समस्याओं को एक साथ सुलझाने का प्रयत्न किया गया—अर्थात्, दुर्वह (onerous) सेवाओं (मुख्यतः वे जो राष्ट्रीय शासन के द्वारा लागू की गई) और लाभदायक सेवाओं (मूलतः पड़ोस-सुधार) में प्रभेद के द्वारा, प्रथम ने अनुदानों से चलना था और द्वितीय ने पूर्णतया स्थानीय साधनों के बल पर। इस प्रभेद में प्रारम्भ से ही एक विकार आ गया जब केन्द्रीय शासन ने सार्वजनिक सहायता के लिए जो स्थानीय व्यय के प्रकारों में सब से अधिक दुर्वह और असमकारी था, अनुदान देना अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति में जिसमें पड़ोस-सुधार अनिवार्य किए जा सकें और आय-पुनर्वितरण को राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार किया जाए, उस प्रभेद में न वह सुतथ्यता (precision) ही रह जाती है जो कभी थी और न नीति के निदेश के रूप में कोई उपयोगिता ही।

हैं। यह बात आवश्यकताओं के किसी निरपेक्ष माप पर आधारित एक समकारी अनुदान के विषय में उतनी सच नहीं जितनी सेवा विशेष के लिए किसी विशिष्ट प्रतिशतता अनुदान के बारे में। दूसरे प्रकार के अनुदान स्थासीय बजटों को बहुत अधिक विकृत कर सकते हैं। अनुत्तरदायी व्यय के भय के प्रति केन्द्रीय शासनों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है—जैसे जैसे अनुदान विस्तार को प्राप्त होते हैं वैसे ही नियंत्रण बढ़ाने का प्रयत्न करना। क्योंकि यह स्थानीय स्वायत्तता को समाप्त करने वाला है इसलिए इसे यथासंभव दूर ही रखना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यदि राष्ट्रीय शासन (वचन और कृति दोनों से) स्थानीय प्राधिकार व्ययांकन और लेखा-पद्धति का स्तर उच्च करने का लक्ष्य रखे तो अच्छी प्रकार व्यय करने का अधिक अच्छा स्तर बन सकता है। इस ढंग से, प्रशासन में रोज रोज के हस्तक्षेप में अपरिहार्य वृद्धि के बिना केन्द्रीय विभागों को अधिक अच्छा प्रभावी नियन्त्रण मिल जाएगा।

साथ ही साथ यदि शहरी स्थानीय स्वायत्तता को बढाने की नीति पर आचरण किया गया (जैसा कि यहाँ राजनैतिक कारणों से सुझाया जा रहा है) तो एक समय आएगा—ब्रिटेन में वह बहुत दूर नहीं है—जब कि कुछ काउँटियाँ अपनी आवश्यकताओं का बहुत थोड़ा भाग दरों में से पूरा कर सकेंगी। उस स्थिति में राष्ट्रीय अथवा प्रादेशिक नियन्त्रण के अन्तर्गत क्षेत्रों को मिला देने से राजनैतिक मूल्य वाली किसी वस्तु को गँवाए बिना कार्यक्षमता बढ़ सकेगी, क्यों कि अधिकांश क्षेत्रों में क्रिकेट के प्रश्न छोड़ कर बहुत कम काउँटी भावना है।

दूसरे महायुद्ध तक ब्रिटेन में समान सेवाएँ उपलब्ध करवाने में भिन्नक अनुदानों का प्रभाव बहुत कम था। इसका एक बड़ा कारण तो था विशेष उद्देश्य के लिए विशिष्ट अनुदानों का विस्तत उपयोग, विशेष रूप से शिक्षा के लिए। प्रतिशतता अनुदान असमकारी होते हैं क्यों कि केवल सम्पन्न प्राधिकारी ही उनसे पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। कारण यह अनुदान स्वीकार करके वे अपना उत्तरदायित्व भी अपरिहार्य रूप से बढ़ा लेते हैं। परिणाम-स्वरूप, जब अनुदान कुछ देर चल चुकते हैं तो समृद्ध और निर्धन क्षेत्रों की

सेवाओं के स्तर स्पष्ट रूप से एक दूसरे से दूर होने लगते हैं।[1] यदि, अन्त में पर्याप्त भिन्नक सहायता देने का निश्चय किया जाता है तो समकारी सेवाओं का कार्य अधिक कठिन बनाया जा चुका होगा और शासन अधिक धनी प्राधिकारियों को पर्याप्त बड़े सकारात्मक अनुदान देने के लिए अपने आप को वचनबद्ध पाएगा।

किन्तु एक सफल भिन्नक अनुदान की मौलिक समस्या है संपत्ति और आवश्यकताओं की उन असमानताओं को मापने के लिए एक निरपेक्ष और पक्के आधार का चुनाव जिन्हें अनुदान ने ठीक करना है। ब्रिटेन में इस सम्बन्ध में पहला बड़ा प्रयास हुआ था १९२९ का "ब्लॉक अनुदान" (सामान्य राजकोष अंशदान)। यह, जनसंख्या को, असाधारण निर्धनता अथवा असाधारण आवश्यकताओं के लिए अवकाश देने वाले इन कारकों के अनुसार एक जटिल सूत्र के द्वारा भार दे कर किया जाता था: निम्न दर योग्य प्रति व्यक्ति मूल्य, बेकारी की उच्च प्रतिशतता, ५ वर्ष से कम के बच्चों की भारी संख्या, और देहात में सड़क के प्रति मील जनसंख्या की विरलता। अनुदान एक समय पांच वर्ष के लिए निश्चित किया जाता था जिस प्रबन्ध का लाभ था केन्द्रीय और स्थानीय बजट दोनों के लिए निश्चितता परन्तु हानि थी बेलोचपन। समकार के रूप में यह अनुदान बहुत दुर्बल यन्त्र सिद्ध हुआ: यह अंशतः इस कारण कि अनुदान (और विशेषकर उसका समकारी तत्त्व) अन्य अनुदानों (जिन में से कुछ तो निश्चित असमकारी थे) की तुलना में छोटा था और मन्दी में सार्वजनिक सहायता व्यय की महान् असमकारी शक्ति की तुलना में तो और भी छोटा। अंशतः यह इसलिए भी था कि समृद्ध प्राधिकारियों में से कुछ उसके अन्तर्गत पर्याप्त बड़े अनुदानों के लिए पात्र थे।

१९४८ में एक बहुत अधिक समकारी अनुदान का प्रतिस्थापन किया गया।

---

१. इसका एक खास उदाहरण १९३० की दशाब्दी में वेल्ज़ में क्षयरोग सेवा के पिछड़े होने में प्रकट हुआ।

यह (बच्चों और जनसंख्या की विरलता के लिए नाम मात्र भार लगाने को छोड़ कर) क्षेत्र के प्रति व्यक्ति कर-योग्य मूल्य और राष्ट्रीय औसत के मध्यके अन्तर पर तथा क्षेत्र के व्यय द्वारा निश्चित उसकी वास्तविक "आवश्यकताओं" पर पूरी तरह आधारित किया जाता था। और भी, यह अनुदान जैसे ही स्थानीय व्यय ज्ञात होने लगता है साल के साल समायोजित किया जाता है।[1] फिर, औसत से कम प्रति व्यक्ति दर-योग्य मूल्य वाले क्षेत्रों में ही अनुदान उपलब्ध होते हैं। सिद्धांत रूप में तो अनुदान बहुत समकारी होना चाहिए; यह निर्धनतम प्राधिकारियों को भी प्रायः उतने ही अवसर उपलब्ध करवा देता है जितने समृद्धतम प्राधिकारियों को अपने धन से प्राप्त होते हैं। स्पष्टतया इससे प्रति पौण्ड दरों में बराबरी तो नहीं होगी जब तक निर्धनतर प्राधिकारी व्यय में भी संयत नहीं रखे जाते किन्तु इससे, स्थूल रूप में, व्यय के अनुपात में प्रति पौण्ड दर प्राप्त हो जाने चाहिएं।

इस समकरण अनुदान के परिणामस्वरूप और सार्वजनिक सहायता के केन्द्रीय उत्तरदायित्व को हस्तान्तरण के साथ संयुक्त रूप में, वास्तव में मौलिक सेवाओं के "स्टैंडर्ड" का पूर्ण समकरण सम्भवतः प्राप्त कर लिया गया है। यदि नया अनुदान विस्तार के लिए एक अति प्रबल उद्दीपक सिद्ध नहीं हुआ है (जो कइयों को डर था), तो संभवतः इस कारण कि एक ओर तो दूसरे अनुदानों की तुलना में इसका क्षेत्र अब भी संकीर्ण है और दूसरी ओर, विस्तार अब भी निर्धन क्षेत्रों में दरों पर असुविधाजनक दबाव डालता है। इस अनुदान के सिद्धांतों में सरलता के आधार पर समर्थनीय बहुत कुछ है; किन्तु यह दिखाई देगा कि समता के लिए यह स्टैंडर्ड मूल्यांकनों पर बहुत अधिक निर्भर रहता है। जब तक मूल्यांकन की समस्या सुलझाई नहीं जाती इसके कार्य में कई विषमताएँ अवश्यमेव जारी रहेंगी।

ये समस्याएँ सरल नहीं, और यहाँ तो उनके अस्तित्व की ओर संकेत करने से अधिक कुछ विशेष करना संभव नहीं है किन्तु कम से कम इतना तो

१. १९५३ में खोज करने वाली एक समिति ने त्रि-वर्षीय परिवर्ती औसत के प्रतिस्थापन की सिफ़ारिश की; इसके स्वीकार किए जाने की बहुत आशा नहीं दिखाई देती।

आवश्यक ही है क्योंकि इनका भविष्य के लिए बहुत महत्त्व है। केन्द्रीय/स्थानीय संबन्धों की दुविधा किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती; क्योंकि जनतन्त्र का भविष्य और समाज का क्षेत्र दोनों दांव पर हैं। योग्य हल ढूंढना अध्यवसाय और धैर्य के लिए एक चुनौती है।

अध्याय १६

ब्रिटिश कराधान और व्यय का आपात

(The Incidence of British Taxation and Expenditure)

१. उपरिक आपात और प्रभावी आपात (Formal Incidence and Effective Incidence)—जैसा हमने देखा है "आपात" (Incidence) का सुलभ शब्द कर-सम्बन्धी समस्याओं पर कई अर्थों में लगाया गया है; और इससे भ्रम भी कोई कम पैदा नहीं हुआ। किन्तु दो अर्थ हैं जो हमारे वर्त्तमान उद्दिष्ट के लिए विशेष रुचि रखते हैं, और इनके सम्बन्ध में भ्रम होने का कोई कारण नहीं। इनमें हमने **उपरिक और प्रभावी** आपात के रूप में प्रभेद किया है। वर्त्तमान अध्याय में हमारा मुख्य कार्य प्रथम से सम्बन्ध रखता है, फिर भी अच्छा होगा यदि आगे चलने के पहिले हम उस प्रभेद के आधार का संक्षिप्त स्मरण कर लें।

कर का उपरिक आपात एक विशिष्ट लेखा अवधि के अन्दर वास्तव में संग्रहीत राजस्व का विभिन्न आय वर्गों में बंटवारा अभिलिखित करता है। आय और लाभ करों का उपरिक आपात, आयों के उत्पादकों अथवा सम्पत्ति के स्वामियों [बन्ध-धारियों (bondholders) सहित] के आय वर्गों से प्रत्यक्ष निश्चित हो जाता है। सामाजिक लेखा शब्दावली में निर्वर्त्य (disposable) आय = उत्पादकों की आयें, कम आय कर। इसी प्रकार मृत्यु करों का उपरिक आपात भी (यदि हम उन्हें अनुमान में समाविष्ट करना चाहें) उसी प्रकार उस अवधि में दाय पाई जाने वाली संपदाओं का सकल मूल्य ले कर, भूतपूर्व स्वामियों के आय वर्गों के साथ संपत्तियों को सम्बन्धित कर के, और इस आधार पर संग्रहीत राजस्व को बाँट कर प्राप्त किया जा सकता है।

उपरिक आपात में हमें यह पूछने का कोई सम्बन्ध नहीं आता कि इन करों के आर्थिक परिणाम क्या थे, यदि आय कर भिन्न होते तो उत्पादक

अधिक परिश्रम करते या कम, यदि उनके शुद्ध लाभांश अधिक होते तो पूंजी-पति ज्यादा बचत करते या थोड़ी, अथवा वृद्ध लोगों ने मृत्यु से पूर्व अपनी संपदाओं का मूल्य घटाने के लिए कोई पग उठाए तो वे क्या थे। ये प्रश्न प्रभावी आपात के क्षेत्र के हैं, उपरिक आपात के नहीं।

इसी प्रकार व्यय करों के विषय में उपरिक आपात का अनुमान लगाने का कार्य लेखांकन-अवधि में वास्तव में संग्रहीत राजस्व के आय वितरण को निश्चित करने का कार्य है: (उदाहरणार्थ) वर्ष भर में सिगरेट खरीदते समय धूम्रपान करने वाले हर व्यक्ति ने कुल मिलाकर कितना कर दिया। यहाँ तम्बाकू निर्माता से लेकर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्वारा उपभोक्ता तक कर के "सरकाने" की पुरानी कल्पना का सवाल नहीं है क्योंकि हम कर के आर्थिक परिणामों की जाँच नहीं कर रहे हैं! (उदाहरणार्थ) यदि सिगरेट पीने वाले उपभोग कम कर देते हैं तो क्या निर्माता अपने लाभ के अंश में कमी स्वीकार कर के उसका कुछ भाग स्वयं "झेलने" का निश्चय करते हैं, या कि यदि फुटकर व्यापारियों के यहाँ से माल उठे नहीं तो उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। यह जांच भी प्रभावी आपात के क्षेत्र की है। यद्यपि यह अत्यन्त वाँछनीय है कि प्रभावी आपात की आनुभविक (empirical) जांच की जाए और इस दिशा में अब तक बहुत कम प्रयास हुआ है, स्पष्ट है कि प्रभावी आपात के अनुमान असंदिग्ध और परिशुद्ध समूही सांख्यिकीय प्राक्कलनों का आधार नहीं बन सकते क्योंकि मूल में वे जिन अभिधारणाओं पर विश्लेषण आधारित है उन पर निर्भर हुए बिना नहीं रह सकते, और जो पूर्वानुमान एक स्थान और समय के लिए उपयुक्त हैं वे दूसरे के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त हो सकते है, जिस कारण से एक काल को दूसरे के साथ अथवा एक स्थान की दूसरे के साथ तुलनाएँ भ्रामक होती हैं।

इसके विरुद्ध उपरिक आपात (formal incidence) के अनुमान का उपाय किसी भी स्थान अथवा समय पर लगा कर असंदिग्ध परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं जिनकी परिशुद्धता केवल उस प्रारंभिक सामग्री पर निर्भर होगी जिस पर वे आधारित हैं (जैसे उपभोक्ताओं के बजटों के संग्रह) न

कि विशिष्ट पूर्वानुमानों के चुनाव पर। इस प्रकार एक एक कर को लेकर उपरिक आपात अथवा आय वितरण का निर्णय करने के पश्चात् यदि हम चाहें तो संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर कर-रचना के उपरिक आपात को पाने के लिए सभी करों के उपरिक आपात को जोड़ सकते हैं। सिद्धान्त रूप में तो हम सार्वजनिक व्यय के विषय में भी ऐसा कर सकते हैं—या कम से कम सार्वजनिक व्यय के उन भागों के लिए तो कर ही सकते हैं जो ऐसे लाभ उपलब्ध करवाते हैं जिन्हें व्यक्तियों के मध्य में बांटा जा सकता है (जैसा पुलिस और प्रतिरक्षा जैसी सामूहिक सेवाओं के लिए नहीं किया जा सकता) और इस तरह भिन्न-भिन्न समूहों के नाम नियत किया जा सकता है।[1] उसके बाद यदि हम दोनों लेखाओं को आमने सामने रखें तो हमें आय वितरण पर सार्वजनिक वित्त का उपरिक शुद्ध प्रभाव विदित हो जाएगा।

इस पर बल देने का महत्त्व है कि ऐसे किन्हीं भी अनुमानों में बहुत सीमित वास्तविक तथ्य होता है। आर्थिक निर्णय और नीति के निश्चयों के लिए महत्त्वपूर्ण कारक उपरिक आपात नहीं, उसके परिणामस्वरूप होने वाले आर्थिक समायोजन हैं। इनका सफल योग मिलकर प्रभावी आपात बनता है। सामान्यत: समायोजन क्रिया कई अवस्थाओं में से गुज़रती है। जब एक कर चुकाया जाता है तो पहली बात तो यह होती है कि साधनों पर अधिकार निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र को हस्तांतरित होना है। इस भुगतान के साथ ही, लगभग सभी परिस्थितियों में, आय-वितरण में भी परिवर्तन होगा : निजी क्षेत्र के जिस भाग पर कर पड़ता है, अथवा सबसे अधिक पड़ता है, उसका अन्य भागों की अपेक्षा साधनों पर अधिकार कम हो जाता है।

अब सार्वजनिक क्षेत्र को जो अतिरिक्त साधन प्राप्त हुए हैं वे वस्तुओं अथवा साधनों के क्रय पर (जो चालू खाते में हो सकता है या नियोजन खाते में) लगाए जा सकते हैं या उन्हें विदेश में लगाया जा सकता है। अन्यथा, उन्हें अन्य सार्वजनिक प्राधिकारियों को हस्तान्तरित किया जा सकता है या वापिस निजी क्षेत्र को, शक्यत: जिनकी जेबों से वे निकले थे उन्हीं को परन्तु

१. इस पद की चर्चा के लिए आगे इसी अध्याय में देखिए।

अधिक सम्भवतः, अन्य लोगों को हस्तान्तरित किया जा सकता है। इससे आय वितरण में फिर परिवर्त्तन होंगे।

प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में जो परिवर्त्तन होंगे वे उत्पादन में भी परिवर्त्तन लाएंगे क्योंकि उनमें मांग के परिवर्त्तन ध्वनित है; और इनके कारण आगे नियोजन में परिवर्त्तन होने की संभावना है जब कि आय वितरण के परिवर्त्तन चालू खर्च और बचत के अनुपात में प्रत्यक्ष बदल करेंगे। जिन्हें एक अर्थ-व्यवस्था को गतिविधि के एक उच्च स्तर पर राष्ट्रीय उत्पादन को वर्द्धमान रखते हुए चलाने का कार्य मिला हुआ हो उन्हें इन प्रक्रियाओं पर दृष्टि रखनी होती है और इनका बल आँकना पड़ता है। हमारा इस ढंग की समस्याओं के साथ भाग ३ में सम्बन्ध आएगा; हमारा वर्त्तमान कार्य कहीं अधिक सीमित है।

सार्वजनिक वित्त के द्वारा आय वितरण और पुनर्वितरण के प्रश्न ने अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटेन में बहुत पहले अत्यधिक रुचि उत्पन्न कर ली थी। कर-रचना के आय वितरण से संबंधित प्रथम अनुमान १९०३-४ के वर्ष के विषय में थे। वर्त्तमान शताब्दी की सारी प्रथम दशाब्दी में सामाजिक व्यय के परिणामों के विषय में रुचि बढ़ती गई, यह प्रोफ़ेसर बाओले की पुस्तक "The Division of the Product of Industry" (१९११) से प्रकट है। १९२० की दशाब्दी के मध्य में राष्ट्रीय ऋण तथा करारोपण पर (काल्विन) समिति ने इन प्राक्कलनों को विस्तृत किया और अद्यावत (up to date) लाया। बाद में अतिरिक्त जानकारी, विशेषतया उपभोक्ताओं के व्यय के सम्बन्ध में उपलब्ध हुई, और इससे आज तक उपरिक आपात के जो अधिक से अधिक विस्तृत अनुमान लगाना संभव हो पाया है उनके बनाने में सुविधा हुई। पहली बार महत्त्वपूर्ण स्थानीय दर को भी प्राक्कलन में सम्मिलित करना संभव हुआ।[1] और पहली बार ही सार्वजनिक व्यय के उपरिक भार के अन्वीक्षात्मक अनुमान भी लगाए गए।

१. देखिए, F Shirras and L. Rostas, The Burden of British Taxation; T. Barna, The Redistribution of Income through Public Finance; and J. R. and U. K. Hicks (with C.E. V. Leser). The Incidence of Local Rates in Great Britain.

उस समय से सामाजिक लेखांकन और उस पर आधारित सामान्य अर्थ-नीति के निर्धारण की प्रथा ने सम्बद्ध आंकड़ों को बहुत कुछ सुधार दिया है विशेषकर प्रारम्भिक (initial) आय वितरण के विषय में। अतः कर प्राक्कलन के आय व पूँजी पक्ष की परिशुद्धता को पर्याप्त मात्रा में सुधारना पहले ही भव हो चुका है। चाहे उपभोक्ता व्यय के वितरण से सम्बन्धित कुछ नई जानकारी भी उपलब्ध हो गई है, १९३० की दशाब्दी में जिस प्रकार की व्यापक सामग्री प्रयुक्त होती थी, युद्धोत्तर विश्व के विषय में अभी तक उपलब्ध नहीं है। किन्तु १९४८-४९ के वर्ष से सम्बद्ध कराधान और व्यय के उपरिक आपात का एक अनुमान लगाया गया[1] जो आंकड़ों को अद्यावत लाने में सहायक है। वह राशन-व्यवस्था और क्रम-वर्द्धमान कराधान की उच्चतम अवस्था में आय पुनर्वितरण के स्वरूप के चित्रण के रूप में ऐतिहासिक रुचि का तो है ही। (उस वर्ष, सामान्य आय व लाभ करों के अतिरिक्त उसके पहले वर्ष की नियोजन आय पर आधारित "विशेष अंशदान" लागू किया गया।)

२. आय का वितरण (The Distribution of Income)—प्रायः सभी देशों में उत्पादन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होने वाला आय वितरण एक ही स्वरूप धारण करने की प्रवृत्ति रखता है : नागरिकों के विशाल बहुमत की आय औसत से कम होती है, थोड़ी सी संख्या की आय उससे पर्याप्त अधिक होती है। इस वितरण का ब्रिटिश संस्करण १९३८ और १९५३ की तालिका ७ में संक्षिप्त रूप में दिया गया है। अब जब कि अन्य देशों की कुछ गणनाएँ भी उपलब्ध हैं तो प्रकट होता है कि असमानता की जो मात्रा दिखाई देती है वह असाधारण रूप से अधिक नहीं है, बल्कि इसके विपरीत ही है। संभवतः यही सिद्ध हो कि किसी भी दूसरे देश में आयों का प्रारम्भिक वितरण इतना समान नहीं है सिवा शायद किसी स्कैंडिनेवियाई देश के। संयुक्त राज्य अमरीका में भी आयों का प्रारम्भिक वितरण अपेक्षतया साम्यपूर्ण है और स्थूल

---

१. देखिए, A. M. Cartter, The Redistribution of Income in Postwar Britain.

दृष्टि से यह सभी औद्योगीकृत देशों के बारे में सच है। यह प्रायः भली प्रकार तब दिखाई देता है कि निर्धन और अल्पविकसित देशों में आय वितरण इससे कहीं अधिक असम होने की प्रवृत्ति होती है।[१] सुस्थापित कर और सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं वाले विकसित देशों की अपेक्षा उन के पास सार्वजनिक वित्त के द्वारा आय के अन्तिम वितरण को प्रभावित करने की शक्ति भी कम होती है।

तालिका ७ में १९३८ और १९५३ के मध्य में हुए मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के लिए अवकाश छोड़ने का प्रयत्न किया गया है। यह मान लिया गया है कि बाद के वर्ष में ५०० पौंड की आय वस्तुओं की उतनी ही बड़ी गठरी खरीद सकेगी जैसी २५० पौंड की आय १९३८ में। यह पूरी तरह सच नहीं है किन्तु लगभग सच ज़रूर है और ऐसा मानना सुविधाजनक भी है। वास्तव में, कोरियाई स्फीति के परिणामस्वरूप, मुद्रा का मूल्य १९५३ तक इससे कुछ अधिक ही गिर चुका था, जिस कारण बाद के वर्ष की सब आयें तालिका में १९३८ की तुलना में कुछ न कुछ स्फीत हैं। व्यवहार में इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्येक समूह की रचना से स्पष्ट मालूम होता है कि वास्तव में ५०० पौंड वाले १९५३ के समूह में उसी प्रकार के लोगों से हमारा सम्बन्ध आता है जिस प्रकार के लोगों से १९३८ के २५० पौंड वाले समूह में, इत्यादि।

ये परिवर्तन ठीक वही हैं जिनकी सामान्य आर्थिक आधार पर अपेक्षा करनी चाहिए। उच्चतम समूह की संख्या अपेक्षतया कम हुई है (और परम (absolute) अर्थ में भी थोड़ी मात्रा में, विशेष रूप से यदि १९५३ के आयों के लिए अतिमूल्यन का हमने अभी-अभी उल्लेख किया है, उसे स्मरण रखें तो)। तीसरे समूह की संख्या पर्याप्त बढ़ी है और शेष दोनों की थोड़ी-थोड़ी। ऊपर की आयों की संख्या में कमी का कारण सुगमता से देखा जा सकता है :

---

१. देखिए "The Distribution of Income in Ceylon, Puerto Rico, the United States and the United Kingdom," लेखक T. Morgan, Economic Journal, Dec. 1953.

मुख्य रूप से कम लाभाँशों का वितरण और मृत्यु-करों का संचयी (cumulative) प्रभाव। निचले का विस्तार सेवायुक्ति की अधिक अच्छी स्थिति दिखाती है। सब से नीचे के समूह में स्वभाविकत: कई अंशकालिक कर्मचारी (Part Time Workers) हैं और स्त्रियों में रोजगार (employment) का विस्तार उसके फैलाव का एक कारण है।

तालिका ७. १९३८ और १९५३ में निजी आयों का वितरण

आय वर्ग (पौंड)		वर्ग में संख्या (सहस्त्र)		आय करों से पूर्व औसत आय पौंड	
१९३८	१९५३	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३
१,००० से ऊपर	२,००० से अधिक	२८९	२८५	२,६६७	४०००
५००—१,०००	१,०००—२,०००	५३९	७९०	६६९	१ ३२२
२५०—५००	५००—१,०००	१,८९०	६,५७५	३३४	’६५२
२५० से कम	५०० से कम	१५,३००*	१७,६५०	१३९	२८३

अत: इस काल में आयों के प्रारंभिक वितरण का एक सामान्य समकरण हुआ है। सार्वजनिक वित्त व्यवस्था के बाहिर के अन्य कारकों ने भी क्रय शक्ति के अधिक समकरण में योगदान दिया है। विशेष रूप से, किराया नियन्त्रण निचले आय-वर्गों की अपेक्षा ऊपर वालों को भी अधिक लाभ देता है क्यों कि उनका अधिक बड़ा अंश नियन्त्रित किराये वाले घरों में रहते हैं। तालिका ८ वह अन्तर बताती है जो आय और अधिकर ने आय के इस प्रारंभिक वितरण में उत्पन्न किया। यह दिखाई देगा कि १९३८ में आय और अधिकर में सब से ऊँचे वर्ग ने अपनी आयों का ३० प्रतिशत दे दिया; दूसरे वर्ग ने भी ११ प्रतिशत का पर्याप्त बड़ा भाग दिया किन्तु निचले दो वर्गों का अंशदान बहुत थोड़ा था। १९५३ तक स्थिति में पर्याप्त बदल आ गया था : सब से ऊपर का वर्ग, छोटा और पहले से कम सम्पन्न होने के अतिरिक्त, अब औसत ६६ प्रतिशत देता था (बैयक्तिक स्पष्टतया इससे कहीं अधिक

* अनधिकृत अनुमान

क्यों कि इस वर्ग में अधिकर की क्रम-वर्द्धमान परिसीमा आती है); दूसरा वर्ग अब २० प्रतिशत देता था, जब कि तीसरा ८ प्रतिशत क्योंकि आय कर नीचे की आयों की ओर फैला है। सब से निचले वर्ग में यद्यपि कुल अंशदान अब भी कम था किन्तु वह पहले से बहुत विस्तार प्राप्त कर चुका था।

वास्तविक निर्वर्त्य आय सामाजिक सेवाओं और तत्समान उपबन्धों के द्वारा किए गए द्रव्य के अनुदानों (अथवा आय हस्तान्तरणों) के ऊपर भी निर्भर है। १९३८ में बेकारी वेतन और सार्वजनिक सहायता के बहुत महत्त्व

तालिका ८. आय करों का उपरिक आपात

आय वर्ग (पौंड)		करों के पश्चात् औसत आय पौंड		करों में ली गई प्रतिशतता	
१९३८	१९५३	१९३८	१९५३	१९३८	१९५३
१,००० से ऊपर	२,००० से ऊपर	१,८२३	२,१०४	३०.१	६६.०
५००—१,०००	१,०००—२,०००	५९७	१,०६९	११.४	२०.६
२५०— ५००	५००—१,०००	३२३	६०६	३.२	८.०
२५० से कम	५०० से कम	१६६	२७६	०.२	२.५

के कारण इन हस्तान्तरणों का एक उपेक्षणीय अल्पांश न्यूनतम आय वर्ग को प्राप्त हुआ। बाद के वर्ष में, बेकारी कम हो जाने से द्रव्य-हस्तान्तरणों का सापेक्ष महत्त्व घट गया था किन्तु वे अब भी मुख्यत: न्यूनतम आय वर्ग को ही प्राप्त हुए।[१] १९४८ के अनुमानों के आधार पर ऐसा दिखाई देता है कि प्राय: सारी पैन्शनें, पारिवारिक भत्तों का ७ प्रतिशत और शैक्षणिक अनुदानों समेत अन्य हस्तान्तरणों का ८९ प्रतिशत उस वर्ष में "५०० पौंड से नीचे वालों" को मिला; उनकी निर्वर्त्य आय में वृद्धि की प्रतिशतता ११ थी जब कि अगले वर्ग को केवल १ प्रतिशत का अंशदान मिला। इस की बहुत संभावना दिखाई नहीं देती कि १९५३ तक इस सम्बन्ध में विशेष बदल हुआ हो।

स्पष्ट है कि दूसरा महत्त्वपूर्ण पुनर्वितरणात्मक कर है मृत्यु शुल्क। निकट

१. इस पद की अधिक चर्चा के लिए आगे इसी अध्याय में देखिए।

भूतकाल में इस का पुनर्वितरणात्मक तत्त्व पर्याप्त बढ़ गया है, प्रगति सीधी ऊँची (steep) कर दी गई है और मुक्ति-सीमा बढ़ा दी गई है जिससे छोटी संपदाओं की एक बड़ी संख्या बाहिर हो गई है। जैसा हम देख चुके हैं मृत्यु शुल्क लागू किए जाने वाले पहले क्रमवर्द्धमान कर थे: किन्तु बहुत वर्षों तक उनके दर नरम और आय वितरण पर प्रभाव उपेक्षणीय रहा। वे धीरे-धीरे ऊँचे उठे, और १९३० में अत्यधिक बढ़ा दिए गए। १९३८ तक महत्तम संपदाएँ ५० प्रतिशत देने लग पड़ी थीं, किन्तु २ लाख पौंड की संपदा तब भी २५ प्रतिशत का अपेक्षाकृत नरम कर ही देती थी। वर्तमान दर जो सकल संपदा पर ८० प्रतिशत तक बढ़ते जाते हैं केवल १९४९ में लागू किए गए, इस कारण आयों पर उनके प्रभाव को अपना कार्य करने के लिए अभी पर्याप्त समय नहीं मिला (इस कारण १९४८ के अनुमान १९५३ में स्थिति को घटा कर बतलाते हैं)। ये एक प्रकार से "लूट के" दर न केवल संपदाओं को प्रत्यक्ष तोड़ देते हैं बल्कि परोक्ष ढंग से जीवितों में उपहार के द्वारा और ट्रस्टों के द्वारा, आयों में अधिक समानता लाते हैं। उनसे पूँजी के उपभोग और बचत न करने की प्रवृत्ति भी पैदा होती है; इससे और अधिक समानता उत्पन्न होती है यद्यपि बहुत करके कुछ न कुछ उत्पादिता (Productivity) के सिर पर। अन्त में स्फीति का मूल्य वृद्धि ने मृत्यु शुल्कों के भार को पर्याप्त बढ़ा दिया है। १९५३ में जो २ लाख पौंड की संपदा है उसका १९३८ में वास्तविक मूल्य ७५ हजार और १ लाख पौंड के मध्य में था। इस आधार पर कर का दर ४० प्रतिशत से अधिक बढ़ चुका था।

३. **व्यय करों का उपरिक आपात** (The Formal Incidence of Outlay Taxes)—व्यय करों का उपरिक आपात खोजने का एक ही उपाय है: एक दी हुई अवधि—प्राय: एक सप्ताह—में लोगों ने विभिन्न करारोपित वस्तुओं और सेवाओं की कितनी मात्रा खरीदी यह उनसे पूछना और जब कुछ सप्ताहों के नमूने ले लिये जाएँ तो उन्हें वार्षिक दरों के रूप में प्रकट करना। अन्त में, इस जानकारी के आधार पर विभिन्न करों के द्वारा वर्ष भर में सग्रहीत

कुल राजस्व को, भिन्न-भिन्न आय वर्गों में बाँटना होगा। पारिवारिक बजट पद्धति कठिनाइयों से भरी है और परिणाम में अपरिहार्य रूप से बहुत कुछ अनुमानाश्रित होते है; उन्हें आय करों के आय वितरण सम्बन्धी अनुमानों के बराबर नहीं माना जा सकता। हाँ, इससे अनुमान लगाने के प्रयत्नों के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती।

पहली कठिनाई यह है कि कर के दो प्रकारों में कर की "इकाई" भिन्न होती है। "आय कर परिवार" नियम के अनुसार अकेले व्यक्ति अथवा विवाहित युगल का होता है, यद्यपि ऐसी जानकारी क्रमश: सुधर रही है जिसकी सहायता से आश्रित बच्चों को, उनको जो जीवन-स्तर वास्तव में प्राप्त है उसमें रखा जा सकता है। इसके विरुद्ध अधिकांश व्यय करों में कर परिवार उन लोगों से बनता है जिनका खाद्य, फ़र्नीचर, किराया और सम्भवतः वस्त्रों का व्यय साँझा होता है। किन्तु दूसरी ओर मदिरा और तम्बाकू के सर्वदा-महत्त्वपूर्ण करों की इकाई कड़ाई के साथ व्यक्ति ही है और यहाँ विशेष रूप से पारिवारिक बजट पद्धति पूरी तरह बेकार होती दिखाई देती है। जानकारी गृहिणियों से प्राप्त की जाती है; उन्हें परिवार की कुल आय अथवा उसके सदस्यों द्वारा मदिरा और तम्बाकू के पृथक् उपभोग के बारे में कभी ही विदित होता है। यदि कभी मुख्य धूम्रपान और मद्यपान करने वालों से सम्पर्क स्थापित कर भी लिया जाए तो इसकी आशा कम है कि वे अपनी लत के पूरे परिमाण को स्वीकार कर लें। यह अनुभव में आया है कि संग्रहीत राजस्व में जो उपभोग ध्वनित होता है उसमें और जितना उपभोग करदाता स्वीकार करते हैं उसमें सदैव भारी अन्तर रहता है।

कपड़ों और 'फ़र्निशिंग' आदि के समान वस्तुओं की, बीच-बीच में होने वाली खरीद के सम्बन्ध में एक और कठिनाई आती है कि वे प्राय: साप्ताहिक पद्धति के हिसाब में ठीक-ठीक नहीं आते। १९३७ में इसका महत्त्व नहीं था क्योंकि उनमें से बहुत कम पर कर लगे थे; किन्तु क्रय कर के आगमन से स्थिति बदल गई है। आंशिक रूप में इसका कारण यह है कि उनके व्यय का कहीं अधिक बड़ा भाग इस प्रकार के बीच-बीच में होने वाले क्रयों पर

होता है, बजट जाँच पद्धति मध्यम वर्ग की परिसीमा में और भी कम अच्छी तरह से कार्य कर पाती है।

अन्त में स्थानीय दर की समस्या है। यह प्रत्येक अन्य ब्रिटिश कर से इस बात में पृथक् होता है कि इसका आपात क्षेत्र-क्षेत्र में भिन्न होता है—समकरण अनुदान (Equalization Grant) के आने से पूर्व तो वह वास्तव में बहुत भिन्न था। एक संघराज्य में स्पष्टतया इस प्रकार के अन्त:स्थानीय भेद कई करों में पाये जाते हैं, विशेषकर बिक्री करों में; इस कारण संघ राज्य वाले देशों में उपरिक आपात के अर्थपूर्ण और समावेशी अनुमान प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। दर-आपात के पृथक् क्षेत्रीय अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त जानकारी केवल बहुत विरली जाँचों से ही मिलनी है। सामान्यतया बजट अध्ययन सकल किरायों (किराये जमा दरों) का एक ही अंक प्रस्तुत करते है जो इस कार्य के लिए व्यर्थ ही होता है। संयोगपूर्ण परिस्थितिओं—दो जाँचों के एक साथ हो जाने—के कारण १९३७ के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त हो गई किन्तु कई वर्षो तक शायद वह फिर उपलब्ध न हो। यह खेद का विषय तो है ही, दर आपात के अधिक समकरण से, जो एक ओर प्रति पौंड दरों के अधिक समान होने के कारण और दूसरी ओर पूर्व के भारी दरों वाले क्षेत्रों में आयों के बढ़ जाने के कारण हुआ, और अन्य व्यय करों की तुलना में दरों का महत्त्व घट जाने से, दरों के उपरिक आपात के अनुमान का कार्य पहले की अपेक्षा कुछ कम महत्त्व का रह गया है।[1]

१९३७ की जाँचों ने आपात का ऐसा पर्याप्त स्पष्ट चित्र प्रकट किया जिसके अनुसार व्यय कर सरलतापूर्वक इन तीन वर्गो में बँट गए : (i) भारी बहुमत जो सार्वजनीन उपभोग पर पड़ता था—जिसमें आवश्यक वस्तुओं (चाय, चीनी), पेय और तम्बाकू के और स्थानीय दर थे; (ii) ऐसे करों का एक समूह जो उससे कम सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर पड़ते थे—जिसमें सिल्क और 'रेयन', कैमरे आदि, 'मोटरिंग' के कर (ईधन और लाइसेंस शुल्क) और

---

१. इस पद की अधिक चर्चा के लिए आगे देखिए।

कम आवश्यक विलास-खाद्य सम्मिलित थे; (iii) उत्पादन और बिक्री की प्रक्रियाओं के द्वारा उपभोग पर परोक्ष रूप से पड़ने वाले करों से प्राप्त पर्याप्त राजस्व जैसे व्यवसाय-भवनों पर स्थानीय दर और लारियों, बसों तथा 'डिलिवरी' गाड़ियों (delivery vans) पर के 'मोटरिंग' कर।

१९३७ में पहले समूह में, ९० प्रतिशत से अधिक राजस्व (युद्ध-पूर्व के) "५०० पौंड से नीचे वालों" से और ८० प्रतिशत से कुछ अधिक "२५० पौंड से नीचे वालों से" आ रहा था। दूसरे समूह में ५०० पौंड से अधिक और कम वालों के मध्य में आपात अधिक समानतापूर्वक बँटा हुआ था—सिल्क और रेयन के विषय में तो वह आधा-आधा बँटा मालूम देता है, 'मोटरिंग' करों के विषय में संभव है ७० प्रतिशत तक ५०० पौंड से अधिक वालों से आया हो। तीसरे समूह का आपात परिशुद्ध रूप में निश्चित करना संभव नहीं है; वैसे वह निस्सन्देह पहले और दूसरे के मध्य में था— संभवतः पहले के अधिक समीप।

जैसा हमने देखा है, १९४८ के अनुमान पूर्णतया स्वतन्त्र सामग्री पर आधारित नहीं हैं; तो भी उनसे जो चित्र प्रकट होता है उसकी युद्ध-पूर्व की स्थिति के साथ तुलना काफ़ी रोचक है। वे दो बड़े दिग्गज—पेय और तम्बाकू के कर अब भी निम्नतम वर्ग (युद्धोत्तर स्थिति में ५०० पौंड से कम) से ८० प्रतिशत राजस्व प्राप्त किया दिखाते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना सदा आवश्यक है कि जनसंख्या का ८० प्रतिशत इस वर्ग में ही आता है। प्रकट है कि युद्धपूर्व स्थिति की अपेक्षा, कम प्रतिशत राजस्व आय श्रेणी के अगले समूह से प्राप्त हुआ। इससे शायद मध्यम आय वर्गों के युवकों में धूम्रपान की आदत में आई कमी, जिस की पर्याप्त पुष्टि हो चुकी है, दिखाई देती है। १९४८ तक खाद्य कर यथामूल्य दरों के स्थान पर प्रति इकाई निर्धारित होने[1] के कारण फीके हो गए थे; सच तो यह है कि कइयों का स्थान साहाय्यों ने ले

१. परिणामस्वरूप जब मूल्य बढ़े तो उनका प्रभाव क्रमशः कम होता गया। पेय और तम्बाकू के करों का भी यही होता यदि उनके दर बार-बार बढ़ाए न जाते। पाँचवें अध्याय की तालिका देखिए।

लिया था। इन के आपात का परीक्षण हमें बाद में करना होगा। नए पण-कर (Betting Tax) और बहुत बढ़ाए गए प्रमोद शुल्क (Entertainments Duty), दोनों का भार कुछ कम प्रतिगामी प्रकट हुआ; प्रमोद के लिए राजस्व का ५० प्रतिशत १००० पौंड से नीचे वालों से प्राप्त किया गया और ७२ प्रतिशत ५०० पौंड से नीचे वालों से; पण के आँकडे क्रमश: ६९ प्रतिशत और ७७ प्रतिशत थे।

मोटर गाड़ियों की अलभ्यता और पेट्रोल राशनिंग के बने रहने के कारण 'मोटरिंग' करों का १९४८ का आपात केवल ऐतिहासिक रुचि रखता है। इन कारकों का परिणाम यह हुआ कि ऊपर के (१००० पौंड से अधिक) आय वर्गों से प्राप्ति का प्रतिशत कम हो कर युद्ध-पूर्व के ७० प्रतिशत के स्थान पर केवल १८ प्रतिशत रह गया। क्रय-कर के आपात का विषय पर्याप्त रुचि रखता है क्योंकि युद्ध के पूर्व उसका कोई उदाहरण नहीं था। राजस्व का अधिकांश भाग तीन स्रोतों से प्राप्त हुआ है: वस्त्र, उपभोग की टिकाऊ वस्तुएँ और विविध चित्र-विचित्र पदार्थ जिनमें शृंगार के प्रसाधन भी है, जिन पर कर के कुछ ऊँचे दर लगे हुए थे। इनमें से किसी का भी आपात अधिक प्रतिगामी नहीं था, एक ओर तो उपयोज्य-वस्तुओं (utility goods) के कर-मुक्त रहने के कारण और दूसरी ओर कर के यथामूल्य दरों के कारण। समूचे कर का औसत आपात प्रकट करता है कि ५३ प्रतिशत १००० पौंड से ऊपर वालों से प्राप्त होता था और ३८ प्रतिशत ५०० पौंड से ऊपर वालों से। अत: इस प्रकार व्यय करों की प्रतिगामिता कम करने की ओर जो सार्थक प्रगति हुई वह धूम्रपान पर लगे, बहुत प्रतिगामी भार वाले करों में हुई भारी वृद्धि के कारण प्रतिगामिता में जो बढ़ती हुई उससे औसतन कम थी।[1] किन्तु जैसा हम आगे देखेंगे यहाँ एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण (qualification) करना आवश्यक है।

---

१. अनुमान किया जा सकता है कि १९५३ में लागू कम प्रतिगामी "डी" योजना के प्रतिस्थापन भी देखिए। क्रय कर की प्रतिगामिता को, १९४८ की उपयोगिता योजना के कार्य की तुलना में और भी कम कर दिया होगा।

१९३७ के अधिक विश्वसनीय आंकड़ों को ही फिर से लें। स्थिति यह थी कि जहाँ आयकरों और मृत्यु शुल्कों का राजस्व ९० प्रतिशत से अधिक ५०० पौंड से ऊपर वालों से आता था (युद्ध-पूर्व स्थिति में), व्यय करों का राजस्व ९० प्रतिशत ५०० पौंड से नीचे वालों से आता था। अतः दो प्रकार के करों का आय वितरण सर्वथा भिन्न था : आय व पूँजी करों का आपात निरन्तर क्रमवर्द्धमान था, और स्थूल रूप में व्यय करों का भार लगभग उतनी ही निरन्तरता सहित प्रतिगामी था। दोनों को मिला कर देखा जाए तो कर-रचना पौंड की बहुत थोड़ी आय पर १७ प्रतिशत से लेकर एक लाख पौंड की आय पर ९० प्रतिशत से अधिक तक क्रमवर्द्धमान आपात दिखाती थी। यह चित्र ३ में प्रदर्शित है। आय कर वक्र तरंगित होने का कारण छोटी परिसीमाओं में आनुपातिकता ही है जो घटाए हुए और स्टैंडर्ड दर "पट्टों" के परिणामस्वरूप होती है।[१]

ऐसा दीखता है कि व्यय कर वक्र का निचला सिरा थोड़ा प्रतिगामी था, संभवतः इस कारण कि निम्नतम आय वर्ग में व्यय की विविधता अधिक संकुचित थी, कई तरुण और अकेले व्यक्ति ऐसे थे जिनकी आय इस वर्ग में आती थी। इस बिन्दु से, वक्र लगभग अनुपाती मार्ग ही रखता था जब तक वह लगभग ५०० पौंड तक नहीं पहुँच जाता था, जिसके पश्चात् वह तेजी से गिरना प्रारम्भ कर देता था। इस अपेक्षाकृत आनुपातिकता के कई कारण संभव हैं। प्रथम, युद्धपूर्व स्थिति में कुछ सामान्य वस्तुओं का (जैसे चाय, और मिठाई में काम आने वाली के अतिरिक्त, चीनी) उपभोग बढ़ती आय के साथ लगभग ५०० पौंड तक समानान्तर बढ़ता गया मालूम होता है, जहाँ पहुँच कर वह स्थिर हो गया, जिस कारण आय की प्रतिशतता के रूप में कर तेजी से गिर गया। १९३७ की अपेक्षाकृत स्वतन्त्र बाज़ार स्थिति में अधिक महत्त्वपूर्ण—क्योंकि उससे राजस्व पर्याप्त अधिक है, गृह-स्थान पर व्यय की और परिणाम-स्वरूप उसके साथ दर-भुगतान की भी, आय के साथ प्रायः नियमित ढंग से

१. देखिए अध्याय १०।

ही बढ़ने की प्रवृत्ति रही। जैसे-जैसे आय बढ़ती है और निस्सन्देह जैसे-जैसे परिवार का आकार बढ़ता है लोगों की अधिक बड़े घरों में बदलने की प्रवृत्ति
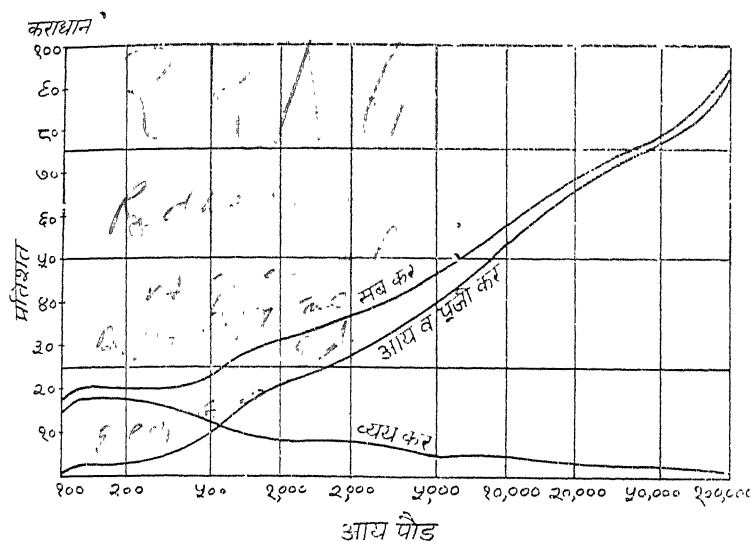
चित्र ३—आय के प्रतिशत रूप में कराधान, इंग्लैण्ड, १६३७

होती है जिससे दरों का स्थान आय की प्रतिशतता के रूप में जितना ऊँचा पहले था उतना ही (या उससे कुछ अधिक भी) रह जाता है। १६३७ की सामग्री में कुछ संकेत था कि दर भार की आनुपातिक परिसीमाएँ आय-श्रेणी के अधिक ऊपर तक दोहराई जाती रहीं।

जिन आंकड़ों पर वक्र आधारित हैं वे सारी अर्थ-व्यवस्था की औसतें हैं। अधिकतर करों में प्रत्येक आय-वर्ग के अन्दर औसत उपभोग से विचलन अधिक बड़े नहीं होते। किन्तु मदिरा और तम्बाकू के उपभोग के बारे में ऐसा नहीं है। परिणाम यह होता है कि तम्बाकू न पीने वाले अथवा शराब न पीने

वाले परिवारों में व्यय करों की जितनी प्रतिगामिता औसत में दिखाई देती है उससे बहुत कुछ कम होती है।[१]

स्थानीय दर के विषय में भी देश के भाग-भाग में औसत आपात से होने वाले विचलन बहुत महत्त्व रखते है। १९३० की दशाब्दी की अवस्था में देश बहुत स्पष्ट रूप से तीन दर-प्रदेशों में बँटता था—वेल्ज़ में ऊँचे प्रति पौंड दर, लंकाशायर और यार्कशायर मिला कर उत्तर में मध्यम प्रति पौंड दर और मिडलैण्ड्स तथा दक्षिण में न्यून। साप्ताहिक वेतनभोगा आय वर्गो के औसत दर १९३७ में पारिवारिक व्यय का, तीन प्रदेशों में क्रमशः ४ प्रतिशत, ३·५ प्रतिशत और २·९ प्रतिशत थे। इस प्रादेशिक प्रभेद के अतिरिक्त, इसे काटता हुआ एक और था जो समाज के आकार पर निर्भर था : स्थूल रूप में जितना बड़ा नगर उतने ही ऊँचे दर, इस अन्तर की, बड़े शहरों में आयों के अधिक ऊँचे स्तर के कारण केवल अंशतः ही क्षतिपूर्त्ति होती है। अतः लंदन में इन आय वर्गों पर औसत दर भार उतना ही था जितना वेल्ज़ में; चार सब से बड़े शहरों में से तीन में वह और भी अधिक था। दूसरी चरम सीमा पर देश के हर भाग में, देहाती दर भार, खेतों में काम करने वालों की आय अपेक्षाकृत न्यून होते हुए भी, शहरी दर भार से कम था। किन्तु सामान्यतया, ऊँचे शहरी दरों में स्थानीय सेवाओं का अधिक ऊँचा स्तर भी ध्वनित था; अर्थात् यह कह सकते हैं कि उपभोक्ता उत्पाद की अधिक मात्रा खरीदते थे, और अधिकांश में यह प्रायः उन्हें ठीक ही बैठता था।

१९३७ की कर-रचना का आय वितरण पहले की गणनाओं से काफ़ी भिन्न था।[२] १९०३-४ में सारा वक्र अनुपाती या १,००० पौंड से कुछ प्रतिगामी ही था, १९१३-१४ तक अधिकर के प्रारम्भ से क्रमवृद्धि सिर उठाने

---

१. इस पद की खोज पहली बार करने वाले थे D. Caradog Jones, Journal of the Royal Statistical Society, 1927 और देखिए U. K. Hicks, the Finance of British Government, पृ० २७५।

२. पहले की गणनाओं के वर्णन के लिए देखिए, U.K. Hicks the Finance of British Government, 1920-36, उ० ग्र०, पृ० २७०।

लगी थी किन्तु अधिकतम संकलित आपात आय के १० प्रतिशत से कम ही रहा। पहले विश्वयुद्ध के व्यय ने उच्च सीमा को ५० प्रतिशत के कुछ ऊपर तक पहुँचा दिया; १६२० की दशाब्दी में वह ४४ प्रतिशत के लगभग रही, और '३० की दशाब्दी के पूर्व भाग में मन्दी में बजट को सन्तुलित करने के एक प्रामाणिक किन्तु अधिकतर अशुद्ध प्रयास के कारण फिर ५० प्रतिशत से अधिक हो गई। इसी बीच १६२० की दशाब्दी में प्रतिगामी "पूंछ" ऊँची होती आ रही थी और १० प्रतिशत से कुछ अधिक हो गई (यदि दर भी सम्मिलित किए जाएँ तो वह १७ प्रतिशत के आस-पास पहुँच जाती); ५०० पौंड के स्तर के पास एक निश्चित "झुकाव" रह जाता था जहाँ कुल आपात घट कर केवल ६ प्रतिशत हो गया था।

जैसा चित्र ३ से सुगमतापूर्वक देखा जा सकता है, यह झुकाव आय के बढ़ने के साथ व्यय करों का प्रभाव कम होते जाने के कारण था जब कि निचली परिसीमाओं में आय कर अब भी उपेक्षणीय ही था। जहाँ तक यह झुकाव एक सांख्यिकीय भ्रम मात्र नहीं था वह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक भी हो सकता था, क्योंकि इसमें जनसंख्या के एक ऐसे स्तर पर हलका कर लगता था जो उत्पादिता की दृष्टि मे विशेष महत्त्व रखता है। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि चालू गणनाओं में झुकाव के महत्त्व को बहुत बढ़ा कर बताया गया, आंशिक रूप में स्थानीय दर के छूट जाने से जिसका इस परिसीमा में अधिक अनुपाती आपात था, और आंशिक रूप में, प्रत्येक आय वर्ग के अन्दर धूम्रपान और मद्यपान के करों के आपात का समान वितरण मान लेने के कारण। जैसा चित्र से दिखाई देगा, आय कर की मुक्ति सीमा के नीचे आ जाने और स्थानीय दर के उस में समाविष्ट हो जाने से झुकाव १६३७ तक, जिस किसी भी कारण से हो, लगभग लुप्त हो गया।

दुर्भाग्य से १६५३ की स्थिति के लिए वक्र दोबारा बनाने की दृष्टि से हमारे पास पर्याप्त जानकारी नहीं है—किन्तु उन के स्वरूप के विषय में कुछ बातें हम काफ़ी विश्वास के साथ कह सकते हैं। पहली, द्वितीय महायुद्ध के व्यय, प्रतिरक्षा व्यय की निरन्तर आवश्यकता और क्षेम व्यय (welfare

expenditure) के विस्तार (जो अन्तिम होते हुए भी सब से कम नहीं था) के कारण, दोनों वक्र पर्याप्त ऊँचे उठ आए हैं। युद्धपूर्व के करों का अधिकतम आपात जो १७ प्रतिशत था अब २४ प्रतिशत के लगभग प्रतीत होगा; १९४८ में वैयक्तिक आयों के प्रतिशत के रूप में आय-कर २०,००० पौंड से अधिक की सब आयों के ७३ प्रतिशत हो गए थे; १९५३ तक, जैसा हमने देखा है वे २,००० पौंड से औसतन ६६ प्रतिशत थे।

दूसरी बात, यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि दोनों वक्रों के मेल पर जो झुकाव था वह आय-कर के अधिक विस्तीर्ण हो जाने के कारण (मुख्यतः स्फीति के परिणामस्वरूप) और अपेक्षाकृत हलकी प्रतिगामिता वाले क्रय-कर की विद्यमानता के कारण अन्तिम रूप से लुप्त हो गया है। स्थानीय कर न केवल सापेक्ष महत्त्व में कम हो गया है, बल्कि इसका आपात, समकरण अनुदान के कार्य से और पूर्वकाल के सबसे अधिक दरों वाले क्षेत्रों में रोज़गार और आयों के बढ़ जाने से, क्षेत्र-क्षेत्र में अधिक समान हो गया है। अब लंदन में दर-आपात वैल्ज़ से पर्याप्त अधिक हो सकता है। स्थूल दृष्टि से, पेय और तम्बाकू के करों में वृद्धि, क्रय कर, तथा खाद्य करों और स्थानीय दरों के महत्त्व में कमी इन सब का संकलित प्रभाव, परिवार से हट कर आपात के अकेले व्यक्ति की ओर सरकने में हुआ है। यही प्रवृत्ति बच्चों और अन्य आश्रितों के बढ़ी हुई रिबेटों के द्वारा आय-कर में भी कार्य करती रही है; स्पष्ट है कि वह दूसरे और बाद के बच्चों के लिए प्रत्यक्ष पारिवारिक 'रिबेटों' के द्वारा अधिक बलवती हुई है।

४. विभाज्य व्यय का आपात और आय का पुनर्वितरण (The Incidence of Divisible Expenditure and the Redistribution of Income)—हमें अभी व्यक्तिओं को दिए गए द्रव्य रूप में अनुदानों (आय-हस्तान्तरण) के अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय के आय वितरण का, जिसे हम ने आय करों के पहले ही आय-करों के सामने रखा है, विचार करना है। किन्तु पहले हमें एक तार्किक कठिनाई देखनी होगी जो कर पक्ष में नहीं आती। यदि हम सार्वजनिक वित्त के द्वारा आय के पुनर्वितरण का साफ़ सुथरा सन्तुलन-पत्र बनाना चाहें

तो हमें जैसा हमने कर के पक्ष में किया है, किसी तरह चालू लेखा में हुआ कुल सार्वजनिक व्यय विभिन्न आय वर्गों में बाँटना होगा। परन्तु जहाँ अधिकांश कराधान[1] वैयक्तिक और पारिवारिक प्रश्न होता है, सार्वजनिक व्यय का लगभग आधा ऐसे लोगों को उपलब्ध करवाने में होता है जो सभी व्यावहारिक दृष्टियों से अविभाज्य (indivisible) होते हैं। भिन्न-भिन्न आर्थिक परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के नाम प्रतिरक्षा, न्याय, पुलिस तथा सड़कों के लाभ को, बल्कि प्रशासन के सामान्य व्यय को भी भला कैसे लगाया जाए ? स्पष्ट है कि ऐसा करने का कोई युक्तियुक्त उपाय नहीं है; कुछ लेखकों ने अपने पाठकों के सामने एक से अधिक उपाय रखे हैं किन्तु उनमें से किसी एक को बाकियों पर तर्कानुसार पूर्वता प्राप्त नहीं है। अधिक अच्छा यही मालूम देता है कि जो व्यय विभाज्य है, इस अर्थ में कि उसके लाभ विशिष्ट वर्गों के प्रति माने जा सकते हैं, उसे बाँट कर समाधान कर लिया जाए। फिर भी यहाँ हमारे सामने कर पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन समस्या है, क्योंकि विभाज्य लाभों के "उपभोग" से सम्बन्धित जानकारी, करारोपित वस्तुओं के क्रय की जानकारी जितनी अच्छी नहीं होती।

द्रव्य-अनुदानों के अतिरिक्त विभाज्य व्यय दो भिन्न रूप लेता है : (i) वस्तुओं और सेवाओं का प्रबन्ध, उदाहरणार्थ सार्वजनिक शिक्षा राष्ट्रीय-स्वास्थ्य सेवा अथवा स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा उपलब्ध किए गए मकानों के द्वारा, और (ii) कुछ वस्तुओं और सेवाओं के लागत से कम मूल्य पर उपभोग के अधिकार, जैसे साहाय्यित खाद्य। दूसरे प्रकार वालों को "व्यय हस्तान्तरण" माना जा सकता है—उलटे व्यय करों के बिलकुल समान। १९३७ की गणनाओं के अनुसार, जब कि आय हस्तान्तरण आवश्यकताओं के साथ क्रमवर्द्धमान थे (आय मान पर नीचे को जाते हुए आय का अधिक प्रतिशत बनते जाते थे), जहाँ तक निम्नतम आय वर्गों का सम्बन्ध है, यह

---

१. अवितरित लाभों पर लगे करों के सम्बन्ध में कठिनाई खड़ी होती है, जिन्हें सम्पत्ति के स्वामियों के नाम लगा दिया जाता है यद्यपि वे निर्वर्त्य आय (disposable income) का भाग नहीं होते।

बात सामाजिक सेवाओं अथवा व्यय हस्तान्तरणों द्वारा प्रदत्त लाभों के विषय में ऐसा नहीं है, यद्यपि संपूर्ण आय परिसीमा में सकल सामाजिक व्यय आवश्यकताओं के साथ अवश्यमेव वर्द्धमान था।

तालिका ६, १९३७ में तीन निम्नतम आय वर्गों में, मुख्य विभाज्य व्ययों के आय वितरण को प्रति व्यक्ति राशियों के रूप में प्रकट करती है। यह देखने में आएगा कि प्रत्येक अवस्था में बहुत निर्धनों की अपेक्षा कम निर्धनों को अधिक लाभ रहा। यह सर्वविदित तथ्य था कि अन्तर्युद्ध काल में स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा गृह-निर्माण ने मुख्य रूप से उन्नत वेतनभोगियो को लाभ पहुँचाया।[1] १९३७ की स्थिति में सामाजिक व्यय का ५० प्रतिशत आय हस्तान्तरणों में हुआ, ४३ प्रतिशत वस्तुओं व सेवाओं के प्रबन्ध में और केवल ७ प्रतिशत व्यय हस्तान्तरण में। संभव है कि ये अन्तिम (विद्यालयों में

तालिका ६, विभाज्य व्यय का आपात १९३७–३८

(The Incidence of Divisible Expenditure)

(व्यक्तियों को अनुदानों के अतिरिक्त)

(Other than grants to persons)

(पौंड, प्रतिवर्ष, प्रति व्यक्ति)

आय वर्ग	शिक्षा	स्वास्थ्य	गृह-व्यवस्था
१२५ पौंड से कम	२·१	१·२	०·४
१२५ पौंड, किन्तु २५० पौंड से कम	३·१	१·२	०·७
२५० पौंड, किन्तु ५०० पौंड से कम	३·७	१·३	—

१. अथवा, दूसरे ढंग से कहना हो तो, निम्नतम आय वर्ग के एक परिवार की "कौंसिल घर" पाने की आशा अगले वर्ग के परिवार की आशा का ६०% : इस वर्ग के ऊपर के आधे भाग के लिए नीचे के भाग की अपेक्षा कम आशा थी। देखिए, Barna उ० ग्र०, और M. E. A. Bowley, Housing and the State.

भोजन, सस्ता दूध आदि) भी आवश्यकताओं के साथ वर्द्धमान थे, किन्तु यदि थे तो आय-हस्तान्तरणों की अपेक्षा कम तीव्रता-पूर्वक थे।

युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न प्रकार के विभाज्य व्यय का सापेक्ष महत्त्व पर्याप्त बदल गया है। पूर्ण रोजगार की अर्थ-व्यवस्था में सहायता और बेकारी-लाभ में कमी का ध्वनितार्थ यह है कि आय हस्तान्तरण पहले से कम महत्त्व-पूर्ण और आवश्यकताओं के साथ कम वर्द्धमान है; दूसरी ओर खाद्य साहाय्यों से व्यय हस्तान्तरणों में भारी वृद्धि हो गई है। तालिका १०, १९४८ के लिए, तालिका ९ जैसा ही अनुमान प्रस्तुत करती है। यह देखने में आएगा कि—आश्चर्यजनक होते हुए भी—गृह-व्यवस्था ही चार सेवाओं में से एकमात्र ऐसी सेवा थी जो तीनों आय वर्गों में आवश्यकताओं के साथ क्रम वर्द्धमान थी। शिक्षा में, जहाँ २५० से ५०० पौंड के वर्ग को निचले वर्गों की अपेक्षा प्रतिव्यक्ति दुगुना मिला (निस्सन्देह उनके माध्यमिक शिक्षा सेवाओं का अधिक लाभ उठाने के कारण), तीसरे वर्ग ने फिर भी निम्नतम वर्ग से अधिक लाभ प्राप्त किया।

स्वास्थ्य सेवा और खाद्य साहाय्य दोनों प्रकट रूप से सारी परिसीमा में आवश्यकताओं (needs) के साथ **प्रतिगामी** (regressive) थीं। पूर्वोक्त के विषय में यह उपलब्ध सेवाओं के बारे में अज्ञान के कारण हो सकता है अथवा सलाह लेने में संकोच के कारण; उत्तरोक्त के विषय में यह निस्सन्देह सारे राशन को एक साथ लेने में असमर्थता के कारण था। इससे सामान्य खाद्य साहाय्यों की आय पुनर्वितरण के एक साधन के रूप में अपव्ययिता प्रकट होती है; वे अपने लाभ जिन्हें उनकी आवश्यकता है उनको और जिन्हें नहीं है उनको भी बिना विभेद के देते हैं। दूसरी ओर एक अर्थ में खाद्य साहाय्यों ने बहुत निर्धनों को अन्यों से अधिक लाभ अवश्य पहुँचाया; क्योंकि उनके पारिवारिक बजटों में अधिक सम्पन्न लोगों की अपेक्षा खाद्य का स्थान अधिक होता है; लागत से कम मूल्य पर खाद्य मिलने से आय की जितनी प्रतिशतता मुक्त हुई वह उसी हिसाब से अधिक थी। १९४८ में सामान्य खाद्य साहाय्य (क्षेम खाद्यों को छोड़ कर) अधिकतम राशि पर थे—३९ करोड़ पौंड; १९५३

तक वे कम होकर २० करोड़ पौंड से कुछ कम रह गए। किन्तु स्वास्थ्य सेवा का व्यय बढ़ता गया; १९४८ में (जब उसने अपनी गति नहीं प्राप्त की थी)

तालिका १०, विभाज्य व्यय का आपात, १९४८–४९

(The Incidence of Divisible Expenditure)

(व्यक्तियों को अनुदानों के अतिरिक्त)

(Other than Grants to Persons)

आय वर्ग	शिक्षा	स्वास्थ्य	गृह-व्यवस्था	खाद्य साहाय्य
२५० पौंड से कम	५·२	८·५	३·८	१४·७
२५० पौंड, किन्तु ५०० पौंड से कम	१०·७	१३·३	२·९	२२·८
५०० पौंड, किन्तु १००० पौंड से कम	८·८	१४·१	ऋण	२५·४

उसका व्यय २४ करोड़ पौंड था; १९५३ तक वह बढ़ कर ५० करोड़ से कुछ ही कम रह गया और इस प्रकार विभाज्य लाभों में सब से बड़ी मद थी। अतः (द्रव्य हस्तांतरण को छोड़ कर) विभाज्य लाभों के क्षेत्र में अधिकतर युद्धपूर्व का मानचित्र ही बना रहा, जिसमें बहुत निर्धनों को कम निर्धनों की अपेक्षा कम लाभ मिलने की प्रवृत्ति रही।

अब यदि हम कराधान और सामाजिक व्यय के परिणामों को एकत्र लाएँ तो हमें औपचारिक अर्थ में, सार्वजनिक वित्त के द्वारा आय के पुनर्वितरण का अनुमान प्राप्त हो जाता है। १९४८ के लिए इसका अनुमान १९३७ के अनुमानों के समान आधार पर लगाया गया है और तालिका ११ में दिया गया है। यह दिखाई देगा कि निम्नतम आय वर्ग को उत्पादन आयों (वैयक्तिक कारक आयों (personal factor incomes) में पूर्व के वर्ष की अपेक्षा बाद के वर्ष में कम शुद्ध वृद्धि हुई, किन्तु बड़ी आयों ने अपेक्षाकृत पर्याप्त अधिक खोया।

तालिका ११.[1] ९३७--३८ और १९४८-४९ में आय का पुनर्वितरण

(The Redistribution of Income in 1937--38 and 1948--49.)

आय वर्ग (सहस्त्र पौंड)		संख्या (दस लाख में)		पुनर्वितरण (प्रति व्यक्ति, पौंड)		निर्वर्त्य (disposable) आय, वैयक्तिक कारक आयों के प्रतिशत रूप में	
१९३७	१९४८	१९३७	१९५३	१९३७	१९५३	१९३८	१९५३
<·१२५	<·२५	२१·८	२०·५	+१२·६	+३९·०	११७·४	११२·२
·१२५-·२५	·२५-·५	१८·८	२०·८	+५·४	+२२·२	१०१·१	९६·८
·२५-·५	·५-१	४·८	५·६	+२·२	−२४·९	९६·९	८५·६
·५-१	१-२	१·२	१·४	−३३·०	−१४२·५	८५·५	७६·०
१-२	२-५	०·५	०·५	−११५·०	−७३५·०	७६·०	६४·७
२-५	५-२०	०·३	०·१	−५६५·०	−४३८०·०	५९·७	४२·५
>१०	>२०		·००५	−७३७५·०	−३७४५०·०	२७·१	१७·३

इस परिवर्त्तन में कार्य करने वाला मुख्य कारक स्पष्टतया सारी संरचना में कराधान का बढ़ा हुआ भार था। इसका आंशिक कारण तो युद्ध और उसके बाद की स्थिति थी जिसमें निरन्तर चलने वाला प्रतिरक्षा व्यय सम्मिलित है, किन्तु मुख्य कारण स्वयं सामाजिक व्यय कार्यक्रम ही था। इस आकार का कोई कार्यक्रम हो तो उसकी वित्त-व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में उन वर्गों के द्वारा होना अनिवार्य है, जिन्हें उसका लाभ होता है। किन्तु उन वर्गों के अन्दर इसके साथ-साथ एक पार्श्वीय (lateral) पुनर्वितरण निरंतर रूप से जारी रहता है—स्वस्थ लोगों से रोगियों को, काम करने की उम्र वालों से प्रौढ़ों को और अकेले तथा सन्तानहीन व्यक्तियों से छोटे परिवारों के माता पिताओं को। अतः आय के द्वारा पुनर्वितरण के अनुमान हलचल का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग छोड़ जाते हैं। तथापि यह अवश्य ध्यान में आएगा कि अविभाज्य व्यय में भारी वृद्धि के बाद भी, निम्न आयों में हुई वृद्धियों और उच्च आयों में आई न्यूनताओं में अन्तर १९३७ की अपेक्षा १९४८ में अधिक

१. From Cartter : The Redistribution of Income in Post War Britain,

था। इस अर्थ में पुर्नवितरण की गति तीव्र हो गई थी। इस बात पर फिर से बल देना आवश्यक है कि इस प्रकार प्राप्त किए गए आय पुर्नवितरण के परिणाम उपरिक हैं, जो कर देने अथवा लाभ प्राप्त करने के समय की स्थिति को ही प्रकट करते हैं और उस आर्थिक प्रक्रिया के विषय में हमें कुछ नहीं बता सकते जिसके द्वारा ये वृत्त अर्थ-व्यवस्था के भीतर रिमते हैं। हाँ, जाँच किस दिशा में करनी चाहिए यह बता कर वे प्रभावी आपात की खोज का कार्य सरल अवश्य कर देते हैं।

भाग ३

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक वित्त

(PUBLIC FINANCE IN THE NATIONAL ECONOMY)

अध्याय १७

सार्वजनिक वित्त तथा गतिविधि का स्तर

(Public Finance and the Level of Activity)

१. सार्वजनिक वित्त और राजकोषीय नीति (Public Finance and Fiscal Policy)—गत अध्याय ने समूचे सार्वजनिक वित्त के प्रभावों के एक पक्ष के साथ हमारा परिचय करवाया। अब हमें वितरणात्मक विचारों से उत्पादनीय परिणामों की ओर जाना होगा। स्पष्ट है कि दोनों असम्बद्ध नहीं हैं क्योंकि उपभोग की रूपरेखा और पर्याप्त मात्रा में नियोजन का प्रमाण और प्रकार भी, बहुत कुछ निर्वर्त्य आयों के वितरण के द्वारा निश्चित होता है।

राजकोषीय नीति, सार्वजनिक वित्त के विभिन्न तत्त्व, प्रथमतः अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए (जैसे कर का पहला कर्त्तव्य राजस्व संग्रह करना है) जिस ढंग से, सम्मिलित रूप से एक रचना में बिठा कर आर्थिक नीति के उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए लगाया जा सकता है, उससे सम्बन्ध रखती है। उद्देश्यों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं : एक ओर रोजगार के उच्च स्तर पर स्थायित्व और दूसरी ओर उपलब्ध साधनों से अधिकतम उपज प्राप्त करने के लिए उत्पादिता में निरंतर वृद्धि।

अतः राजकोषीय नीति की चर्चा करते हुए हमें सब प्रकार के सार्वजनिक

व्ययों और आयों का विचार करना होता है : एक ओर चालू वस्तुओं और सेवाओं, ऋणों, हस्तान्तरणों, अचल पूँजी निर्माण और 'स्टॉक' के क्रय पर व्यय; दूसरी ओर कर राजस्व और सम्पत्ति से सार्वजनिक आय, उधार और ऋण प्रबन्ध। राजकोषीय नीति के लिए इन सब तत्त्वों को परस्पर योग्य सम्बन्ध में रखना आवश्यक है। वास्तव में संतुलन राजकोषीय नीति का सार है, विशेषकर चालू खर्च और बजट की असली राजस्व मदों का परस्पर सम्बन्ध क्योंकि (जैसा हम आगे देखेंगे) यह अर्थव्यवस्था की बचत अथवा अपसंचय में शासन के अंशदान को प्रकट करता है। राष्ट्र के आर्थिक बजट को संतुलित करने के लिए इसी प्रमाण का समायोजन करना पडता है। यह लेखा चांसलर के बजट से कहीं अधिक मौलिक है।

अब जब कि राजकोषीय नीति शासन के एक सुनिश्चित आर्थिक कर्त्तव्य के रूप में विकसित हो गई है, प्रत्येक देश अपने सार्वजनिक वित्त को स्थायित्व और वृद्धि के जुड़वाँ उद्देश्यों की खोज के लिए प्रयोग करना चाहता है; किन्तु उनका सापेक्ष महत्त्व देश-देश में भिन्न-भिन्न स्वीकार किया जाता है। एक निर्धन और पिछड़ा हुआ देश वृद्धि पर अधिक से अधिक बल देगा, विशेषकर यदि, जैसा कि होना बिल्कुल संभव है, उसकी जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही है। तथापि वह स्थायित्व के विचार की उपेक्षा नहीं कर सकता। विकास की प्रक्रिया में स्फीति की ओर एक नैसर्गिक झुकाव रहता है—नए कार्यों में लगे हुओं को अतिरिक्त आय मिलती है जब कि, प्रारम्भ में नई माँग की पूर्ति के लिए अतिरिक्त उपभोक्ता वस्तुएँ (Consumers' Goods) नहीं होतीं। अतः इस प्रकार के देश के लिए, यदि उसने भुगतान शेष की कठिनाइयों बल्कि बेलगाम स्फीति (unmanageable inflation) के भय से भी बचना हो तो बुद्धिमत्ता इसमें होगी कि अपने विकास के साथ कठोर कर लगाए और सार्वजनिक वित्त के दूसरे संकोचीय पग उठाए।

दूसरी ओर ऐसा देश, जिसके प्राकृतिक साधन पहले ही ऊँचे दरजे तक विकास कर चुके हैं, विशेषकर वह जिसकी जनसंख्या तेज़ी से बढ़ नहीं रही है (जिससे, रुचिओं और प्रविधियों में होने वाले अपरिहार्य परिवर्त्तन बढ़ती

हुई मांग की लहर में सरलता से समा नहीं सकते) स्थायित्व पर बल देगा, अर्थात् पहले से विकसित साधनों को पूरी तरह कार्यरत रखने का प्रयत्न करेगा। साथ ही यदि वह वृद्धि के साधनों की उपेक्षा करेगा—अर्थात् नई प्रविधियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान सहित नए नियोजन के लिए पर्याप्त साधनों को नहीं लगाएगा—तो यह भय हो सकता है कि वह उस प्रकार के वृद्धिरोध (stagnation) में उलझ जाए जिसमें १९३० की दशाब्दी में अधिकांश विकसित देश फँस गए दिखाई देते थे।

वर्त्तमान अध्याय में हमारा मुख्य विषय स्थायित्व प्रविष्टि के लिए राजकोषीय नीति से सम्बद्ध है; अगले में हमें वृद्धि के लिए राजकोषीय साधनों का संक्षिप्त विचार करना होगा। किन्तु ये दो पक्ष अटूट ढंग से जुड़े हुए हैं। विस्तार की एक स्थिर गति, जो उतार-चढ़ाव आते हैं, उनकी उग्रता को कम करने की प्रवृत्ति रखेगी; एक सफल पूर्ण-रोजगार नीति वृद्धि के लिए अनुकूल वातावरण बनाएगी।

सार्वजनिक प्राधिकारियों पर आर्थिक स्थायित्व (stability) का कुछ उत्तरदायित्व होना चाहिए, यह विचार इंगलैण्ड में नया कदापि नहीं है यद्यपि इसे १९४४ तक औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं किया जाता था। बैंक आफ् इंगलैण्ड के उद्यमशील गवर्नर उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक काल से यह अनुभव करते थे कि बैंक की साख नीति इस बात के होते हुए भी कि बैंक का पहला कर्त्तव्य आन्तरिक की बजाय अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व से सम्बन्ध रखता है, सट्टे के द्वारा हुई तेजियों (speculative booms) के शिखरों को साख पर रोक के द्वारा काट कर, और मंदी की खाइयों को सुलभ द्रव्य नीति के द्वारा भर कर, स्थायित्व की दिशा में इतना योगदान दे सकती है जो किसी तरह भी उपेक्ष्य नहीं होगा। वृद्धि को बढ़ाने में सार्वजनिक व्यय जो कार्य कर सकता था, उस पर (जैसा हमने देखा है) एडम स्मिथ और उन के समकालीन लेखकों ने उस समय बल दिया था जब इंगलैण्ड विकास के मार्ग पर अभी चला ही था और इस कारण जिस समय उसको उन आर्थिक व सामाजिक "उपरिकों"

(overheads—जैसे सड़कों और विद्यालयों) की अविलम्ब आवश्यकता थी जो आज विकासी देशों की मुख्य जरूरत है।

उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के एक भाग में जब ये उपरिक उपलब्ध कर दिए गए थे, और बिना अन्य सहायता के निजी उद्यम के द्वारा वृद्धि होने का विश्वास मालूम हो रहा था, उस समय ब्रिटिश नीति का बल बदल कर, वृद्धि के मार्ग में से राजकोषीय बाधाओं को दूर करने पर आ गया। विशेषकर, बचत को आय कर से मुक्त करने के उपायों पर पर्याप्त विचार व चर्चा हुई। समय के बीतने के साथ जब ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था की तेजी से बढ़ने की स्थिति निकल गई, यह राजकोषीय नीति जो कुछ न कुछ नकारात्मक थी आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त हो गई, जबकि दूसरी ओर बढ़ती समृद्धि और सामाजिक चेतना में वृद्धि ने उसे वितरणात्मक आधार पर अधिकाधिक अस्वीकार्य बना दिया।

वर्त्तमान स्थिति में, आर्थिक स्थायित्व अथवा संपूरक वित्त की नीति को ठीक तरह चलाने के लिए एक पहली शर्त थी; औद्योगिक उतार-चढ़ावों के अन्तर की (मुद्रा सम्बन्धी शक्तियों से पृथक्) वास्तविक शक्तियों का पर्याप्त आर्थिक विश्लेषण। ब्रिटेन में इस विश्लेषण को उपलब्ध कराने के पहले पग, प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पहले के वर्षों में (सबसे उल्लेखनीय प्राध्यापक पिगू और प्राध्यापक रॉबर्टसन[1] द्वारा) उठाए गए। १९०७ के संकट काल ने सर्वप्रथम इस ओर रुचि उत्पन्न की ऐसा प्रतीत होता है। १९२० की दशाब्दी के सुदीर्घ न्यून-रोजगार और १९३० की दशाब्दी की चिरकालिक (chronic) बेकारी, जो उस समय के लोगों को १८७०-९० के प्रसिद्ध बुरे वर्षों की मन्दी से कम नहीं मालूम देती थी, ने विचार को और अधिक प्रोत्साहन दिया। हम संपूरक वित्त के मौलिक सिद्धान्त के लिए १९२० और ३० की दशाब्दियों के ऋणी है।

---

१. Pigou का ग्रन्थ Wealth and Welfare (जो The Economics of Welfare का प्रारूप था) १९१२ में प्रकाशित हुआ; D. H. Robertson का Industrial Fluctuations १९१५ में।

ब्रिटेन के बाहिर, राजकोषीय नीति के विश्लेषण के विषय में सबसे रोचक बात हुई स्वीडन में, जहाँ तरुण अर्थशास्त्रियों का एक वर्ग (विशेष रूप से ई० लिन्डाल और जी मिर्डल[१]) जो अपने आचार्य नट विक्सेल की देख-रेख में सामान्य अथवा बृहत्-आर्थिक (macro-economic) दृष्टिकोण में पला था, संपूरक वित्त की एक व्यापक और युक्तियुक्त नीति के लिए टटोल रहा था। स्वीडन का अंशदान इस विषय में उल्लेखनीय था कि उसने पहले से ही तीन बातों पर बल दिया जो बाद के अनुभव में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं : (i) इसका पक्का प्रबन्ध करने के लिए एक यंत्र की स्थापना का महत्त्व कि भावी मन्दियों में सार्वजनिक प्राधिकारी अधिक कर लगाने और कम खर्च करने की विकृत नीति पर फिर आचरण न करें, जैसा उन्होंने भूतकाल में किया और आगे भी कर सकते हैं यदि विशेष पग न उठाए जाएं; (ii) अर्थ-व्यवस्था में विकास के प्रोत्साहन और उनके अपने स्थायीकरण के प्रभाव दोनों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक परिसंपत् (assets) निर्माण करने का महत्त्व (iii) राजकोषीय नीति को नए उत्तरदायित्व के लिए उपयुक्त बनाने की दृष्टि से सार्वजनिक लेखांकन पद्धति और बजट की व्यवस्था को ठीक मेल में बिठाने की आवश्यकता।[२]

उसी बीच ब्रिटेन में उतार-चढ़ावों का आर्थिक विश्लेषण स्थिर भाव से प्रगति कर रहा था। नवीन दृष्टिकोण में पहला महत्त्वपूर्ण पग था कीन्स का "Treatise on Money" जो १६२० की दशाब्दी के बाद के वर्षों में लिखा गया। उसने बचत और नियोजन के सम्बन्ध के चक्रीय महत्त्व की ओर, विशेषकर निजी और व्यवसायी दोनों प्रकार के पूँजीपतियों की मन्दी के दिनों में सामान्य ढंग से खर्च अथवा नियोजन करने की अपेक्षा अपने नकद

---

१. Lindahl का Penningspolitikens medel १६२६ में प्रकाशित हुआ, Myrdal का Economic Effects of Public Finance (Swedish में भी) १६३४ में; स्वीडिश शासन को भी श्रेय देना चाहिए जिसका बेकारी सम्बन्धी राजकीय आयोग, १६३० की दशाब्दी के स्वीडन के अध्ययनों का प्रत्यक्ष कारण था।

२. इसके महत्त्व के लिए देखिए अध्याय २०।

द्रव्य को बढ़ाने और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था में आयों के स्तर न बने रहने देने की प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकर्षित किया। किन्तु विश्लेषण की इस अवस्था में, खर्च करने अथवा बचाने की प्रवृत्ति और परिणामस्वरूप आयों का स्तर मूलतः व्याज की दर से सम्बद्ध किया जाता था। इस कारण नीति राजकोषीय यन्त्र की अपेक्षा मुद्रा-यंत्र की ओर प्रेरित होती थी। तरलता की इच्छा को सुलभ मुद्रा नीति के द्वारा तुष्ट करके यह विश्वासपूर्वक आशा की जाती थी कि समुत्थान (recovery) प्राप्त किया जा सकेगा। समकालीन स्वीडिश विचारधारा की भी यही विशेषता थी।

सार्वजनिक व्यय समुत्थान् में जो प्रत्यक्ष अंशदान दे सकता है उस का पहली बार विशद विवेचन आर० एफ० काहन ने १९३१ के ग्रीष्म में किया।[1] यह विचार कि मन्दी में सार्वजनिक व्यय को बेकारी के उपचार के रूप में प्रयोग किया जाए निश्चित ही नया नहीं था, सहायता केन्द्र (Relief Works) विस्मृत अतीत काल से प्रयुक्त होते आ रहे हैं, किन्तु उनके पीछे हेतु मानवीय अथवा नैतिक था, न कि आर्थिक। इस प्रकार के कार्यों के प्रति विक्टोरियन दृष्टिकोण जिसे तथाकथित "कोषागार दृष्टिबिन्दु" के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था, यह था कि सार्वजनिक उपक्रमों का कोई लाभदायक आर्थिक प्रभाव नहीं हो सकता। जो कार्य उस प्रकार होंगे वे या तो आर्थिक दृष्टि से व्यर्थ होंगे, या फिर जो वैसे भी बाद में बनने ही वाले थे उन्हीं को कुछ जल्दी कर दिया गया है ऐसा दिखाई देगा। किन्तु नवीन दृष्टिकोण ने दर्शाया कि ऐसे कार्यों के ऊपर एक निश्चित अवधि में, जो नई आयें वितरित होंगी वे केवल माँग को बनाए रखने में ही सहायक नहीं होंगी बल्कि उनके "गुणक" प्रभाव (multiplier effects) होंगे, जिनका परिमाण नई आयों में से आयात की गई वस्तुओं पर व्यय के द्वारा अथवा बचत के द्वारा, होने वाले च्यवन (leakage) की मात्रा पर निर्भर होगा। और भी, यह अनुकूल प्रभाव, सम्पूर्ण

---

१. Economic Journal में "The Relation of Home Investment to Unemployment".

होने के पश्चात् जब ये कार्य काम में आने लगेंगे, उस समय जो कुछ होगा उस पर किसी भांति निर्भर नहीं है।

२. संपूरक वित्त के सिद्धान्त (The Principles of Compensatory Finance)—सैद्धान्तिक विकास की अगली अवस्था ने तात्त्विक रूप में उस विश्लेषणात्मक आधार को पूर्ण कर दिया जिस पर वर्तमान राजकोषीय नीति आधारित होती है। यह १९३५ के अन्त में कीन्स के ग्रन्थ "General Theory of Employment" के प्रकाशन से अंकित हुआ। विश्लेषण मौलिक रूप में "Treatise" और गुणक के विश्लेषण का आगे विकास ही था किन्तु पूर्वोक्त से यह इस बात में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भेद रखता है कि यह गतिविधि के स्तर का प्रभावी माँग के स्तर के साथ और बचत का, व्याज दर की अपेक्षा, आय के स्तर के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। बल में हुए इस परिवर्तन के, नीति के लिए, दो ध्वनितार्थ थे। प्रथम काम करने वाले कारक (Operative Factors) सामने आए जो माग नियन्त्रण की अपेक्षा राजकोषीय नीति के द्वारा संभाले जा सकते थे। इसका अर्थ उस तथ्य को अस्वीकार करना नहीं था कि व्याज के नीचे दर यदि आर्थिक आधार पर सदा उतने निश्चित रूप से नहीं तो वितरणात्मक और बजटीय आधार पर तो लाभदायक हो ही सकते हैं। द्वितीय, यह स्पष्ट हो गया कि राजकोषीय नीति का उत्तरदायित्व सार्वजनिक पक्ष के लिए केवल अपनी चिन्ता करने वाली नीति (जो "राजकोषीय विकृति" (fiscal perversity) से बचने में ध्वनित होती प्रतीत होगी) की चारदीवारी तक सीमित न रह कर अर्थ-व्यवस्था में सारी मुद्रा आयों के स्तर का मेल ठीक बिठाने के कार्य तक बढ़ जाना आवश्यक है।

१९३० की दशाब्दी, कारकों के सामर्थ्य के पूर्ण उपयोग के लिए अपर्याप्त आयों के सृजन के कारण उत्पन्न न्यून रोजगार की समस्याओं में पूरी तरह व्यस्त थी। इस स्थिति में सार्वजनिक नीति में विशेष परिशुद्धता की आवश्यकता नहीं थी। एक बार स्वर्ण अधिमान (Gold Standard) को त्याग देने के पश्चात् व्यवहार में जितना भी विस्तार लाया जा सकता था उससे अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयाँ अथवा पूर्ति की न्यूनता उत्पन्न होने की

संभावना नहीं थी। वास्तव में इस अवस्था में "संस्फीति" (reflation) के मार्ग में प्रावैधिक कठिनाइयाँ दुर्गम थीं और १६३० की दशाब्दी में किसी भी देश द्वारा राजकोषीय नीति में विशेष सफलता प्राप्त नहीं की गई। हाँ, संपूरक वित्त (compensatory finance) के सिद्धांत और साधन दोनों को अधिकाधिक समझा और स्वीकार अवश्य किया जा रहा था।

यह अनुभव किया गया कि मंदी में सुलभ मुद्रा नीति (जो वृद्धि और समुत्थान दोनों को सहायता देगी) के अतिरिक्त राजकोषीय नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसमें केवल बजट का संतुलन करने के लिए करों के दर बढ़ाने के प्रलोभन से बचा जाए और साथ ही व्यय का एक सुनिश्चित कार्यक्रम भी हो। उस कार्यक्रम की वित्त-व्यवस्था कराधान से की ही जा सकती है किन्तु यह शंकातीत ढंग से सिद्ध हो गया[१] कि उसको ऋण से पूरा करना अधिक प्रभावी होगा, क्योंकि करों का अपना संकोचीय असर होगा जिसे दूर करने के लिए फिर उपाय करना पड़ेगा।

किन्तु यह स्थिति सर्वमान्य किसी भांति नहीं थी। १६४४ के बेकारी सम्बन्धी सम्मिलित श्वेत-पत्र (Coalition White Paper on Unemployment) ने जिसने राजकोषीय नीति के उत्तरदायित्व की अधिकृत स्वीकृति पर मुहर लगाई थी यह कहने से ध्यानपूर्वक अपने आप को रोका कि सामान्य बजट के लिए न्यूनता वित्तप्रबन्धन (Deficit Financing) की आवश्यकता हो सकती है यद्यपि वह बेकारी बीमा नीधि के बजट के लिए उसे स्वीकार करने को तैयार था। एक और विचारधारा थी जिसको एक विशिष्ट व्यय-कार्यक्रम अनावश्यक प्रतीत होता था; करों के दर न बढ़ाने से जो घाटा अपने आप उपस्थित हो जाएगा उसे उठने देना पर्याप्त मालूम होता था। किन्तु समुत्थान (recovery) के लिए राजकोषीय नीति को सज्जित करने में बजट के दोनों पक्षों का लाभ उठाया जाए इसके लिए पर्याप्त कारण नहीं दिखाई देता।

१. देखिए N. Kaldor द्वारा Lord Beveridge के Full Employment in a Free Society के Appendix में दिए गए "माडल"

"Treatise" से कहीं अधिक "General Theory" मंदी की संतान थी; ऊपर-ऊपर से देखें तो नीति की दृष्टि से दोनों में मुख्य अन्तर था मुद्रा-सम्बन्धी नीति की अपेक्षा राजकोषीय नीति पर दिया जाने वाला अधिक बल किन्तु वास्तव में एक अधिक फलदायी दृष्टिकोण के लिए द्वार खुल गया था जो न केवल सिद्धांत रूप में नीति की ठीक दिशा का निर्णय करना संभव बना देगी अपितु यह भी कि शासन को किस परिमाण में कार्य करना होगा जिससे स्थायी मूल्यों पर पूर्ण रोजगार बना रहे। इसके लिए यंत्र था[1] कुल उपलब्ध साधनों का अनुमान लगा कर उसे सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में उपभोग और नियोजन के लिए इन पर जितनी मांग का बोझ पड़ने की संभावना है उसके अनुमान के सामने रखना। अनुमान राष्ट्रीय आय की लेखा की समेकित पद्धति के अनुसार व्यवस्थित गणनाओं पर आधारित चाहिए, इस अर्थ में कि किसी आंकड़े को, तदनुसार अन्यत्र समायोजन की आवश्यकता खड़ी हुए बिना, बदलना संभव न हो।

आमने सामने रखे गए दोनों अनुमानों में जितना भी अन्तर हो, (यदि हो तो) वह एक ऐसी "रिक्ति" (gap) होती है जिसे सार्वजनिक नीति के द्वारा पूरा करना होता है : या तो प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा अथवा ऐसी परोक्ष क्रिया द्वारा जो निजी क्षेत्र को उसे स्वयमेव पूरा करने के लिए कारण उपस्थित करे। यह विशेष महत्त्वपूर्ण था (यद्यपि जब तक, ऊपर उल्लिखित लेख में कीन्स ने स्वयं प्रकट नहीं किया तब तक इसकी ओर ध्यान नहीं गया) कि "रिक्ति" किसी भी दिशा में हो सकती है अर्थात् उपलब्ध साधनों की तुलना में बहुत अधिक मांग के रूप में भी और बहुत कम मांग के रूप में भी। इस प्रकार शासन के प्रयास का ठीक परिमाण निश्चित करने का नवीन उपाय स्फायी अथवा अपस्फायी दोनों स्थितियों में सामान्य रूप से लागू हो सकता था।

जिस साल समूही दृष्टिकोण (aggregative approach) पर पहला

१. Keynes के "Britain's Income and Economic Potential," Economic Journal, December १९३१ में जिस प्रकार अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या की गई है।

"वैज्ञानिक" (scientific) संपूरक वित्त आधारित था वह युद्धकाल में तो पर्याप्त काम आया, जब अर्थ-व्यवस्थाएँ, विशेषकर ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था राजकोषीय नीति के सहायक रूप में प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के द्वारा असाधारण ढंग से संभाली जा सकती थी। अधिक जटिल स्थितियों में नीति निर्देशन के विश्वस्त आधार के रूप में यह बहुत अपरिष्कृत (crude) और गतिहीन (static) सिद्ध हुआ है। आर्थिक कारकों की गतिविधि के विषय में कुछ परिशुद्धता के साथ पूर्वानुमान करने के लिए आवश्यक है कि समूहों को अंगरूप क्षेत्रों (component sectors) के बजटों में विभाजित किया जाए : स्थूल रूप में उपभोक्ता, परिवार, फर्में[1] सार्वजनिक प्राधिकारी और शेष संसार। जितने अधिक उपांगों में इन्हें आगे विभाजित किया जा सके, उतना ही चक्रों की गति से सारे यन्त्र को चलते हुए देखना और इस प्रकार उसके मार्ग का पूर्वानुमान करना सरल हो जाता है।

पिछले कुछ सालों में विशेषकर १९५२[2] से ब्रिटेन में, इस प्रकार के "सामाजिक लेखांकन" (Social Accounting) में, जो काम इसे प्राप्त हो गया है, उल्लेखनीय प्रगति हुई है। आगे चल कर हमें इसकी अधिक चर्चा करनी होगी। प्रक्रिया की प्रविधि अभी तक पूरी तरह स्थापित नहीं हुई और राजकोषीय नीति से सम्बन्धित आँकड़े प्रतिवर्ष सुधरते जाने की आशा हो सकती है। किन्तु, आवश्यक क्रान्ति हो चुकी है। व्यवस्थित मात्रात्मक अनुमान अधिकाधिक अविश्वसनीय भयों का स्थान लेते जा रहे हैं। एक बार ठीक सांख्यिकीय प्रश्न पूछ लिये जाएँ तो आज नहीं तो कल उनके सांख्यिकीय उत्तर भी उपलब्ध हो ही सकते हैं, और इस प्रकार आर्थिक तन्त्र की गतिविधि के सदा वर्द्धमान ज्ञान के लिए मार्ग खुल जाता है। सामाजिक लेखांकन पद्धति किसी विशिष्ट प्रकार की नीति से सम्बद्ध नहीं; इसके अपने नीति-ध्वनितार्थ

१. सार्वजनिक निगमों को शेष फर्मों से पृथक् कर लेना भी सुविधाजनक होता है।

२. जोकि उस वर्ष प्रकाशित होने वाली वार्षिक "नील पुस्तकों" में से प्रथम द्वारा संकेतित हुआ। इन पुस्तकों ने तब तक राष्ट्रीय आय तथा व्यय सम्बन्धी श्वेत पत्रों में उपलब्ध जानकारी में बहुत वृद्धि कर दी।

(policy implications) कुछ नहीं हैं। वह तो केवल एक साधन है, जिस प्रकार की भी नीति कोई देश चाहे उसको अधिक अच्छी प्रकार कार्यान्वित करने का; और वह साधन निःशक्त होता है जब तक नीति पर आचरण के उपयुक्त और लचीले उपाय भी उपलब्ध न हों। अब हमें उन्हीं की ओर ध्यान देना होगा।

३. संपूरक वित्त के साधन : राजस्व पक्ष की ओर से आघात (The Means of Compensatory Finance : Attack from the Revenue Side)—संपूरक वित्त के उपकरणों की चर्चा करते हुई, प्रारम्भ में ही दो प्रकारों में भेद कर लेना लाभदायक है। एक तो हैं स्वचालित स्थायिकार (automatic stabilizers) जो सार्वजनिक वित्त की प्रणाली में अंग के समान अभेद्य होते हैं, जिस कारण सामान्य कार्य में ही उनका एक प्रति-चक्रीय (counter-cyclical) प्रभाव होता है, और दूसरे वे जिनको नीति सम्बन्धी निर्णय के परिणामस्वरूप लागू करना होता है। प्रथम के दो लाभ हैं : वे तापस्थाप (thermostat) की तरह तत्काल सक्रिय हो जाते हैं और दूसरा कि वे किसी निर्णय की राह नहीं देखते, जिसकी आवश्यकता अपने आप में इस बात की स्वीकृति है कि कुछ न कुछ गड़बड़ है और इस कारण जिसका लोगों के विश्वास पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। इन स्वचालित स्थायिकारों में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है सार्वजनिक सहायता सहित बेकारी बीमा प्रणाली। अच्छे रोजगार के दिनों में धन नियमित रूप से संग्रहीत होता है और मंदी के दिनों में विसर्जित हो जाता है। एक और जो उतनी सरलता से उस रूप में पहचाना नहीं जाता है, अचल परिसपत् (fixed assets) और 'स्टाक्स' का, कर के उद्दिष्ट से अवमूल्यन, क्रमशः उपकरण अथवा सब से अधिक काल तक रखे गए स्टाक्स की मूल लागत के अनुसार गिनने की प्रथा। बढ़ते हुए मूल्यों के काल में इस प्रथा का परिणाम होता है, शुद्ध लाभ से अधिक कर लगना, और जब मूल्य गिरते हैं तो कर-दायित्व शुद्ध लाभ से कम होता है।

इन स्वचालित स्थायिकारों में दोष यह है कि जितना कुछ नीति के एक भव्य निर्णय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है उसकी अपेक्षा इन का प्रभाव बहुत

क्षीण होता है। किन्तु बहुत बार उनके प्रभाव को ऐसे ढंग से पुष्ट किया जा सकता है जिसमें करना विशेष कुछ भी नहीं पड़ता। जैसे अभिवृद्धि के काल में सामाजिक बीमा अंशदान के दर बढ़ाए जा सकते है और मंदी के समय घटाए जा सकते हैं, अथवा जैसा अनेक वार सुझाया गया है उनके स्थान पर श्रम को काम पर लगाने के लिए प्रति व्यक्ति साहाय्य दिया जा सकता है। १९३४ के बेकारी अधिनियम के द्वारा बेकारी बीमा प्रणाली में इस प्रकार की एक प्रति-चक्रीय गति सम्मिलित कर दी गई जिसके अनुसार अंशदान और हित के दरों के लिए उत्तरदायी परिनियत (statutory) समिति को निर्देश दिया गया कि केवल पूरे चक्र पर ही अपने ब्रजट को संतुलित करे। जब बीमा निधियों को १९४८ में मिला दिया गया तब यह बात निकाल दी गई; यह मानना होगा कि पूरे चक्र में बजट संतुलन की कल्पना (जो मूलत: एक स्वीडिश विचार था[1]) अधिक व्यवहार्य नहीं है क्योंकि उसमें एक इतनी नियमितता मान ली जाती है जो बहुत कम चक्र प्रकट करते है। १९४४ प्रतिवेदन ने भी इस प्रकार की एक प्रतिचक्रीय युक्ति के उपयोग का बलपूर्वक समर्थन किया। जितना सशक्त यन्त्र यह १९३० की दशाब्दी में होता, उससे कहीं अधिक सशक्त बीमा प्रणाली में सारे राष्ट्र के सम्मिलित कर लिये जाने के बाद आज हो सकता है।

उसी प्रकार की गतिविधि की अवस्था के अनुसार, जिन शर्तों पर अव-मूल्यन छूट (depreciation allowances) दी जाती है उन्हें बदला जा सकता है। प्रारम्भिक (initial) छूट[2] की स्थापना से, जिसके अनुसार एक परि-संपत् के सारे जीवन में समान दर रखने की अपेक्षा उसके जीवन के पहले ही वर्ष में लागत के एक बड़े भाग का अपलेखन (written off) किया जा सकता है, इसका एक अत्यन्त सरल उपाय है। एक अचल परिसंपत् की कुल लागत के एक बड़े भाग का शीघ्र अपलेखन (एक समय तो पहले वर्ष में ही ४० प्रतिशत की इजाज़त थी), दो तरह से नियोजन को उद्दीप्त करता है, एक

---

१. १९३८ के बजटीय सुधार के एक भाग के रूप में।

२. पहले पहल १९४५ में, देखिए अध्याय १२।

तो परिसंपत् के जीवन-काल में मूल्यों और आर्थिक भविष्य में परिवर्त्तनों के प्रति भेद्यता (vulnerability) को घटा कर और दूसरा यदि एक के बाद एक कई नियोजन हाथ में लिये जा रहे हों तो कर-दायित्व को स्थगित कर के। इसी युक्ति के कुछ रूपान्तर, नियोजन के अधिक दीर्घकालीन प्रोत्साहन के लिए भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। (देखिए अध्याय १८) । दूसरी ओर, १९५२ का अनुभव, जब प्रारम्भिक छूट अस्थायी रूप से हटा ली गई थी और निजी नियोजन पर्याप्त मात्रा में कट गया था, संकेत करता है कि यन्त्र मन्दी के स्थायिकार की अपेक्षा अभिवृद्धि के स्थायिकार के रूप में और भी अधिक उपयोगी है।[1]

जब हम ऐसे अधिक सशक्त कार्यों की ओर मुड़ते हैं जिन्हें जानबूझ कर हाथ में लिया जा सकता है, तो यह दिखाई देगा कि एक स्फीति के निराकरण के लिए अधिक उपयोगी होगा, दूसरा समुत्थान बढ़ाने के लिए। स्थूल रूप में, इसकी अपेक्षा अवश्य रखनी चाहिए कि जितनी करों में रियायत से समुत्थान बढ़ाने में सहायता होगी उससे अधिक अतिरिक्त कर-स्फीति के विरुद्ध काम आएँगे। कुछ परिस्थितियों में यह भी संभव है कि अतिरिक्त कर समुत्थान को ही बढ़ाएँ।

स्फीति के निराकरण के साधनों की चर्चा करते हुए पहले परिस्थिति के प्रकार का भेद कर लेना वांछनीय है क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति में विशिष्ट कर-युक्तियाँ, उनकी पात्रता और उनके प्रभाव एक जैसे नहीं होंगे। इसलिए हम उनका निम्न वर्गीकरण कर सकते हैं—(i) प्रत्यक्ष युद्ध की अवस्था; (ii) ऐसी अवस्था जिसमें स्फायी दबाव मुख्यतः लगभग पूर्ण रोज़गार लाने वाले प्रतिरक्षा व्यय के असर के कारण हो (शीत युद्ध); और (iii) एक नई प्रविधि का आकस्मिक उपयोग अथवा औद्योगिक उपकरण की भारी मात्रा के एक साथ पुनःस्थापन की किसी समय बाढ़-सी आ जाना—इस प्रकार के बाह्य कारणों से उत्पन्न नियोजन की तेज़ी।

---

१. छूटों के हटाए जाने की घोषणा का आघात-प्रभाव नियोजन बढ़ाने का हुआ, और यह अस्वाभाविक भी नहीं था।

नियोजन का इस प्रकार गुँफन भूतकाल में एक सामान्य अनुभव रहा है और ऐसा मानने का कोई कारण नहीं कि भविष्य में फिर नहीं होगा। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि विभिन्न युक्तियों के सापेक्ष गुणों के सम्बन्ध में कोई पक्की राय बनने के पहले अभी बहुत अधिक अनुभव और आनुभविक गवेषणा की आवश्यकता है। यहाँ हम इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते कि आघात की अत्यन्त स्पष्ट दिशाओं की ओर संकेत मात्र कर दें। यह स्मरण रखना ज़रूरी है कि स्थायित्व को बनाए रखने का सारा भार किसी भी स्थिति में केवल राजकोषीय नीति पर पड़ने का कोई कारण नहीं है। युद्धकाल में संभावना यह है कि सबसे बोझिल कार्य प्रत्यक्ष नियन्त्रण (direct controls) संभाल लेंगे; अन्य परिस्थिति में साख नियन्त्रण एक महत्त्वपूर्ण चाहे संभवत: गौण कार्य निभा सकता है।

प्रत्यक्ष युद्ध की अवस्था में स्फीति-विरोधी कर नीति की परिभाषा कठिन नहीं है। हम तुरन्त कह सकते है कि पूँजी कर, जैसे मृत्यु-शुल्क, वास्तव में ही बहुत कम उपयोग के होंगे क्योंकि वे चालू साधनों को शासन को हस्तान्तरित करने के लिए कुछ नहीं करते, और क्योंकि चालू उपभोग पर उनका प्रभाव नहीं या नहीं के समान ही होता है। सच तो यह है कि मृत्यु-शुल्कों में वृद्धि विशेषकर अल्पकाल में खर्च को वास्तव में बढ़ा भी सकती है। युद्धकाल में नौवहन (shipping) सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण, व्यय करों का नियन्त्रण के उपकरणों के रूप में उपयोग सीमित हो जाने की सम्भावना है; जो देश आयात किए गए कच्चे माल पर निर्भर रहता है उसके लिए यह उत्पादन-शुल्कों के विषय में भी उतना ही सच है जितना सीमा-शुल्कों के विषय में इसलिए मुख्य अवलंब आय और लाभ करों पर ही रखना पड़ेगा। युद्ध काल में वैयक्तिक आय कर में तीव्र वृद्धि होने से उद्दीपक के लिए जो सामान्य भय होता है वह युद्ध को समाप्त करने की प्रबल इच्छा के कारण कम हो जाता है। और भी क्रम वर्द्धमान वैयक्तिक आय कर के अपने ढाँचे में भी एक स्थायिकारक होता है; कीमतों के बढ़ने के साथ प्रभावी मुक्ति

सीमा नीचे आ जाती है जब कि वास्तविक अर्थ में वृद्धि (progression) अधिक उग्र हो जाती है।

अवितरित लाभों पर मुख्यतः, आय कर के अन्तर्गत ही कर लगाने की ब्रिटिश पद्धति में 'स्टैंडर्ड' दर में वृद्धि "अवैयक्तिक" (impersonal) आयों पर भी चोट करेगी। इसके अतिरिक्त, लाभ पर अधिक भार डालना भी निस्सन्देह वाँछनीय होगा, और भार भी ऐसा जो गतवर्ष के लाभ पर देय आय कर से अधिक शीघ्र कार्य करने वाला हो। आधुनिक युद्धों में, ब्रिटेन में और अन्य तुलनीय देशों में भी इस आवश्यकता को एक अतिरिक्त लाभ-कर लगा कर पूरा करने की प्रथा रही है; परन्तु हमने ऊपर[1] तर्क किया है कि यह किसी भी परिस्थिति में, आर्थिक आधार पर वास्तव में आवश्यक नहीं है; जिसके दो कारण हैं, एक तो यह कि सीमान्त प्रभावों की उग्रता युद्धकाल में भी भयानक रूप में अनुद्दीपक (disincentive) होती है, और दूसरा यह कि कर-योग्य आधिक्य (excess) से बचने की इच्छा बढ़ाए हुए खर्चों और व्यवस्था की अन्य कुरीतियों को जन्म देती है। और फिर, जिन 'फर्मों' का आधिक्य कर योग्य न हो उन पर लगाने के लिए, १९३९ और १९४५ के मध्य में लगे राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अंशदान के समान कोई अतिरिक्त कर वैसे भी होना चाहिए। न ही भविष्य में किसी अतिरिक्त लाभ कर का आश्रय लेने की आवश्यकता होनी चाहिए, कम से कम आर्थिक आधार पर तो, क्योंकि मूल्यों के स्थायित्व का मुख्य भार अब प्रत्यक्ष नियन्त्रणों द्वारा उठाया जा सकता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भावी युद्ध के समय, कुल लाभों पर एक अतिरिक्त कर पर्याप्त होगा। यह संभवतः उस पक्ष में एक युक्ति है, चाहे बहुत प्रबल नहीं, कि सामान्य रचना में एक पृथक् लाभ कर बनाए रखा जाए; यदि ऐसा हो तो शान्त स्थिति में उसके दर बहुत नरम होने चाहिएं।

युद्धकाल में, जहाँ एक वस्तु राशन योग्य नहीं है (जैसे तम्बाकू) अथवा जहाँ साम्यपूर्ण राशन व्यवस्था कठिन है (जैसे पेट्रोल) वहां व्यय करों का इस्तेमाल सीमित होने के बाद भी दरों में एक तीखी वृद्धि प्रत्यक्ष नियन्त्रणों

१. देखिए अध्याय १२।

के लिए लाभकारी सहायता हो सकती है। उसके अतिरिक्त एक बहुत छांटने वाला क्रय-कर उपभोक्ताओं की मांग को दुर्लभ वस्तुओं से हटा कर अन्यत्र ले जाने में सहायक होगा। किन्तु बहुत बड़े परिमाण में, युद्धकाल में उपभोग का नियन्त्रण सामान्यतया राशन और अन्य प्रत्यक्ष नियन्त्रणों का ही कार्य रहेगा।

अब हमें जब कभी फिर पुराने ढंग के नियोजन में तेजा (boom) का सामना हो तो, सार्वजनिक क्षेत्र के बहुत बढ़े हुए आकार को देखते हुए जिस विकृत ढंग से कार्य न करने का विश्वास होना आवश्यक है, और जो कई नए शस्त्र अब उपलब्ध हैं उन्हें और अन्त में किन्तु सब से कम महत्त्वपूर्ण नहीं, पूर्वानुमान के लिए अधिक सुविधा को देखते हुए, समस्या भी बहुत कठिन नहीं होनी चाहिए। वास्तव में अधिक संभावना यह है कि कठिनाइयाँ आर्थिक की बजाय राजनैतिक होंगी; जब तक तनिक भी बेकारी है संसद् तेजी (boom) की स्थिति को स्वीकार करने में झिझकेगी। इस मनोवस्था का ध्वनितार्थ स्फीति की दिशा में निरंतर झुकाव हो सकता है; किन्तु ठीक यहीं पर साख नियन्त्रण का पुनर्जीवन विशेष रूप से उपयोगी कार्य कर सकता है; ब्याज दरों में परिवर्त्तन के लिए संसद् को कुछ करना नहीं होता, और वे राजकोषीय परिवर्त्तन की अपेक्षा बहुत कम रुकते हुए कार्य करते हैं। जहाँ तक शुद्ध राजकोषीय पगों का सम्बन्ध है, उनमें से जो कुछ शीत युद्ध की कठोरतर स्थिति के लिए उपयुक्त हों, उन्हें चुन कर लागू कर देना संभवत: पर्याप्त होगा इसलिए हमें इस कठिनतर समस्या की ओर मुड़ना चाहिए।

यद्यपि हमारे हाथ में जो साधन हैं उनकी दृष्टि से हम शान्ति के काल में प्रबल स्फायी दबाव के निराकरण के लिए पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक समर्थ हैं, स्थिति एक अर्थ में कम अनुकूल है: कई करों के दर अब इतने ऊँचे हैं कि और वृद्धि करने में उलट दिशा में धक्का लगने का भय रहता है। अब जैसे, यह तर्क अनेक बार किया जाता है कि नियन्त्रण के पग के रूप में क्रय कर में वृद्धि व्यर्थ है क्योंकि उससे मुद्रा-वेतनों में एक दम वृद्धियाँ हो जाएंगी। इस युक्ति का तर्कसंगत निष्कर्ष निकाला जाए तो हास्यास्पद होगा:

करों को बढ़ाना और कम करना दोनों स्फायी होंगे। इसी प्रकार यह तर्क भी दिया गया है कि श्रमिकों के आयकर में वृद्धि वेतन के अधिक ऊँचे दरों के द्वारा मूल्यों को अधिक ऊँचा कर के उपभोक्ताओं तक पहुँच जाती है।

इन परिणामों के प्राप्त होने के लिए साख नीति के सम्बन्ध में बहुत विशेष धारणाएँ बना कर चलना आवश्यक है; अत्यन्त सुलभ मुद्रा कर-दायित्व में वृद्धि के साथ-साथ, मुद्रा के रूप में मांग को अपने आप बढ़ने देगी जिससे कोई संकोचीय प्रभाव नहीं होगा। अतः यदि करों का ठीक प्रभाव चाहिए तो पहले साख नीति की ओर ध्यान देना होगा। एक और संभावना है जो अधिक चिन्ताजनक है क्योंकि उसका निर्धारण और निपटारा दोनों अधिक कठिन हैं; वह यह है कि वैयक्तिक आय कर में वृद्धि के अनुद्दीपक प्रभाव के कारण, विशेष रूप से साप्ताहिक वेतनभोगी स्तर पर, उत्पादन कम हो सकता है। इस अवस्था में, कर रूप में प्रयत्नों के होते हुए भी वस्तुओं की न्यूनता के कारण स्फीति जारी रहेगी। इसके भय का परिणाम यह हुआ कि १९४५ के बाद से ब्रिटिश वैयक्तिक आय कर की मुक्ति सीमा को अनेक उपायों से लगातार बढ़ाते जाने का सिलसिला चल पड़ा।

यद्यपि यह सच है कि आय कर के अपने ढांचे में ही एक स्थायिकारी प्रभाव होता है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि युद्ध की स्थिति को छोड़ कर यह आदर्श[1] स्थायिकारक कदापि नहीं है। बचत पर करारोपण करके यह उन लोगों को प्रत्यक्ष दंडित करता है जो वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति में से लेने से निज को रोकते हैं, और उन लोगों को पुरस्कृत नहीं करता जो उसे

---

१. यह तर्क किया जाता है कि यदि आय में पूंजी लाभ भी सम्मिलित किए जाएं तो कर कहीं अधिक शक्तिशाली स्थायिकारक होता है। सिद्धान्त रूप से तो इससे इन्कार नहीं किया जा सकता; किन्तु स्फायी मूल्य वृद्धि की अवस्था में ही जब मुद्रा लाभों में से कोई वास्तविक लाभ नहीं होते (कई बार तो वास्तविक हानियां ही होती हैं) कर को साम्यपूर्वक चलाना सब से अधिक कठिन होता है। फिर जो स्थायित्व प्राप्त होता है वह भी जितना पहली दृष्टि में दिखाई दे सकता है उतना होता नहीं, क्योंकि लाभों पर कर तभी लग सकता है जब वे प्राप्त किए जाएं, न कि तब जब उन्हें कमाया जाए।

बढ़ाने की भरसक चेष्टा करते हैं। इन रेखाओं की (विशेष कर पहली) दिशा में विचार करते हुए, जैसा हमने देखा है, अर्थशास्त्रियों ने बहुत देर तक बचतों को आय कर से मुक्त करने के किसी साधन की खोज की है। विशिष्ट प्रकार की बचतों के लिए जो वर्त्तमान सहायताएँ हैं—जैसे जीवन बीमा और गृह-बन्धक ब्याज के लिए, वे ही उन प्रयत्नों के फल हैं।

अधिक निकट भूतकाल में यह सुझाया गया है कि ठीक हल एक अर्थ-व्यय कर (expenditure tax) होगा। यह अधिक से अधिक व्यापक बिक्री कर से भी इस बात में भिन्न होगा कि यह वर्ष भर के कुल संचयी अर्थव्यय पर क्रम वर्द्धमान दरों के अनुसार निर्धारित होगा। यदि यह व्यवहार्य सिद्ध हुआ तो एक अर्थ में तो यह आयकर से अधिक लचीला होगा, क्योंकि सिद्धान्त रूप में तो कितनी वृद्धि (progression) रखी जा सकती है उसकी कोई सीमा नहीं जब कि आय कर का १०० प्रतिशत होने से कुछ न कुछ पहले ही अनुपाती बन जाना अपरिहार्य है। वास्तविकता यह है कि, अर्थव्यय कर के संकीर्णतर आधार के कारण (मुख्य रूप से बचत की मुक्ति के परिणाम-स्वरूप), यदि वर्त्तमान आयकर के राजस्व के लगभग राशि में इससे राजस्व प्राप्त करना हो तो दरों को वास्तव में बहुत ही वर्द्धमान होना पड़ेगा। कुल अर्थव्यय के ४०० प्रतिशत तक वृद्धि की भी नौबत आ सकती है।

एक अर्थव्यय-कर का स्फीति-विरोधी यंत्र के रूप में लाभ प्राय. इस पर निर्भर होगा कि कहाँ तक वह बचत को प्रोत्साहन देता है। जहाँ यह स्पष्ट है कि व्यय न करने में तत्काल एक लाभ मिलने लगेगा, जिस क्षण बचत को खर्च किया गया उसी क्षण वह लाभ लुप्त हो जाएगा; और वह यदि एक ही वर्ष में खर्च कर दी गई, तो कर की भारी वृद्धि (progression) इस लाभ को पूरे से भी अधिक समाप्त कर देगी। यह प्रश्न तो वास्तव में करना ही होगा कि क्या "करदान क्षमता" (ability to pay) जितनी अच्छी तरह आय से मापी जा सकती है उतनी ही अच्छी प्रकार व्यय से भी मापी जा सकती है या नहीं; बहुत बार व्यय, विशेषतया अल्पकाल में भारी व्यय (जिस पर कर के ऊँचे दर आकर्षित होंगे), असामान्य योग्यता की बजाय असामान्य आवश्यकता

को प्रकट करता है, जैसे कि काम-काज बदलने के कारण मकान का अनिवार्य क्रय अथवा बीमारी के परिणामस्वरूप अनुपूरक (supplementary) व्यय। यह सच है कि एक सीमित परिमाण में व्यय के कुछ प्रकार जो सामाजिक दृष्टि से उचित माने जाएँ या किसी वैयक्तिक कठिनाई के कारण हुए दिखाए जाएँ, कर से मुक्त रखे जा सकते हैं। किन्तु, जितनी अधिक छूटों की परिसीमा होगी उतने ही ऊँचे दर और उनकी उतनी ही अधिक वृद्धि (progression) शेष व्यय पर रहेगी।

एक गौण रूप से, सभी व्यय-कर खर्च करने को दंडित करके और बचत के विरुद्ध कोई विपरीत प्रभाव न रखकर (या लगभग नहीं के बराबर रख कर) अर्थव्यय कर का अनुकरण ही करते हैं। इस कारण के निगम्य (a priori) आधार अच्छे स्फीति निरोधक होते हैं, विशेषतया जहाँ कर-ग्रस्त वस्तुओं की माँग इतनी बेलोच हो कि प्रतिस्थापन के द्वारा बचने का कोई मार्ग न हो। ब्रिटेन की परिस्थिति में अब तक तम्बाकू के कर आदर्श सिद्ध हुए हैं।

कोई भी स्फीति-विरोधी राजकोषीय यन्त्र जो केवल उपभोग पर आघात करते हैं, पूर्ण रूप से प्रभावी नहीं हो सकते; संभवतः नियोजन में कटौती उस से अधिक आवश्यक हो सकती है। इस सम्बन्ध में अवमूल्यन-छूटों की शर्तों को बदलने का महत्व हम देख चुके हैं; किन्तु कुछ न कुछ अधिक उग्र पग उठाने की भी आवश्यकता हो सकती है। कोरियाई तेजी (boom) में स्वीडन के शासन ने नियोजन के ऊपर एक अर्थव्यय कर लगाने का प्रयोग किया जिसमें राजस्व को सम्बन्धित उद्योगों के भावी विकास के लिए सुरक्षित रख दिया जाता था। इस प्रकार का कुछ प्रयत्न करना पड़ सकता है। किन्तु ठीक यही स्थान है जहाँ साख नियन्त्रण सब से अधिक उपयोगी होता है। १९५२-५३ के अनुभव ने प्रकट किया कि वस्तुओं के स्टॉक रखने का कार्य अब भी मुद्रा बाजार की अवस्था से बहुत असहिष्णु है। अब, जब कि बहुत-सी उत्पादन वस्तुएँ क्रयावक्रय (hire purchase) की पद्धति से खरीदी जाती हैं (विशेष रूप से कृषि में), क्रयावक्रय की शर्तें (बन्धकों सहित) को कठोर

बना देना, उपभोक्ताओं की टिकाऊ वस्तुओं तक के लिए वैसे ही पग उठाने की अपेक्षा अधिक प्रभावी हो सकता है।

मन्दी में प्रभावी मांग को बनाए रखने के लिए कर-परिवर्त्तन जो कार्य कर सकते हैं, वह जैसा कि हमने देखा है, बहुत समर्थ होने की संभावना नहीं है। वैयक्तिक आय करों में ढील अल्पकाल में कहाँ तक अधिक व्यय को जन्म देगी यह संदिग्ध है। न ही, क्योंकि मांग बेलोच होने की प्रवृत्ति है, तम्बाकू और सुषव (alcohol) करों में ढील का तात्कालिक परिणाम बहुत होने की संभावना है। यदि एक सामान्य अर्थव्यय-कर लगा हुआ हो तो उसमें ढील का परिणाम सशक्त हो सकता है; एक वैसा ही किन्तु उससे कम प्रभाव क्रय कर के दरों को हल्का करने से प्राप्त किया जा सकता है सिवाय फुटकर व्यापारियों को जो कठिनाई होती उसके, क्योंकि वे कर के जिन दरों पर वस्तुएँ खरीदते उससे कम कर दरों पर बेचते। यह कठिनाई उस समय नहीं होती जब कर फुटकर अवस्था की बजाय थोक की अवस्था पर लगाया गया हो, और उस समय दूसरी ओर वह भारी प्रशासी लाभ रखना होगा जो असंख्य फुटकर व्यापारियों की अपेक्षा थोड़े से फुटकर व्यापारियों से कर को संग्रह करने में होता है। किन्तु मन्दी के निराकरण के मुख्य उपकरणों के लिए हमें व्यय पक्ष की ओर मुड़ना होगा।

४. **व्यय पक्ष की ओर से आघात** (Attack from the Expenditure Side)—यह विशेष रूप से व्यय के पक्ष की ओर ही है कि सार्वजनिक क्षेत्र के आधार में अति वृद्धि, आर्थिक गतिविधि का एक उच्च स्तर बनाए रखने में सहायक हो। और इससे बढ़ कर, हमें फिर से बेकारी के वैसे जटिल रूप का सामना होने का भय नहीं है जैसा ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के सम्मुख १९३० की दशाब्दी में उपस्थित हुआ। तो भी बेकारी के विभिन्न प्रकारों में भेद करना वाँछनीय है क्योंकि भविष्य में सभी के कुछ न कुछ मात्रा में पैदा होने की संभावना है। किसी औद्योगिक देश में बेकारी को स्थूल दृष्टि से तीन किस्मों में बाँटा जा सकता है: संघर्षज (frictional), चक्रात्मक (cyclical) और चिरकालिक (secular अथवा दीर्घकालीन)।

संघर्षज बेकारी केवल वही है जो एक परिवर्त्तनमय व अपूर्ण पूर्वानुमान वाले जगत् में इस कारण अपरिहार्य रूप से उत्पन्न होती है कि एक उद्योग अथवा फर्म का ह्रास होता है और दूसरे की वृद्धि। जब परिस्थिति अच्छी हो तब भी एक ओर से काम छूटने के बाद श्रमिकों को दूसरी जगह नई नौकरी मिलने तक कुछ न कुछ थोड़ा समय प्रायः लगना आवश्यक ही है। वास्तव में बिलकुल यही समस्या थी जिसके लिए काम दिलाऊ दफ्तर (employment exchanges) स्थापित किए गए। कई वर्षों तक रूढ़िवाद (conservatism) और अपरिचय के कारण उनका पूरा लाभ उठाना सम्भव नहीं हुआ, किन्तु युद्ध और युद्धोत्तर काल की श्रम न्यूनता के अनुभव ने पहले के निरोधों को समाप्त कर दिया दिखाई देता है। इस कारण से और पहले से अच्छी शिक्षा व अच्छे आंकड़ों के कारण से इस बात की संभावना कम ही मालूम होती है कि संघर्षज बेकारी अपने आप में ही गम्भीर समस्या बन सके। यह आशा, गत वर्षों में बेकारी का जो अत्यन्त निम्न स्तर प्राप्त कर लिया गया है उसके कारण बलवती होती है।

चिरकालिक बेकारी को बढ़ी हुई संघर्षज बेकारी माना जा सकता है। जहाँ विशाल उद्योग ह्रास को प्राप्त हो रहे हों, जैसे अन्तर्युद्ध काल में वस्त्र उद्योग था, तो इतनी भारी संख्या में श्रमिक अनावश्यक हो जाते हैं कि वे शीघ्रतापूर्वक संविलीन नहीं हो सकते। उनकी कार्यविहीनता के महीने बढ़ते-बढ़ते जैसे वर्षों का रूप लेने लगते हैं, तो उनका जीवन-स्तर और औद्योगिक निपुणता घटने लगती है। दीर्घकाल तक अंशकालिक कार्य का भी उत्पादिता और नैतिक स्तर पर लगभग उतना ही गंभीर परिणाम होता है। अतः १९३० की दशाब्दी में बेकारी समस्या का केन्द्र भाग था देश के उन क्षेत्रों में संकेन्द्रित "लम्बे बेकार"[1] (long unemployed) जिनमें संपूर्ण उद्योगों के बुरे दिन आए हुए थे। ये लोग १९१९-२० की युद्धोत्तर तेजी की समाप्ति पर काम से बेकार हुए थे, और नए सन्तोषजनक कामों पर लगने से पहले

---

१. देखिए, पिलग्रिम ट्रस्ट के लिए लिखी गई, "Men Without Work".

'३० की दशाब्दी के पहले वर्षों की मन्दी ने इन्हें आ दबाया। अन्ततः समस्या का समाधान अधिक आयु के श्रमिकों के काम से हटने और द्वितीय विश्वयुद्ध की श्रम-दुर्लभता में शेष के पुनः विलयन (absorption) से हुआ। यह भय कि संघर्षज बेकारी लम्बी होकर 'चिरकालिक रूप ले सकती है ऐसी हर अर्थ-व्यवस्था के लिए स्थानिक है जो तेजी से बढ़ नहीं रही, किन्तु यहाँ भी १९३० की दशाब्दी में जो स्थिति थी उससे अच्छी अवस्था से हमें प्रारम्भ कर सकना चाहिए। अब लम्बी बेकारी का कोई बोझा हमारे सिर पर लदा हुआ नहीं है; जो शीघ्रता से अपने ही या समान कार्यों में पुनः नहीं लगा लिये जाते उनके लिए प्रशिक्षण और पुनर्वास की कहीं अधिक अच्छी सुविधाएँ आज विद्यमान हैं और उनसे प्राप्त होने वाले लाभ की कहीं अधिक समझ है।

१९३० की दशाब्दी में अर्द्ध-राजकीय संगठनों[१] के द्वारा इन फर्मों को क्षयिष्णु (declining) क्षेत्रों में कारखाने खोलने की प्रेरणा के बाद भी और कुछ स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा नए कारखानों को दर व किराये में 'कन्सेशन' दिए जाने के बाद भी बड़ी मात्रा में सत्य यही है कि बेकारों के लिए नया काम अधिक समृद्ध क्षेत्रों को निकल जाने के द्वारा ही मिल सका। इससे जो पीछे रह गए उनके लिए भारी सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ खड़ी हो गई, और स्थानीय प्राधिकारियों के लिए आर्थिक समस्याएं। उन प्राधिकारियों ने सामान्य स्थानीय सेवाओं की व्यवस्था लगातार घटती हुई दर निधि में से करने का प्रयास किया। युद्ध की समाप्ति के बाद से नीति को नया रूप दिया गया है। उद्योग अवस्थिति अधिनियम (१९४७) (Location of Industry Act) संविहित अधिकार देता है जिसमें उद्योगों को उन प्रदेशों में निर्देशित करने का अधिकार भी सम्मिलित है जो, अब "विकास क्षेत्र" कहलाते हैं। अब अधिक विस्तृत राजकोषीय 'कन्सेशन' उपलब्ध हैं और पहले के क्षयिष्णु क्षेत्रों में नए कारखाने स्थापित करने में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया गया है।

---

१. जैसे कि Special Areas Reconstruction Association, और Nuffield Trust. उनके कार्य के विवरण के लिए देखिए, U. K. Hicks की Finance of the British Covernment, उ० ग्र०, अध्याय १३.

किन्तु श्रमिकों के पास कार्य पहुँचाने की नीति के लाभ की भी सीमाएँ हैं। अन्य स्थान को जाने और असुविधाजनक स्थानों में कार्य चलाने से उत्पादन और परिवहन में अधिक खर्च उठता है; यह एक सामाजिक और निजी हानि है और इसे, जब हम ह्रास के जारी रहने की सामाजिक व आर्थिक हानि का विचार करते हों तो दूसरे पलड़े में रखना होगा। जब तक ईंटों और मसाला आदि दुर्लभ वस्तुओं के बँटवारे के द्वारा "निर्देशन" कार्यान्वित किया जा सकता है, तब तक फ़र्मों के "स्वेच्छापूर्वक" अन्यत्र जाने पर भरोसा हो सकता है। अब जब कि ऐसी स्थिति नहीं रही है, कोई शासन अपने आप को विचित्र स्थिति में डाल लेगा यदि उसने संविहित अधिकारों का पूरा उपयोग किया और फ़र्मों को इधर-उधर भेजने का परिणाम दीवाला निकलने में हुआ। किन्तु इस क्षेत्र में विशेष रूप से सफलता ही सफलता को जन्म देती है। विकास क्षेत्रों में १९३० की दशाब्दी में जैसी थी उससे आज रहन-सहन की हालत भी अच्छी है और स्थानीय मंडी भी बड़ी हो गई है।

जो श्रमिक बेकार हो गए हैं उनको पुनः स्थान-स्थान पर भेजने की संभावना अन्ततोगत्वा नए उद्योगों के विस्तार की गति पर और इस कारण प्रौद्योगिक खोजों की गति और उनकी प्रयुक्ति पर निर्भर है। इसे प्रोत्साहन देने के राजकोषीय उपाय अगले अध्याय की चर्चा का विषय हैं। यहाँ फिर ऐसा मानने के लिए कारण है कि हमारी स्थिति १९३० की दशाब्दी में जैसी थी उससे आज अच्छी है। किन्तु इस पर बल देने की आवश्यकता है कि जहाँ नई प्रविधियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, उनका वास्तविक प्रभाव पूर्णतया उनके उत्पादी उपयोग पर निर्भर है और यह अर्थ-व्यवस्था के सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों का साँझा उत्तरदायित्व है।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं में, भारी अन्तर से, बेकारी का जो सब से महत्त्वपूर्ण प्रकार है वह चक्रीय है। १९३० की दशाब्दी में सब देशों की बड़ी समस्या यही थी। इसका भी कोई भरोसा नहीं कि हमें, शायद अल्पकाल सूचना पर, फिर से इस का सामना नहीं करना पड़ेगा। यह दिशा है जिसमें राजकोषीय नीति का उत्तरदायित्व सबसे भारी है किन्तु सौभाग्य से इसी

क्षेत्र में उसके शस्त्र सबसे अधिक समुचित है। चक्रीय बेकारी के निराकरण में सफलता का सार है गति; यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रभावी माँग में विशेष शिथिलता के आने और उसके कारण गुणक (multipliers) को उलट दिशा में अपने कुत्सित प्रभाव करने के लिए समय मिलने के पहले, सहायता दी जाए किन्तु नीति को कार्यान्वित करने का भी कठिनतम पहलू काल निर्णय ही है। न केवल यह पहचानना कठिन है कि कब और कितनी कार्रवाई की आवश्यकता है, अपितु आवश्यकता का निदान हो चुकने और समुचित व्यय के चालू कर दिए जाने के पश्चात् भी बहुधा वे कार्य श्रम की माँग को बढ़ाने में उपयोगी अंशदान दें, इस बीच में पर्याप्त समय निकल जाता है। १९३० की दशाब्दी में जिन देशों ने सबसे पहले प्रयास प्रारम्भ किया और मन्दी को राजकीय व्यय के द्वारा हटाने का अति गम्भीर प्रयत्न किया (उदाहरणार्थ स्वीडन और ऑस्ट्रेलिया) वे भी अपने कार्यों को उपयोगी अवस्था में तब ला सके जब मन्दी की चरम स्थिति बीते बहुत समय हो चुका था।

सार्वजनिक कार्यों की गति बढ़ाने में बाधाएँ और विलम्ब तीन दशाओं में हो सकते हैं: पहला आयोजन और नील मुद्रणों (blue prints) में समय लगता है, दूसरा आवश्यक प्रसविदाओं को पूर्ण होने में काफ़ी समय लग सकता है, विशेषतया यदि वे भूमि क्रय से सम्बद्ध हों, और अन्त में, अधिकतर परियोजनाओं में साधनों की माँग क्रमश: ही बढ़ती है, इस कारण महीनों अथवा वर्षों के बाद ही श्रम और सामग्री की माँग अपने शिखर पर पहुँचती है।[1] इन प्रक्रियाओं का समय घटाने के लिए कई सुझाव दिए गए हैं—जैसे तैयार आयोजित परियोजनाओं की अलमारी (shelf) पूर्व-आयोजन विलंब बचा सकता है, किन्तु जब योजनाएँ कुछ समय पहले ही तैयार कर ली गई हों तो भी संभवत: उनमें पर्याप्त पुनरीक्षण की आवश्यकता होगी तब कहीं वे कार्यान्वित होने के लिए तैयार होंगी। जिन कार्यों के लिए भूमि की आवश्यकता कम होती

१. देखिए, Bretherton, Burchardt and Rutherford, Public Investment and the Trade

है वे प्रायः दूसरों से जल्दी प्रतिक्रया दिखाते हैं; इसलिए कुछ विशेष प्रकार के प्रतिरक्षा व्यय संस्फायकों (reflators) के रूप में खास उपयोगी है। अतः सैनिक गणवेशों के निर्देशों ने १६४६ की वस्त्र मन्दी दूर करने में सहायता की।

स्पष्ट है कि का न-निर्णय की इन कठिनाइयों को पूरी तरह हटाने का कोई मार्ग नहीं है; किन्तु सम्भवतः ब्रिटेन में आज की स्थिति १६३० की दशाब्दी से कुछ अच्छी है। नगर व देहात आयोजन अधिनियमों के अन्तर्गत स्थानीय प्राधिकारियों को अपने क्षेत्रों में भूमि उपयोग की बीस वर्षीय योजनाएँ बनानी पड़ती हैं; हर पाँच वर्ष के बाद इन योजनाओं का पुनरीक्षण करना होता है जिससे कि वे अधिक गतकाल (out of date) कभी नहीं हो सकतीं। यद्यपि प्रत्यक्ष कार्यों के नील मुद्रण और वे योजनाएँ एक ही वस्तु नहीं हैं तो भी इन योजनाओं के रहने से समय बचाने का और अनिश्चितता दूर करने का, ये दोनों लाभ होने चाहिएँ। दूसरा स्थानीय प्राधिकारियों के सामने कुछ महत्त्वपूर्ण तात्कालिक (urgent) नियोजन होते हैं जिनके लिए बहुत भूमि-क्रय की आवश्यकता नहीं होती (और किसी भी सूरत में, उन्ही अधिनियमों द्वारा यह सुगम कर दिया गया है)। इनमें है : मेडिकल केन्द्र (जनसंख्या के प्रति १०,००० के लिए एक) जिनके बिना राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं किए जा सकते, कई नए और अधिक स्कूल और पृष्ठभूमि में दरिद्र बस्तियों की सफाई की सदा विद्यमान आवश्यकता।

वित्त की ओर भी पहले की कई कठिनाइयाँ अब दूर कर दी गई हैं। १६३० की दशाब्दी में एक बड़ी कठिनाई यह थी कि जहाँ नीति की रूपरेखा केन्द्र की ओर से निश्चित की जाती थी, विस्तृत आयोजन, उसका कार्यान्वित करना और आवश्यक वित्त का बड़ा भाग स्थानीय उत्तरदायित्व था। जहाँ तक चालू खाते में व्यय का सम्बन्ध है (जिसमें आयोजन, परिव्ययांकन और निस्सन्देह, स्थान पर वास्तविक व्यय में से भी, कुछ सम्मिलित होगा) स्थिति इस तथ्य के कारण पर्याप्त सुगम हो गई है कि औसत से छोटे सब प्राधिकारियों के लिए (१६४८ का) समकरण अनुदान दर-प्रति-पौंड की प्रत्येक वृद्धि के साथ ऊपर की ओर समायोजित होता है।

एक और कठिनाई थी कि पहले पूँजी व्यय के लिए छोटे और अधिक निर्धन प्राधिकारियों को व्यवहार में सार्वजनिक कार्य ऋण बोर्ड (Public Works Loans Board) से ऋण होने के लिए विवश होना पड़ता था, जो कि पहले अपनी शोधक्षमता (solvency) के विषय में चिन्ता रखने के कारण आवश्यकतावश कुछ ऊँचे दर लगाता था।

एक पूर्णतया अशुद्ध ढंग से निजी क्षेत्र के विचारों को ले लेने के कारण बन्धक-नियोजनों की इच्छा रखने वाले ट्रस्टी ऐसे प्राधिकारियों को अधिक हानि भय वाले (bad risk) मानते थे इसलिए पूँजी प्राप्त करने का यह सरल उपाय उनके लिए बन्द हो गया। साथ ही 'स्टॉक एक्सचेंज' के ऋण इनके बूते के बाहिर थे, यदि वहाँ नियोजक अधिक समझदारी का रवैया अपना लेते तो भी।

१९४६ के बाद से सभी प्राधिकारियों को केवल सार्वजनिक कार्य ऋण बोर्ड से ऋण लेना आवश्यक कर दिया गया; अर्थात् छोटे और निर्धन क्षेत्र इस विषय में अब प्रतिकूल स्थिति में नहीं रहे। और भी, बोर्ड की नीति भी शीघ्र ही पूर्णतया बदली हुई दिखाई देने लगी। अपनी वित्तीय सुस्थिति की चिन्ता से मुक्त होने के पश्चात् यह (बोर्ड), शासन द्वारा, स्थानीय प्राधिकारियों को (मुख्यतः गृह-व्यवस्था के लिए) साहाय्यित दरों पर ऋण-द्रव्य उपलब्ध कराने के एक यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया गया। जहाँ यह वाँछनीय होना आवश्यक नहीं है वहाँ यह स्पष्ट है कि स्थानीय प्राधिकारियों की, परियोजनाओं को हाथ में लेने के लिए सहायता करने का एक और साधन अब उपलब्ध है। निकट भूतकाल में स्थानीय प्राधिकारियों का निजी क्षेत्र से प्रत्यक्ष ऋण लेने का अधिकार उन्हें फिर से मिल गया है यद्यपि जहाँ तक स्टॉक एक्सचेंज को जारी करने का सम्बन्ध है, वे पूँजी-निर्गम समिति (Capital Issues Committee) के निर्देशों के अधीन रहते हैं। साथ ही सार्वजनिक कार्य ऋण बोर्ड द्वारा प्रस्तुत की गई नई सुविधाएँ वापिस नहीं ली गई। अतः जो परियोजनाएँ राष्ट्रीय नीति की परिसीमा में आ जाती हैं, उनके लिए अब दीर्घकालीन वित्त का प्रश्न बाधा नहीं बनना चाहिए।

किन्तु स्थानीय प्राधिकारी उठती हुई मन्दी में शीघ्र और संगत पग उठाएँ इसका महत्त्व जितना १९३० की दशाब्दी में था उतना अब नहीं है। अपने राष्ट्रीयकृत उद्योगों में और उसके अन्य नियोजन के विस्तार से केन्द्रीय शासन अब नियोजन की ओर संपूरक वित्त में महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष भाग ले सकता है। स्थानीय प्राधिकारियों के समान राजकीय निगमों की भी विकास योजनाएँ होनी चाहिएँ; वास्तव में सभी के सामने विशाल परियोजनाएँ होती हैं और सब की सब मन्त्रालयिक निर्देश (Ministerial Direction) के अधीन होती हैं, इसलिए उनका समय जहाँ तक ऐसा करना आर्थिक दृष्टि से वांछनीय है, निश्चित किया जा सकता है। उनका उधार भी कठोर नियन्त्रण में रहता है।

किन्तु संपूरक वित्त के दृष्टिकोण से देखते हुए, राजकीय निगमों के नियोजनों का लाभ संभवतः सीमित ही है। कार्यक्रमों में से कई (जैसे, उदाहरण के लिए, नए विद्युत केन्द्र और कोयले की नई खानें) धीरे-धीरे ही श्रम के लिए पर्याप्त मांग वाली स्थिति में पहुँचते हैं और प्रायः उनके पूर्ण होने के लिए महीने ही नहीं वर्षों लगते हैं। और भी उनकी गति को बढ़ाना अथवा कम करना, किसी सड़क या गृह अवस्था कार्यक्रम (housing programme) की गति उस प्रकार बदलने से होने वाली हानि की अपेक्षा बहुत अधिक आर्थिक हानि के बिना संभव नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि अब जो ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का आधे से अधिक पूँजी निर्माण सार्वजनिक क्षेत्र में केन्द्रीय हो गया है उससे संपूरक वित्त के लिए महत्त्वपूर्ण नई संभाव्यताएँ उत्पन्न नहीं हो गई हैं।

किन्तु एक दृष्टि से, जैसी स्थिति १९३० की दशाब्दी में थी उससे संभवतः अधिक कठिन होगी। तब, मुख्यतः व्यापार के असामान्य रूप से अनुकूल दरों के कारण, राजकीय व्यय के किसी योग्य विस्तार के परिणामस्वरूप भुगतान शेष (balance of payments) की कठिनाइयाँ उत्पन्न होने का कोई भय नहीं था। वह स्थिति शायद फिर कभी भी उपस्थित न हो, वास्तव में यह कोई बहुत वाँछनीय भी नहीं है, क्योंकि उनके लिए व्यापार के प्रतिकूल

दरों के कारण हमारे ग्राहकों में आई निर्धनता, मन्दी को तीव्र करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

किन्तु इस क्षेत्र में भी आशा की नई किरणें हैं; एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं "मुद्रा कोष" (Monetary Fund) 'पुनर्निर्माण तथा विकास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक" [International Bank for Reconstruction and Development) और उनके अभिकरणों] की सहायता है, दूसरी ओर स्टॉक के लिए शासन के पदार्थ-क्रय के कारण विदेशी प्रभावी मांग को बनाए रखने की अधिक संभावना है। किन्तु, भुगतान शेष की अधिक कठिन स्थिति के कारण, यह भी स्पष्टतः अधिक आवश्यक है कि मंदी के जड़ जमाने के पहले ही संपूरक क्रिया की जाए जिससे आवश्यक कार्य की मात्रा और भुगतान शेष पर परिणामस्वरूप पड़ने वाला दबाव, दोनों ही साधारण रहें।

अध्याय १८

राजकोषीय नीति और वृद्धि

(Fiscal Policy and Growth)

१. **राजकोषीय नीति के लिए अवसर** (The Opportunities for Fiscal Policy)—पिछले अध्याय में हमारा मुख्य सम्बन्ध संपूरक वित्त के साथ था; किन्तु जो पग समुत्थान को प्रोत्साहन देते हैं, विशेष रूप से नियोजन के पक्ष में, वे वृद्धि को भी बढ़ाने की प्रवृत्ति रखते हैं। नए पूँजी परिसंपत् के शीघ्र अपलेखन को अपनाना और दीर्घकालीन ब्याज दरों का एक सामान्य कार्यक्रम के भाग के रूप में, इतने निम्न स्तर पर बनाए रखना जितने की स्थायित्व के साथ संगति बैठ सकती है, वृद्धि के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करेगा। अत: अब हमें उन पगों का विचार करना है जो वास्तविक रूप में (in real terms) सकल राष्ट्रीय उत्पादन के दीर्घकालीन विस्तार के लिए विशेषतया तैयार किए गए हैं।

साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कई पग जो मुख्यत. सामाजिक आधार पर उठाए जाते हैं किन्तु प्रभावी मांग को चक्रीय उतार चढ़ाव में, बनाए रखने की ओर भी कुछ दृष्टि होती है—जैसे कि निर्वर्त्य आयों का अधिक समान वितरण—वे पूर्ण रोजगार की अवस्था में वृद्धि के लिए हानिकारक हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी, बचत के सिर पर, उपभोग को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है—प्रत्यक्ष भी, और जो ऊँचे वर्द्धमान कर उनके साथ आते हैं उन के परिणामस्वरूप भी, दोनों तरह। यह ठीक है कि कुछ सीमा तक निजी क्षेत्र में इस बचत विरोधी झुकाव का बजट-आधिक्यों (budget surpluses) द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में "बचत" बढ़ा कर क्षति पूर्ति की जा सकती है; परन्तु यदि उनका आगे निजी बचतों पर फिर से परिणाम

होने से बचना हो तो उनको ऐसे करों के द्वारा प्राप्त करना होगा जो बहुत अधिक क्रम वर्द्धमान नहीं हैं। अतः पूर्ण रोजगार का होना मात्र वृद्धि के लिए अनिवार्य रूप से अनुकूल हो ऐसा कदापि नहीं है।

आर्थिक वृद्धि (growth) बढ़ाने में राज्य के कार्य पर बल, जो आज नीति का इतना स्पष्ट और व्यापक गुण बन गया है, थोड़े समय से ही प्रारम्भ हुआ है, या शायद यह कहना अधिक ठीक होगा कि अभी उसका पुनर्जीवन हुआ है। क्योंकि हमने देखा है कि वह ब्रिटेन में अठारहवीं शताब्दी में भी विद्यमान था। विकसित देशों में, विशेषकर पश्चिमी यूरोप में, इस नई रुचि में दो वस्तुओं का मिश्रण है, १९३० की दशाब्दी के वृद्धिरोध की पुनरावृत्ति का भय और उत्तर अमरीकी महाद्वीप में प्रकट रूप में उत्पादिता की आश्चर्यजनक वृद्धि के सामने डालर से सम्बन्धित भुगतान शेष के विषय में उत्कण्ठा। यद्यपि संयुक्त राज्य की अर्थ-व्यवस्था में वृद्धि का क्रम अभी तो निजी उद्यम द्वारा पर्याप्त आश्वसित प्रतीत होता है, वास्तव में राज्य की स्थिति में लगभग एक क्रान्ति सी हो गई है, जिसके परिणाम को प्रायः समझा नहीं जाता। आर० ए० एन० डी० निगम (R. A. N. D. Corporation) (गवेषणा तथा विकास) आदि संघ राज्य की प्रतिनिधि एजैंसियों द्वारा आजकल भारी राशियाँ मुख्यतः अन्वेषण पर खर्च की जा रही हैं, जिसका पर्याप्त अंश "मौलिक" होता है, इस अर्थ में कि वह विशिष्ट समस्याओं का समाधान खोजने की बजाय प्रौद्योगिक प्रक्रियाओं के सामान्य सुधार की दृष्टि से किया जाता है। न ही राज्य का कार्यभार अन्वेषण से समाप्त हो जाता है; शासन द्वारा निश्चित निर्देश दिए जाते हैं, उदाहरणार्थ विमानों के प्राग्रूपों (prototypes) के लिए अन्यथा निजी उद्यम द्वारा उस पैमाने पर उनका निर्माण किया जाना संभव न होता।

उसी प्रकार का कार्य यद्यपि छोटे पैमाने पर, ब्रिटिश शासन के विभाग करते हैं। उनके अतिरिक्त, दोनों देशों में (और दूसरों में भी) आणविक अनुसन्धान (atomic research) मुख्य रूप में राजकीय उद्योग द्वारा ही विकसित किया जा रहा है, इस बात की चिन्ता न करते हुए कि उसका

लक्ष्य जिस प्रकार सैनिक है वैसे ही आर्थिक भी। शासन की अन्वेषण परियोजनाएँ फर्मों द्वारा और विश्वविद्यालयों में भी हाथ में ली जाती हैं और इस प्रकार अन्वेषणकर्त्ताओं को द्रव्य उपलब्ध किया जाता है। विश्वविद्यालय विशेष रूप से, अनुसंधान कार्य के लिए अब राजकीय द्रव्य स्वीकार करने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक तैयार हैं, संभवत: इस कारण कि उन्हें विश्वास हो गया है कि अनुदान के साथ ऐसी शर्तें नहीं जुड़ी रहेंगी जो अन्वेषणकर्त्ताओं के कार्य में बाधा बनें। यह स्वयं भी इस बात का संकेत है कि कार्य का स्वरूप विशिष्ट की अपेक्षा सामान्य है। राजकीय व्यय की इन नई दिशाओं से सामान्य आर्थिक विकास को जो लाभ होता है उसमें इस तथ्य से कोई अन्तर नहीं आता कि प्रारम्भ में उनके पीछे प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकता का हेतु था। वास्तविकता यह है कि प्रगति वेग संभवत: इस कारण से बढ़ जाए कि विधान-मण्डल प्राय: आर्थिक निपुणता को बढ़ाने के लिए दिये गए एक गोल मोल आदेश के साथ गवेषणा व्यय की अपेक्षा प्रतिरक्षा व्यय की मांग को अधिक सरलता से स्वीकार कर लेते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की इस नई गतिविधि के फल, १९४० के बाद से नए पदार्थों व प्रविधियों की खोज और उपयोग में जो अत्यन्त तीव्र वृद्धि हुई है उस के रूप में देखे जा सकते हैं।

वृद्धि पर, और उसमें राजकीय गतिविधि जो भाग ले सकती है उस पर जो नवीन बल है, वह जिन देशों की हम चर्चा करते रहे हैं, उनकी अपेक्षा निर्धन और पिछड़े हुए देशों में कहीं अधिक स्पष्ट है। यहाँ यह निम्न के मिश्रण से बना है : युद्ध काल में जीवन की अन्य पद्धतियों के साथ बढ़े हुए सम्पर्क के कारण पिछड़े होने की एक नई अनुभूति, १९४० के बाद से मूल उत्पादों के पक्ष में व्यापार के दरों के झुक जाने के कारण वित्तीय दिशा में नए अवसरों के प्रति जाग्रति, और कई दृष्टान्तों में अधिक स्वाधीनता और विकासार्थ अधिक स्फूर्ति के कारण राजनैतिक पक्ष में नवीन अवसरों का ज्ञान। कई उष्ण देशों में भी, सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि, विशेषतया कृषि की ओर, युद्धपूर्व जीवन-स्तर को बनाए रखने की दृष्टि से अपरिहार्य है

क्योंकि उष्णदेशीय औषध (tropical medicine) और कीटनाशकों (insecticides) में सुधार के द्वारा जनसंख्या पर लगी हुई पहले की रोकें हट गई हैं।

अधिक पिछड़े हुए देशों के प्रति सम्पन्न देशों के दृष्टिकोण में परिवर्तन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अब जो कुछ समृद्ध देश करने के लिए तैयार हैं, प्रत्यक्ष या नई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि संस्थाओं[1] के द्वारा, वह १९३० की दशाब्दी में पिछड़े हुए देशों की जो उपेक्षा थी उस के पूर्णतया उलट है, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ कालों और बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी के विषय में (पैमाने की दृष्टि से) शायद ऐसा नहीं है। इस सहायता का हेतु भी अंशतः राजनैतिक है, इस तथ्य का भी, विकास के जिन प्रकारों में सहायता मिलती है या विकासी देशों को जो लाभ होता है उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु इस तथ्य के कारण कि पर्याप्त सहायता मिल सकती है, विकासी देशों की राजकोषीय नीति पर बहुत प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनमें से प्रायः किसी के पास भी उनके विद्यमान साधनों का पूरा लाभ उठाने के लिए पर्याप्त आरक्षित (reserves) नहीं हैं। एक ओर वे अपने सार्वजनिक वित्त (और विशेष कर के अपने कर) इस प्रकार बिठाना चाहते हैं कि बाहर से पूंजी को आकर्षित कर सकें परन्तु दूसरी ओर उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि उनके अपने राष्ट्रीय, अपने पुराने तरीकों को छोड़ कर उत्पादन के नए और बहुधा विचित्र ढंग स्वीकार करने के लिए प्रेरित किए जा सके। राजकोषीय नीति के लिए उतना ही आवश्यक यह भी है कि वह इस बात का प्रबन्ध करे कि (विकास के कारण) बढ़ती हुई आयों वाले अपना आधिक्य (surplus) पूरा का पूरा अपना जीवन-स्तर ऊँचा करने में ही न लगा दें और अपनी "पेटियों को इतना कस कर रखें" कि विकास का क्रम

---

१. जैसे कि International Bank for Reconstruction and Development, U. N. Technical Assistance Administration और Colombo Plan.

गतिवान हो सके। विकासशील देशों की विशेष समस्याओं का विस्तृत परीक्षण करने के लिए हमारे पास स्थान नहीं है; किन्तु उनके सामने जो कठिनाइयाँ होती हैं उनमें से बहुत-सी सामान्य अनुभव की हैं।

राजकोषीय नीति वृद्धि में चार भिन्न-भिन्न दिशाओं से सहायता दे सकती है। प्रथम, वह कार्य है जो सार्वजनिक व्यय कर सकता है, प्रत्यक्ष अथवा निजी उद्यम के नाम पर। द्वितीय, राजस्व समायोजनों का चुनाव है जो व्यय के लिए द्रव्य उपलब्ध कराने के वास्ते और उस प्रक्रिया में जो (जैसा हमने देखा है) स्वाभाविक रूप से स्फायी है, स्थायित्व बनाए रखने के लिए भी, करना आवश्यक है। तृतीय, राजकोषीय नीति के क्षेत्र के अन्तर्गत वे प्रश्न आते हैं जो पूँजी निर्माण के लिए आवश्यक उधार द्रव्य उपलब्ध कराने से और इसमें उत्पन्न हुए ऋण की व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। अन्त में, यदि उपलब्ध सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करना हो तो कई महत्त्वपूर्ण संगठनात्मक और आयोजन की समस्याएँ हल करनी होंगी। ये समस्याएँ प्रशासन और राजकोषीय नीति के सीमाप्रदेश की हैं और इस कारण कम से कम आंशिक रूप में हमारे क्षेत्र के बाहिर हैं; किन्तु कुछ पहलू [विशेष रूप से बजट के संगठन और अन्तःशासकीय वित्तीय सम्बन्धों (inter-governmental financial relations] से सम्बद्ध) राजकोषीय नीति से घनिष्ठतापूर्वक जुड़े हुए हैं। वर्तमान अध्याय में हम राजकोषीय नीति के इन पहलुओं में से पहले दो के साथ सम्बन्धित हैं; शेष अध्यायों में हम संक्षेप में बाकियों का विचार करेंगे।

२. वृद्धि के लिए सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure for Growth)—स्थूल रूप में देखें तो सकल राष्ट्रीय उत्पादन के विस्तार में सार्वजनिक व्यय दो प्रकार सहायक हो सकता है। एक तो राज्य, आर्थिक अथवा सामाजिक प्रकार के "उपरिकों" के रूप में मूलभूत आर्थिक आधार को उपलब्ध कराने के लिए उत्तरदायी है जिसके बिना विद्यमान साधन पूरी तरह प्राप्य नहीं हो सकते अथवा उनका योग्यतम उपयोग नहीं किया जा सकता। दूसरा, सार्वजनिक व्यय प्रत्यक्ष ढंग से आर्थिक उत्पादिता बढ़ा सकता

है—नए उद्योगों की स्थापना में और कृषि के अधिक अच्छे उपायों को शुरू करने में सहायता देकर और स्वयं उत्पादन और व्यापार अपने हाथ में लेकर, विशेषतया उस प्रकार का जैसा अब तक इस देश में नहीं लिया गया। इस श्रेणी में शासन और उसकी प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा किया गया अनुसन्धानं कार्य आएगा जो अर्थ-व्यवस्था की विशेष स्थानीय स्थिति की दृष्टि से चालू किया गया हो। विकास पर हुआ सार्वजनिक व्यय सब प्रकार के देशों में सामान्य रूप से लागू होता है।

यद्यपि आधारभूत आर्थिक उपरिक, जैसे परिवहन व्यवस्था, ब्रिटेन जैसे विकसित देशों में देर से स्थापित हो चुके हैं, किन्तु इतने से ही कहानी समाप्त नहीं हो जाती; प्रौद्योगिक परिवर्तन के कारण समय-समय पर पुनरायोजन की आवश्यकता पड़ती है। जैसे, ब्रिटिश सड़क व्यवस्था न केवल सयुक्तराज्य बल्कि पश्चिमी यूरोप के कुछ कम समृद्ध देशों की अपेक्षा भी बहुत पिछड़ गई है, क्यों कि १९४० के बाद पिछली कमी पूरी करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया, सीधी सड़कों की एक ऐसी आधुनिक व्यवस्था का निर्माण तो दूर रहा—जिसे सड़क यातायात में वृद्धि ने आवश्यक सिद्ध कर दिया है। न ही अभी तक यातायात व्यवस्था की आवश्यक कड़ियां—जैसे कि सेवर्न ब्रिज (Severn Bridge)—जोड़ने के लिए कोई प्रभावी पग उठाया गया है। रेलों के भी उग्र पुनर्स्संगठन की आवश्यकता है, तब कहीं वे अपने कार्य के लिए, जो कुछ कम होने के बाद भी महत्त्वपूर्ण है, निपुण हो सकेंगी। सड़क व्यवस्था एक ऐसा विषय है जिसमें (जैसा हम पहले तर्क कर चुके हैं) विकास के लिए पूर्वताएँ (Priorities) तय करना कठिन नहीं होना चाहिए (सड़क के वैकल्पिक टुकड़ों पर प्रति इकाई बचा हुआ समय इकाइयों की संख्या के साथ गुणा करके)। न ही कोई बड़ी आर्थिक समस्या खड़ी होनी चाहिए, यदि नए बने राजमार्गों के लिए दाम लेने की समझदारी की योजना (जो अब अधिकांश देशों में प्रयुक्त होती है) लागू कर दी जाए। यह अंशतः बजटीय प्रश्न है जिस पर हमें बाद में फिर लौटना होगा।

अधिकांश अल्प-विकसित देशों में अपर्याप्त परिवहन व्यवस्थाएँ—सड़क

और रेल दोनों की वृद्धि—के मार्ग में एक भारी कठिनाई होती है, एक और सामान्य अनुभव में आने वाली कठिनाई है, बन्दरगाहों की सुविधा (port facilities) की अपर्याप्तता जिसके कारण आयातों के आने और निर्यातों के जाने में विलम्ब होता है। ये रुकावटें (bottlenecks) न केवल विदेशी आय को घटाने की प्रवृत्ति रखती हैं, अपितु आन्तरिक मूल्यों के स्थायित्व की रक्षा करना भी अधिक कठिन बना देती हैं। एक वास्तव में अविकसित और प्रायः साफ न किए (largely uncleared) देश में प्रशस्त हल (optimum solution) क्या होगा जिसमें सड़क, रेल, जल और वायु परिवहन का भी ठीक संतुलन हो, यह निश्चय करना सुगम नहीं है। सापेक्ष व्यय और लाभ की किसी सरल गणना से काम नहीं चलेगा और भूभाग के प्रकार, वर्षा की मात्रा और उसका वितरण, उपलब्ध रथ्याश्म आदि सब विषयों में विशिष्ट स्थानीय परिस्थिति का ध्यान करना आवश्यक होगा। दूसरी ओर कई स्पष्ट सुधार प्रायः उपलब्ध होते हैं और उनके सीमित क्षेत्र के भीतर बिना मुख्य निर्णयों के क्रम में विलम्ब किए निरपेक्ष पूर्वताएँ स्थापित करना संभव होना चाहिए। यदि औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी सुधारों का जैसे-जैसे वे प्राप्त हों, पूरा लाभ उठाना हो तो जिस वस्तु की सब से अधिक आवश्यकता है, वह है बड़े पैमाने पर किसी विकास के पहले आर्थिक उपरिकों (overheads) के मूल महत्त्व के विषय में अधिक ज्ञान।

अल्प-विकसित देशों में आर्थिक उपरिकों के विस्तार की आवश्यकता के समानान्तर आवश्यकता है सामाजिक उपरिकों (social overheads,) की अधिक उपलब्धि की, विशेषतया शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य की दिशा में किन्तु यहाँ एक अर्थ में वित्तीय समस्या अधिक सरल है। पहला कारण तो यह है कि इस प्रकार के विकासों की वांछनीयता का ज्ञान पर्याप्त है, अधिक स्थानीय माँग का अर्थ खर्चा झेलने की अधिक स्थानीय तैयारी होना चाहिए (और प्रायः होता है), जिससे राजस्व के अधिक स्रोत हाथ लगते हैं। अधिकतर यह भी है कि आर्थिक उपरिकों की अपेक्षा संस्थापनाओं के लिए कम भारी पूँजी-उपकरण आवश्यक होता है (यह सामान्य अस्पतालों के विषय

में सच नहीं हैं)। अतः सामाजिक उपरिकों के क्षेत्र की वित्तीय समस्याएँ मुख्यतः नियन्त्रण की और पूर्वताओं के ऐसे बँटवारे की हैं जो राष्ट्रीय उत्पादन को सब से अधिक बढ़ाएँ। सामाजिक उपरिक प्रायः शक्तिशाली स्थानीय निहित हितों (vested interests) को जन्म देते हैं जिन के वोट बहुत बार महत्त्वपूर्ण होते हैं। उनके साधन अधिक सीमित होने के कारण निर्धन देशों के लिए यह विशेष महत्त्व रखता है कि वे "विवृत अन्त" (open ended) वाले व्यय—जैसे निजी अभिकरणों को ऐसी सेवाओं के लिए ठेके देना जिनके विकास को वे संभाल न सकते हों—उससे बचें। जैसा हमने देखा, सम्पन्न और विकसित देशों के लिए यह अत्यन्त सुगम है कि सामाजिक सेवाओं में आर्थिक समझदारी की मर्यादा का अतिक्रमण कर जाएँ और उसमें बहुजन के हित का थोड़ों के विशेष लाभ के लिए बलिदान कर दें, अल्प-विकसित देशों में यह भय और भी अधिक होता है।

किन्तु सभी प्रकार के उपरिकों के सम्बन्ध में मूलभूत वित्तीय कठिनाई यह है कि उनका राजकोषीय सम्भाव्य में प्रत्यक्ष अंशदान उपेक्षणीय होता है जबकि उनके परोक्ष लाभप्रद प्रभाव सुदीर्घ काल में राष्ट्रीय उत्पादन में विस्तार के द्वारा धीरे-धीरे प्राप्त होने की ही संभावना होती है। अल्पकाल में सामाजिक उपरिकों की व्यवस्था कई बार सचमुच, जितनी कठिनाइयाँ दूर करती है, उससे अधिक पैदा कर देती है—उदाहरणार्थ, नई आर्थिक रचना मुक्त हुए श्रम को आत्मसात् करने के लिए सिद्ध हो इसके पूर्व ही विद्यमान सामाजिक ढाँचे के विसर्जन की गति को वह बढ़ा सकती है। सतर्कता और जागरूकता के लिए जो युक्ति है उसको यह तथ्य पुष्ट करता है; साधनों के वैकल्पिक उपयोग के रूप में जो लागत है उसको निरन्तर तोलते रहना जरूरी है।

आर्थिक उपरिक और वास्तविक आर्थिक विकास बहुधा एक दूसरे में संविलीन (merge) हो जाते है। उत्तरोक्त की कसौटी यह है कि कार्य अपना खर्च देते हैं—इस अर्थ में कि राजस्व पर वे कोई शुद्ध भार नहीं डालते, न चालू खर्च के लिए और न उनको उपलब्ध कराने के लिए जो ऋण लिया

गया उसकी सेवा के लिए। इसके अतिरिक्त जब वे पूरी तरह चल रहे हों तो उनसे अधिक विकास के लिए बचत का कुछ आधिक्य प्राप्त होने की आशा होनी चाहिए जिससे गतिशील क्रम (dynamic process) जारी रहे।

आर्थिक उपरिकों और आर्थिक विकास के सीमा प्रदेश पर है, उद्योग और कृषि में उत्पादिता के सुधार के लिए आधारभूत सुविधाओं—विशेषतया विद्युत् शक्ति, बाढ़ नियन्त्रण, नालियों (drainage), सिंचाई तथा धरती की सुरक्षा और पुष्टि के अन्य उपायों—की व्यवस्था। ये सेवाएँ वास्तविक विकास ही हैं, किन्तु उपरिकों के समान वे अपना पूरा लाभ दीर्घकालोपरान्त ही देती हैं; यह बड़े कार्यों के विषय में और भी अधिक सच है जिनके निर्माण में ही कुछ वर्ष लग जाते हैं। अतः ऐसे कार्यों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए; सामान्यतः साधनों की उत्पादिता में स्थायी वृद्धि करने की सर्वोत्तम आशा इन्हीं में है। जैसे ये बड़े कार्य हैं, वैसे ही कई और छोटे कार्य भी उपलब्ध होंगे जो अल्पकाल में उत्पादिता को अधिक तेजी से बढ़ाएँगे किन्तु दीर्घकाल में कम प्रभाविता से। बहुत बार इन्हें बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है क्योंकि इन के लिए "पेटियाँ कम कसनी पड़ती" हैं (अपनी आवश्यकताओं को कम रोकना पड़ता है)। इससे तब तक कोई हानि नहीं हो सकती जब तक वे विकास के एक सुनिश्चित कार्यक्रम में बिठाई गई हों। किन्तु यदि छोटे कार्य बिना क्रम के बढ़ाए जाएँ तो साधनों का पूरा लाभ प्राप्त हुए बिना धन का अपव्यय हो जाने की संभावना है।

विकासार्थ सार्वजनिक व्यय के क्षेत्र में (विशेषतया पिछड़े हुए देशों में) मौलिक समस्याएँ दो हैं: (i) उसके शुद्ध उत्पादन के मूल्य के अतिरिक्त, (नियमित कार्य का स्वभाव और प्रौद्योगिक निपुणता के रूप में) उसके उपोत्पादनों (by-products) के लिए कहाँ तक उद्योगीकरण को प्रोत्साहन देना चाहिए, और (ii) निजी उद्यम को सहायता देने की बजाय कहाँ तक राज्य को औद्योगिक व कृषि-सम्बन्धी परियोजनाओं में प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए। इन प्रश्नों में सामान्य नीति के विषय भी उलझे हुए

हैं जो हमारे क्षेत्र के बाहिर हैं परन्तु मूल में उनका निर्णय आर्थिक और राजकोषीय आधार पर ही होता है।

यह निरन्तर ध्यान में रहना चाहिए कि जो उद्योग साहाय्य के बिना अपनी लागत पूरी नहीं कर सकता वह राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने की बजाय कम करता है; उसको एक प्रकार की सामाजिक सेवा मानना अधिक उपयुक्त होगा जिसे परिणामस्वरूप आर्थिक की अपेक्षा सामाजिक कार्यक्रम में समाविष्ट कर के राजस्व पर एक अतिरिक्त प्रभार के रूप में गिनना चाहिए। और फिर कई बार ऐसा भी हो सकता है कि उद्योग जिस सम्भाव्य मंडी की (किसी उचित आयोजन अवधि में) सेवा कर सकता है वह एक संयन्त्र (plant) के आर्थिक दृष्टि से योग्य कार्य करने के लिए भी बहुत छोटी हो। जब एक विस्तृत सम्भाव्य मंडी उपलब्ध हो किन्तु स्थानीय प्रावैधिक ज्ञान की कमी हो और विदेशी पूंजी आकर्षित करना कठिन हो तो राज्य द्वारा संचालन अथवा भागग्रहण (participation) का पक्ष प्रबल होता है क्योंकि उस प्रकार प्रौद्योगिक मन्त्रणा और प्रशिक्षण की उपलब्धि अधिक हो सकती है।

विकास के लिए सार्वजनिक व्यय का सब से कम विवादास्पद क्षेत्र है उद्योग की स्थापना के लिए और कृषि की उत्पादिता बढ़ाने के लिए प्रौद्योगिक स्थिति को सुधारना। इस शीर्षक के अन्तर्गत हम ये वस्तुएँ भी सम्मिलित कर सकते हैं—उचित शर्तों पर और प्रारम्भ करने वाली फर्मों को जैसे चाहिए उतनी मात्रा में पूंजी द्रव्य का प्रबन्ध जानकारी, उपयुक्त स्थान और भूमि प्राप्त करने में कानूनी सहायता इत्यादि का प्रबन्ध जिससे विशेष स्थानीय जोखिम कम से कम रह जाएँ, जलवायु और श्रम-नैपुण्य की स्थानीय स्थिति की दृष्टि से उपयुक्त संयंत्र के समायोजन के विषय में प्रौद्योगिक खोज करना। इनमें से किसी के भी राजस्व पर भारी शुद्ध बोझ डालने का कोई कारण नहीं है क्योंकि अधिकांश उदाहरणों में कालान्तर में वे लाभान्वित लोगों से वसूल किए जा सकते हैं।

विकसित देशों का अनुभव (जिसमें ब्रिटेन भी अपवाद नहीं है) बताता है कि इस प्रकार की सेवाएँ सार्वजनिक प्राधिकारियों द्वारा शासन के विभागों की

न्यूनाधिक प्रत्यक्ष देख-रेख में बहुत औचित्यपूर्वक चलाई जा सकती हैं। इसके उदाहरण हैं वित्त निगम (finance corporations) जो छोटी फ़र्मों के वास्ते द्रव्य का प्रबन्ध पक्का करने के लिए १९३० की दशाब्दी में स्थापित हुए और महायुद्ध की समाप्ति पर पुष्ट किए गए।[1] इस प्रकार की सहायता पिछड़े हुए देशों में और भी आवश्यक रूप में आवश्यक है और वास्तव में कई तो पहले ही दे भी रहे हैं। उसी प्रकार "व्यापार संपदाएँ" जो ब्रिटेन में पहले निजी उद्यम द्वारा स्थापित हुईं (जैसे स्लव और ट्रैफ़र्ड पार्क में) और बाद में विकास क्षेत्रों में सार्वजनिक निगमों के द्वारा, वे उद्यमी को स्थान और कारखाना किराये के आधार पर देकर और सार्वजनिक उपयोगिताओं का प्रबन्ध कर के मानो आधा रास्ता आगे बढ़ कर मिलती हैं। अल्पविकसित देशों में एक उद्यत उद्यमी (willing entrepreneur) और पर्याप्त उत्पादन अवस्थाओं (adequate production conditions) के मध्य में जो बाधाएँ होती हैं वे और भी अधिक दुरूह हैं और भूधारणाधिकार की वन-जाति-पद्धतियों (tribal systems) के समान कारणों से अधिक जटिल बन सकती हैं। इस प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के लिए व्यापारी संपदाएँ विशेष रूप से उपयुक्त प्रतीत होती हैं।

फिर, विकसित देशों में भी यह अनुभव किया गया है कि एक प्रकार की भौतिक स्थिति के लिए बनाया गया (designed) उपकरण दूसरी स्थिति में लगभग बेकार ही होता है। जैसे, महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य से ब्रिटेन में उत्सुकतापूर्वक किया गया कोयला खनन संयंत्र (coal mining machinery) ब्रिटिश भूतत्त्वीय स्थिति में बहुत कुछ बेकार (unusable) निकला। अनिपुण श्रम वाले उष्ण जलवायुओं में इसी अनुभव की पुनरावृत्ति होना निश्चितप्राय है। इस दिशा में जो कार्य कृषि के क्षेत्र में होना चाहिए, उदाहरणार्थ, मिट्टी निदान (soil diagnosis), उपयुक्त उपयोग, बीज और पशुओं का चुनाव और अभि-जनन (breeding) और कृषि-संयंत्र के समायोजन का काम वह और भी

---

१. (Macmillan) Committee on Finance and Industry द्वारा निदान किए गए "अन्तर" को भरने के लिए।

महत्त्वपूर्ण है क्योंकि किसी भी विकास में खाद्य उत्पादन का स्थान प्रथम होना आवश्यक है ।

३. राजस्व पक्ष का अंशदान (The Contribution of the Revenue Side)—वृद्धि को सफलतापूर्वक बढ़ाने में सार्वजनिक वित्त के राजस्व पक्ष का उत्तरदायित्व भारी है । शासन-पुरस्कृत विकास के कारण कराधान की जो अतिरिक्त आवश्यकता उत्पन्न होती है वह संभवतः किसी भी स्थिति में कुछ न कुछ नए भार के बिना नहीं निभाई जा सकती । विकसित देशों में, जैसा हमने देखा है, कर दर पहले ही इतने ऊँचे हैं कि और बढ़ाने में यह डर रहता है कि प्रभाव वांछित से कहीं उलट ही न पड़े, उदाहरणार्थ उद्दीपक घटा कर या (यदि साख नीति सतर्क न हो तो) स्फायी मूल्य वृद्धि को प्रोत्साहित कर के । अल्पविकसित देश में करदाताओं और कर संग्राहकों की अनुभवहीनता और अशिक्षा के कारण और व्यापार संगठन के अविकसित प्रकारों से उत्पन्न कठिनाइयों के कारण संभावना यह है कि कर-रचना करों के बहुत कम दरों पर ही थकान (strain) के चिह्न प्रकट करना प्रारम्भ कर देगी । वास्तव में एक पिछड़े हुए देश की यह विशेषता है कि जो धन उपलब्ध होता है उस पर कर लगाने में भी एक धनी देश की अपेक्षा ऐसा राज्य कहीं कम सफल होता है ।

विकास के क्रम में राजस्व का कार्य दोहरा है—एक ओर तो जिन उपायों का हमने अभी विश्लेषण किया है उनके द्वारा राजकीय व्यय के आवश्यक अंशदान के लिए उसे जरूरी द्रव्य ढूंढना होगा; साथ ही उसे अर्थ-व्यवस्था पर इतना संयम चाहिए कि स्फायी दबाव एक हलकी और नियन्त्रण में रह सकने वाली मर्यादा से अधिक न बढ़े । इन प्रारंभिक उद्देश्यों के अतिरिक्त राजस्व स्वयं भी विकास के क्रम को उद्दीप्त करने में सहायक हो सकता है । यद्यपि, जिस सीमा तक वह ऐसा कर सकता है उसे प्रायः बहुत बढ़ा कर कहा जाता है, तो भी स्पष्ट है कि करों को इस प्रकार स्थापित करना चाहिए कि जोखिम और अनुद्दीपक न्यूनतम ही रहें, विशेषतया अभिलाषी उद्यमियों (intending entrepreneurs) के लिए । इन तीन उद्दिष्टों से करों का

अनिवार्यतः एक ही चुनाव प्राप्त हो ऐसा कदापि नहीं है। स्थायित्व के लिए जो दमन (constraint) आवश्यक है वह उद्यम को निरुत्साहित कर सकता है; उद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने की अति उत्सुकता (over-eagerness) के कारण राजस्व का एक अनुचित बलिदान हो सकता है।

राजस्व की मुख्य समस्या उपर्युक्त उद्दिष्टों में से पहले दो से सम्बद्ध है। यह तर्क किया जा सकता है और कई बार किया भी गया है कि थोड़ी मात्रा में स्फीति वास्तव में विकास के पहियों में तेल ही देती है। उसके द्वारा निश्चित आय प्राप्त करने वालों से हस्तान्तरित होकर साधन शासन को मिलते हैं, राजस्व बढ़ने की तरंग में होता है और मन्द गति से ऊपर उठते हुए मूल्य उद्यम को प्रोत्साहित करते हैं। यह क्रम अधिक सरल और कम कष्टपूर्ण मालूम होता है बजाय ऊपर की गति को रोकने के लिए पर्याप्त राजस्व संग्रह करने के। यह तर्क आकर्षक तो है किन्तु जो देश विकास के लिए वास्तविक आग्रह रखते हैं उनके सिए विश्वसनीय नहीं है।

पहले तो शासन को साधनों के हस्तान्तरण की प्रक्रिया लगभग वैसी प्रभावी नहीं जैसी किसी अधिक विकसित देश में होगी, क्योंकि कर योग्य आय वाले लोग बहुत थोडे होते हैं। और जो कुछ भी बचत करने वाले लोग होंगे वे अपनी बचत के वास्तविक मूल्य में कमी आते देख कर निरुत्साहित हो सकते हैं। जब तक कीमतों की बढ़ने की प्रवृत्ति का सामना करने की दृष्टि से अतिरिक्त उपभोक्ता पदार्थ (consumers' goods) आयात करने के लिए पर्याप्त आरक्षित किसी न किसी तरह से उपलब्ध न हों, शोधन शेष की कठिनाइयों का बड़ा भय रहता है। स्थिति का ठीक निदान करना कठिन है क्योंकि संचार के तीव्र साधनों वाले विकसित देश की अपेक्षा यहाँ प्रतिक्रिया धीमी होने की प्रवृत्ति रहती है, जिस कारण खतरा अनुभव किए जाने के पूर्व ही पर्याप्त स्फायी संभाव्य जमा हो सकता है।

स्फीति को काबू के बाहिर जाने से रोकने के लिए राजस्व का उत्तरदायित्व भी, अधिक विकसित देश की अपेक्षा कहीं अधिक होता है क्योंकि नियन्त्रण के अन्य साधन अधिक दुर्बल हैं। प्रत्यक्ष नियन्त्रण (direct controls)

चलाने में कठिन होते हैं और कभी कभाद ही न्याय्य होते हैं। सामान्य रूप में, निर्धन देश वित्तीय दृष्टि से किसी अधिक धनी अथवा बड़े पड़ोसी पर निर्भर होते हैं और उनके अपने पास वित्तीय संस्थाओं की कोई विकसित व्यवस्था नहीं होती। अतः यदि एक रिजर्व बैंक उपलब्ध भी हो तो उसके पास नियन्त्रण का सामर्थ्य अधिक होने की सभावना बहुत नहीं है; उस सामर्थ्य के लिए दोनों वस्तुएँ चाहिएँ—व्यापारी वर्ग में बैंकिंग का स्वभाव, और देश में विस्तृत हितों वाले बैंकों की कम से कम कुछ व्यवस्था। एक अर्थ में तो यह सच है कि वित्तीय संस्थाओं के अभाव का ध्वनितार्थ यह निकलता है कि अधिक विकसित देशों में जिस प्रकार की सट्टे से उत्पन्न तेजी (speculative boom) (वस्तुओं के स्टॉक्स और स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूतियों में) के विकास की शांत गति में इतनी बार विघ्न डाला है वह यहाँ होने की संभावना नहीं है। किन्तु उसका प्रतिरूप है सट्टे से आई तेजी जिसमें बचतें औद्योगिक विकास से और शासन के ऋणों से खसक कर बन्धकों और विलास भवनों के निर्माण में लगती जाती हैं। आगामी अध्याय में हम राजकीय उधार के ऐसे उपायों को स्पर्श करेंगे जो इस कठिनाई से बचने के लिए सहायक हो सकते हैं। किन्तु सब से निश्चित उपाय है इसका प्रबन्ध करना कि कर-संरचना उसे सहन करे इसलिए हमें ध्यान-पूर्वक विचार करना होगा कि इस सम्बन्ध में विभिन्न कर क्या-क्या कर सकते हैं।

विकास के वित्त-प्रबन्ध के लिए परम्परा से जो कर चले आ रहे हैं वे आयात शुल्क हैं। कुछ अवस्थाओं में वे हमारे तीनों उद्दिष्टों में सहायक हो सकते है—अतिरिक्त राजस्व प्रायः अन्य किसी ढंग की अपेक्षा सीमा-शुल्कों के द्वारा अधिक सुगमतापूर्वक संग्रह हो सकता है; राजस्व अर्थ-व्यवस्था के ठीक उन्हीं तत्त्वों के जेबों में से आने की प्रवृत्ति होती है जिनकी आयें सब से बढ़ी हुई हों, और अन्त में प्रशुल्क भित्ति की छाया में नए उद्योग पनप सकते हैं क्योंकि उसके कारण स्थानीय पूँजीपति भी उत्साहित हो सकते हैं और बाहरी फर्में भी अपना बाजार बनाए रखने की उत्सुकता से वहाँ अपना उत्पादन

स्थापित करने के लिए आकृष्ट हो सकती हैं।[1]

किन्तु विकास कार्य में आयात शुल्कों की उपयोगिता बहुधा बहुत बढ़ा कर कही जाती है। यह कदापि निश्चित नहीं हैं कि शुल्क वहीं आघात करेंगे जहाँ अतिरिक्त आयें है; यदि वे विलास वस्तुओं पर लगे हों तो अर्थ-व्यवस्था का प्रभावित भाग नियन्त्रण के प्रबन्ध की दृष्टि से बहुत छोटा हो सकता है; यदि वे सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं पर लगाए जाएँ तो उनकी प्रतिगामिता असह्य हो सकती है; न्यून आयें अत्यन्त संकीर्ण मात्रा में ही दबाई जा सकती हैं। कठिनाई मूलतः सरलतापूर्वक कर-योग्य उपभोग की आदतों वाले मध्यम वर्ग के छोटेपन से उत्पन्न होती है। फिर, शिशु उद्योगों की यह कुख्यात प्रवृत्ति होती है कि "पीटर पैन" की तरह सदा शिशु ही रहें, और उच्च प्रशुल्क के द्वारा उन्हें सहायता देने के निर्णय से पूर्व अच्छा हो यदि शासन इस बात की जांच कर ले कि क्या सस्ती शक्ति देशीय और कम लागत का कच्चा माल अथवा विशाल संभाव्य बाजार (potential markets) आदि सफलता की स्पष्ट शर्तें पूरी हैं या नहीं। यदि ऐसा नहीं है तो उनके पक्ष में एकमात्र युक्ति है निपुणता, प्रशिक्षण और नगरों की वृद्धि की बाह्य मितव्ययिताएँ, जिन्हें वे बढ़ा सकते है। इनके लिए निर्धन देश भारी कीमत देने का सामर्थ्य नहीं रखते।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आयात शुल्क विकास में बड़ी सहायता बन नहीं सकते। शिशु उद्योगों के बचाव के रूप में वे कम से कम 'गारंटी' किए गए एकाधिकारों की पद्धति की तुलना में तो श्रेयस्कर हैं, जो न इतना राजस्व उत्पन्न करेगी न निपुणता की उतनी अच्छी 'गारंटी' ही देगी जितनी एक मध्यम प्रशुल्क। किन्तु बहुत बार आयात शुल्कों को उत्पादन शुल्कों के द्वारा समर्थन देना आवश्यक होगा जो कि उतनी मात्रा में अधिक काम आने योग्य और उपयोगी होंगे जितनी में उत्पादन शुल्क के लिए उपयुक्त पदार्थ उस

१. विकसित देशों में जिसका बहुत प्रचार किया जाता है, व्यापार के दरों पर आयात शुल्कों का अनुकूल प्रभाव, उसके अल्पविकसित देशों में महत्त्वपूर्ण होने की संभावना बहुत कम है क्योंकि वे विश्व-मूल्यों को प्रभावित करने का सामर्थ्य नहीं रखते।

स्थान पर निर्मित होंगे। प्राय: सर्वत्र, तम्बाकू के शुल्क भारी राजस्व प्राप्त कर सकते हैं और सुषविक मदिरा (alcoholic liquor) प्राय: विश्वसनीय होती है। बहुत बार राजस्व सम्बन्धी स्थिति इस बात का प्रबन्ध कर के सुधारी जा सकती है कि सेवाओं के दाम विशेषतया डाक सेवाओं के और बन्दरगाह शुल्क, वास्तव में अपना खर्च निकालें, चाहे फिर इस कारण सेवा स्तर कुछ कम हो जाएँ। अधिक पुरातन अवस्था में ब्रिटिश स्तर (उदाहरणार्थ डाक वितरण के) कदापि आवश्यक नहीं हैं।

विकास को बढ़ाने के लिए आयात शुल्कों के उपयोग का एक रूपान्तर है निर्यात शुल्कों का, सामान्यतया प्रारम्भिक वस्तुओं पर, आरोपण। १९५१-५२ की अभिवृद्धि में कुछ विकासी देशों ने इसका बहुत लाभ उठाया। विश्व भर में तेजी (world boom) की अवस्था में न केवल यह स्वाभाविक है कि प्रारम्भिक वस्तुओं के उत्पादक देश, भाग्य के वरदानरूप मिले हुए व्यापार के अनुकूल दरो का पूरा लाभ उठाएँ बल्कि विश्व के दृष्टिकोण से यह वास्तव में आवश्यक है कि वे ऐसा करें क्योंकि इस प्रकार स्थायित्व को सहायता मिलती है—आयातक देशों में भी जो इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध बोली देने से रुकेंगे, और सम्भवत: कुछ सीमा तक निर्यातक देशों में भी।

किन्तु इस प्रकार के निर्यात शुल्क का राजस्व अल्पजीवी होने की सम्भावना है; अधिक समय बीतने पर बेलोच माँगों का लाभ उठाने का प्रयत्न अनिवार्यरूपेण पूर्ति के अन्य साधनों अथवा वैकल्पिक (substitute) वस्तुओं का विस्तार कर देता है। इसलिए किसी विरामी सेवा के वित्तप्रबन्ध के लिए ऐसे राजस्व का भरोसा नहीं किया जा सकता।

निर्यात कर निर्यातक देश में भी स्थायित्व की सहायता करते हैं विशेषरूप से क्योंकि वे अर्थ-व्यवस्था के उन भागों पर ही प्रत्यक्ष आघात करते है जो निर्यात की तेजी (export boom) से अधिकतम लाभ उठा रहे होते हैं। उसी परिणाम को प्राप्त करने का एक अन्य मार्ग है शासन की एजैंसियों या मार्केटिंग बोर्डो के द्वारा, जो निश्चित मूल्यों पर उत्पादकों से खरीद कर सीधा विदेशी आयातकों को बेचते हैं और इस प्रकार उत्पादकों पर उतनी बलात्

संचिति (forced saving) लाद देते हैं जितनी स्थायित्व की रक्षा के लिए जरूरी हो। सिद्धान्त रूप से यह उपाय निर्यात शुल्कों की अपेक्षा श्रेयस्कर है क्योंकि क्रय-मूल्य सरलता से समायोजित किया जा सकता है। इतनी लचक प्राप्त करने के लिए आयात शुल्क को यथा मूल्य दरों (advalorem rates) पर विसृप अनुमाप (sliding scale) के अनुसार लागू करना होगा। जहाँ तक घरेलू अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, मौलिक समस्या है ऐसा क्रय-मूल्य अथवा कर का दर चुनना जो उद्यम को कुँठित किए बिना स्थायित्व की रक्षा करे। किन्तु यह मूल्य नियन्त्रण की सामान्य समस्या है और केवल निर्यात करों तक सीमित नहीं। यदि निर्यात करों का इस प्रकार सावधानी से उपयोग किया जाए तो वे समय-समय पर विकास में बहुत लाभप्रद हो सकते हैं—एक निधि का प्रबन्ध करके जिसमें से कीमतों की बढ़ने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए अतिरिक्त उपभोक्ता वस्तुओं के आयात की वित्त-व्यवस्था की जा सकती है। पूँजी वस्तुओं के आयात का मूल्य चुकाने का उनका जो प्रत्यक्ष लाभ है, वह इसके अतिरिक्त है।

सीमा शुल्कों के अतिरिक्त स्थायित्व के परिरक्षण और स्वयं विकास के प्रोत्साहन इन दोनों के लिए दूसरा उपाय निजी आय व लाभ करों के द्वारा है। जैसा हमने देखा है, निजी आय-कर आदर्श चक्रीय-स्थायिकारक (ideal cyclical stabilizers) नहीं हैं क्योंकि जैसे ऊँचे दर आज विकसित देशों में प्रायः पाए जाते हैं उनसे उद्दीपन पर चिन्ताजनक प्रभाव पड़ सकता है। इस तर्क का बल पुरातन अवस्था (primitive conditions) में जिसमें सामान्यतया कर के दर पर्याप्त कम होते हैं और कर पड़ते भी बहुत संकुचित क्षेत्र पर हैं घट जाता है। विकासी देशों में आय करों पर निस्सन्देह कहीं अधिक भार डाला जा सकता है, और उसके आगे, जैसा अब विकसित देश उनसे पहले अनुभव कर चुके हैं, इसी रास्ते पर चल कर अन्ततोगत्वा वे अपनी राजस्व-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझा सकते हैं। प्रभावी आय करों के विकास के मार्ग में मौलिक बाधा सामान्यतः निपुण और विश्वसनीय अन्तर्देशीय राजस्व विभाग का न होना है। प्रावैधिक सहायता की प्रार्थनाओं में इस सेवा के निर्माण

सम्बन्धी मदद को बहुत अधिक पूर्वता देनी चाहिए। करदाता को पर्याप्त कर देने के लिए तभी प्रेरित किया जा सकता है जब उसे कर के निर्धारण और संग्रह के साम्य में विश्वास हो।

छोटी फर्म (जो सम्भवतः व्यापार संगठन का प्रमुखतम रूप होगा) के लाभ का करारोपण स्वाभाविक रूप से वैयक्तिक आय कर के क्षेत्र में ही आएगा और वास्तव में वहाँ अपनी सबसे अधिक कष्टप्रद सिरदर्दो का सामना करेगा। किन्तु अधिकांश विकासशील देशों में पर्याप्त आकार की कम्पनियों की एक संख्या उनकी सीमा के अन्दर कार्य कर रही होती है जिनके कम से कम अंशतः विदेशी स्वामित्व में होने की सम्भावना है। बड़े पैमाने की कम्पनियों की स्थापना को प्रोत्साहन देना कई प्रकार से विकास नीति का एक अत्यन्त वाँछनीय उद्देश्य है, एक तो इस कारण कि वे राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने और रोजगार के स्तर को ऊँचा करने का सबसे अच्छा अवसर प्रस्तुत करते हैं और दूसरा उन पर कर लगाना असामान्य रूप में सरल होता है। इसी कारण से कम्पनी का, विशेषकर विदेशी स्वामित्व वाली कम्पनी का उच्च लाभ करों द्वारा शोषण करने का प्रलोभन होता है। किन्तु यदि ऐसा किया जाए तो परिणामस्वरूप नए उद्यम—विदेशी और स्थानीय दोनों—की स्थापना निरुत्साहित हो सकती है। अतः शासन एक दुविधा में फंसा रहता है कि, एक आसान मार्ग से अधिक राजस्व प्राप्त करे जिसमें विदेशी का भाग बहुत होता है, या ऐसे पथ के प्रोत्साहन के लिए पग उठाए जो राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने का सम्भवतः सबसे प्रभावी ढंग हो।

सच तो यह है कि नीति पर बहुत बार इसका असर हो जाता है कि किस प्रकार के उत्पादन का प्रश्न समुपस्थित है। खनन कार्य मुख्यतः विदेशी स्वामित्व वाले होने की प्रवृत्ति है, और पूँजी तथा प्रवीण श्रम (skilled labour) के लिए उनकी आवश्यकता भारी होने के कारण वे स्थानीय विकास के अनुपयुक्त होते हैं; उन पर करारोपण प्रायः भारी रहता है। दूसरी ओर जहाँ सामान्य औद्योगिक विकास की कोई आशा हो जिसमें स्थानीय पूँजी को भाग लेने के लिए प्रेरित किया जा सके, यहाँ शासन शोषण की बजाय पक्षपात

करने का प्रयत्न करते हैं यद्यपि औद्योगिक उपक्रमों को दी गई रियायतों के कारण राजस्व की पर्याप्त हानि होने का भय हो सकता है। इससे ऐसी समस्याएँ आ खड़ी होती हैं जो विकसित और पिछड़े हुए दोनों प्रकार के देशों में वृद्धि के श्रम के साथ समान सम्बन्ध रखती हैं चाहे वे पिछड़े देशों में विशेष तीव्र हों।

जैसा हमने देखा है, अचल उपकरणों के शीघ्र अपलेखन (quick write off) के लिए अवकाश देने वाली कर-सम्बन्धी रियायतें विशेषतया जब वे पर्याप्त "प्रारंभिक" छूटों के द्वारा समर्थित हों, समुत्थान में पूँजी निर्माण को बढ़ाने के अत्यन्त उपयोगी उपाय सिद्ध हुए हैं। एक पिछड़े हुए देश में स्थापित होने के वास्ते प्रयत्नशील 'फ़र्म' के लिए (श्रम कुशलता और अन्य लागतों के विषय में एक ओर और बाजारों के विषय में दूसरी ओर) जो अनिश्चितता की विशेष स्थिति होती है उस में यह उपाय इससे भी अधिक लाभदायक होता है। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा उद्दीपक (जिससे अन्ततः राजस्व की कोई हानि नहीं होती) पर्याप्त है अथवा उसे अन्य आकर्षणों द्वारा बढ़ाना होगा। उस प्रयत्न की दिशाएँ कई हो सकती हैं। एक घाटे को अनिश्चित काल तक आगे ले जाने की (परम्परागत सीमित समय के स्थान पर) अनुज्ञा हो सकती है। दूसरा अवमूल्यन पद्धतियों में से किसी एक या "ऋजु रेखा" (straight line) और या "घटने वाला शेष" (reducing balance) पद्धति की अनुज्ञा फ़र्म को दी जा सकती है।[1] तीसरा आगे ले जाने के समान, हानि को पीछे ले जाने की भी अनुज्ञा हो सकती है। चौथा, अवमूल्यन छूटों के उपर एक विशेष "नियोजन छूट"[2] दी जा सकती है। अन्तिम एक निश्चित अवधि के लिए एक पूर्ण "कर अवकाश" (Tax Holiday) दिया जा सकता है। इन सब उपायों के कई रूपान्तर और कई जोड़ कल्पना किए जा सकते हैं।

---

१. ऋजु रेखा पद्धति में मूल लागत की एक निश्चित प्रतिशतता हर वर्ष काट ली जाती है जब तक फ़र्म उपकरण की पूरी लागत प्राप्त न कर ले; "घटने वाला शेष" पद्धति में प्रतिशतता हर वर्ष लिखित लागत पर न कि उपकरण की पूरी मूल लागत पर लगाई जाती है।

२. जैसा १९५४ के ब्रिटिश बजट में में डाला गया।

उद्यमियों के लिए जो ये प्रलोभन हैं उनके सम्बन्ध में निर्णय करते हुए प्रारम्भ में ही एक प्रभेद करना होगा—उनमें जिनसे राजस्व का कुछ शुद्ध बलिदान होता है और जिनसे नहीं होता। उत्तरोक्त प्रकार के विरुद्ध तो कभी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उनका अर्थ तो वृद्धि को बढ़ाने की दृष्टि से कर को बुद्धिपूर्वक बिठाने का कार्य ही है। पूर्वोक्त उतने ही अधिक सन्दिग्ध रहते हैं—जितनी कठिनाई से राजस्व उपलब्ध होता है और रियायतें उन लोगों को दे दे कर व्यर्थ फेंकी जाती हैं जिन्हें उनकी आवश्यकता नहीं। अधिकांश उदाहरणों में दरों में सामान्य कमी के द्वारा अधिक अच्छा परिणाम प्राप्त किया जा सकता है, और उस कमी का राजस्व पर प्रभाव विशेष रियायतों के परिणाम का अपेक्षा अधिक सुगमता से प्राक्कलित किया जा सकता है।

हानि को आगे ले जाने की अनुज्ञा, जिन उद्योगों में लाभ घटते बढ़ते रहते हैं उनके लिए सामान्य रियायत होती है; यदि आगे ले जाना अनिश्चित काल तक कर दिया जाए (जैसा ब्रिटेन में कुछ वर्षों से है) तो भी राजस्व की हानि नहीं या नाममात्र ही होती है। पीछे ले जाना एक अधिक कठिन समस्या खड़ी करता है क्योंकि इसका अर्थ है जो राजस्व पहले प्राप्त किया जा चुका है उसे लौटाना। यदि यह किसी प्रकार उचित हो तो भी यह विकास के उद्दीपक की अपेक्षा एक विकसित देश में [जो सुगमतापूर्वक न्यूनता वित्त प्रबन्ध (deficit financing) का सहारा ले सकता है] एक चक्रीय स्थायिकारक के रूप में दिखाई देगा। अवमूल्यन की पद्धति का चुनाव राजस्व की कोई हानि नहीं करता और जोखिम घटाने वाले कारक के रूप में उसका औचित्य भी पूर्ण है; कुछ उद्योगों में या किन्हीं परिस्थितियों में एक तय समय में पूर्ण अपलेखन, नए उपकरण की लागत के बड़े भाग के शीघ्र अपलेखन (quick write off) की अपेक्षा अधिक आकर्षक हो सकता है। विलोमतः, इसका उलट भी सच है।

अवमूल्यन छूट को खिल कर नियोजन छूट बन जाने देना एक भिन्न प्रश्न है। यहाँ राजस्व की निश्चित हानि होती है इसलिए परिणामस्वरूप यह पूछना पड़ता है कि दूसरी ओर मिलने वाला उद्दीपक कम से कम उसके बराबर

लाभ पहुँचाता है या नहीं । यह ध्यान देने की बात है कि नियोजन छूट से पूंजी निर्माण को जो मुख्य अतिरिक्त उद्दीपक मिलता है वह उपकरण के "कमाई के" जीवन के अन्त में ही अनुभव होता है और यह इतना दूर होने की सम्भावना है कि आयोजन में कोई महत्त्व का प्रभाव नहीं डाल सकेगा[1] इसलिए निर्धन देशों के लिए बुद्धिमत्ता इसी में होगी कि नियोजन छूट पर राजस्व को व्यर्थ न खोएँ ।

बाकी रहा एक निश्चित समय के लिए "कर अवकाश ।" जब यह पहले पहल दिया जाए उस समय जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ना सम्भव है उसके अतिरिक्त जिस आविष्कर्ता फर्म के लिए इसका विचार किया जाता है उसे इससे विशेष उद्दीपक प्राप्त नहीं हो सकता । कारण यह कि उक्त फर्म सम्बन्धित अवधि में—जो प्रायः पाँच वर्ष से अधिक नहीं होती—कोई बड़ा कर योग्य लाभ कमा सकेगी इसकी सम्भावना कम ही है । और दूसरी ओर जो फर्म बहुत सफल है उसे अकारण ही कर से मुक्ति मिली रहेगी । किन्तु समस्या की जड़ अवकाश काल के बीत जाने के बाद की कर-व्यवस्था में छिपी है । यदि तब लाभ पर अवमूल्यन छूटों से युक्त रूढ़ (customary) कर लगाया जाता है (जिस के अनुसार पाँच साल पुराना संयंत्र वास्तव में नया ही स्वीकार किया जाता है) तो राजस्व की पर्याप्त हानि हो सकती है । किन्तु यदि ऐसा नहीं किया जाता तो कर-अवकाश की बजाय हानि को अनिश्चित काल तक आगे ले जाने के साथ अवमूल्यन की सीधी रेखा पद्धति की अपेक्षा फर्म घाटे में रह सकती है ।

जिन फर्मों का स्वामित्व विदेश में होता है उनके मूल देश में उन पर करों के लगाने से स्थिति बहुत अधिक उलझ जाती है । यह इतना विशिष्ट (specialist) विषय है कि हम यहाँ इसकी विस्तृत चर्चा नहीं कर सकते; यद्यपि यह कारक इतना महत्त्व रखता है कि किसी अविकसित देश में संयंत्र

---

१. यह सच है कि यदि "घटने वाला शेष" पद्धति काम लाई जाए तो दूसरे वर्ष में थोड़ा अधिक उद्दीपक होगा क्योंकि उस वर्ष का अवमूल्यन अभ्यंश (कोटा) लिखित लागत की बजाय पूरी मूल लागत पर गिना जाएगा ।

की स्थापना में यही निर्णायक तत्त्व हो ऐसा सम्भव है।[१] यदि दोनों देशों में दोहरे करारोपण के विषय में कोई करार नहीं है तो इकट्ठे दो कर देने के बोझे का फर्म पर बहुत प्रतिरोधक प्रभाव हो सकता है। यदि ऐसा समझौता हो—जिसके अनुसार फर्म कम दर वाले देश को पूरा कर दे और शेष ऊँचे दर वाले को—तो भी क्योंकि अल्पविकसित देश का दर कम होने की सम्भावना है, उसके द्वारा दी गई रियायत व्यर्थ जा सकती है; फर्म को फिर भी अपने देश का दर देना पड़ता है और साथ में विदेश में नियोजन का जो अतिरिक्त जोखिम है वह भी झेलना पड़ता है।

किन्तु सब कुछ कहने और करने के बाद कर-रियायतें कहाँ तक अपने बूते पर विकास को बढ़ाने में वास्तविक रूप से सफल होती हैं यह सन्दिग्ध है। ब्रिटेन में १९३० की दशाब्दी की दर-रियायतों से मन्दी-ग्रस्त क्षेत्रों के पुनर्वास में लगभग नहीं के बराबर प्रगति हुई; परिवर्तन आया तो वहाँ (ईंट, मसालों और इस्पात, इन दुर्लभ वस्तुओं के प्रलोभन के द्वारा) उच्च गतिविधि (high activity) की स्थिति में फर्मों को उन क्षेत्रों को "निर्देशित करने" से ही आया। पिछड़े हुए देशों में विदेशी नियोजकों के लिए अनुकूल निर्णय की ओर झुकने वाली वस्तुएँ हैं राजनैतिक सुरक्षा—जिसमें भूधारण (tenure) सुरक्षा भी सम्मिलित है, लाभांशों और यदि आवश्यक हो तो पूँजी के लौटाने (repatriation) के लिए सुविधाएँ अर्थात् विशालतम अर्थ में आर्थिक अवसर (prospects)। किसी पिछड़े हुए देश का शासन विकास को बढ़ाने के लिए किए गए व्यय के द्वारा जो सेवाएँ प्रस्तुत कर सकता है वे दीर्घकाल में, छोड़े गए करों की अपेक्षा अधिक लाभकारी होने की सम्भावना है।

---

१. परिस्थिति इसमें भी भिन्न हो सकती है कि फर्म अल्पविकसित देश में अपने गौण (subsidiary) स्थापित करे अथवा शाखा। उस देश की दृष्टि से गौण श्रेयस्कर है क्योंकि कर योग्य लाभ का आकलन अधिक सुगम होता है; उसी तर्क के कारण गृह देश विदेशों में बहुत कर के शाखाओं की स्थापना को अधिक पसन्द करेगा।

अध्याय १६

उधार नीति और ऋण-व्यवस्थापन

(Borrowing Policy and Debt Management)

१. साख नीति के लिए लोक ऋण का महत्त्व (The Significance of the Public Debt for Credit Policy)—जैसा हमने प्रारंभ में देखा, आधुनिक अवस्था में स्थायित्व और विकास की सामान्य आर्थिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए तीन उपाय उपलब्ध है : राजकोषीय यन्त्र, मुद्रा यन्त्र और प्रत्यक्ष नियन्त्रण की नीति। सिवाय युद्ध और विशेष आपातिक (emergency) स्थितियों के (जो किसी प्राकृतिक दुर्घटना के कारण उत्पन्न हो सकती है), अन्तिम उपाय एक स्वतन्त्र समाज में निरुपाय विवशता का मार्ग ही समझा जाना चाहिए, जिसमें कम से कम अंशत: शेष यन्त्रों के व्यवस्थापन की अपर्याप्तता अथवा दुरुपयोग प्रकट होता है। अन्य दोनों उपायों में यह गुण है कि वे चुनाव और उद्यम का स्वातंत्र्य इस प्रकार सुरक्षित रखते है जैसे प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के रहते कठिन है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में युद्धरत देशों में प्रत्यक्ष नियन्त्रणों ने अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य किया, सबसे बढ़कर ब्रिटेन में। उसके साथ ही राजकोषीय यन्त्र पृष्ठभूमि में चला गया (यह स्थिति युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल में राजकोष महामात्र—चांसलर ऑफ दि एक्सचेकर को न लेकर मौन रूप से स्वीकार कर ली गई) जब कि मुद्रा-यन्त्र लगभग पूर्ण रूप से युद्ध-ऋण के बजटीय प्रभार (Budgetary charge) को न्यूनतम करने में लगाया गया था और नियन्त्रण के उद्देश्य के लिए नहीं प्रयुक्त किया गया। राजकोषीय यन्त्र १९४८ के हेतु-पूर्वक स्फीति-विरोधी बजट में सामने आया (जो कि, जैसा हम आगामी अध्याय में देखेंगे, बजटीय विकास की प्रविधि में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था को अंकित करता है)। १९५१ के शरत्काल में ब्रिटेन में सामान्य

आर्थिक नीति के सहायक के रूप में मुद्रा-यन्त्र की एक निर्णायक यद्यपि अस्थायी पुनरावृत्ति हुई और लगभग इसी समय ऐसे अन्य देशों में भी जिनकी नीति स्थूलतः समान दिशा को चलती आई थी। किन्तु यह केवल १९५४ के शरत्काल में हुआ कि ऐसा प्रकट होने लगा मानो मुद्रा-यन्त्र शायद अपने परम्परागत महत्त्व को पुनः लगभग पूरा प्राप्त कर ले।

मुद्रा व साख नीति अपने रूप में सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं समझी जा सकती, विशेष रूप से उसका वह भाग जो बाह्य स्थायित्व को बनाए रखने के लिए प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आता है। यह आज भी सच है यद्यपि उत्तरदायी संस्थाएँ [ब्रिटेन में बैंक आफ इंगलैण्ड और 'विनिमय समकारी लेखा' (Exchange Equalization Account)] अब राज्य के स्वामित्व में और कोषागार के निर्देशन के अधीन हैं। तथापि मुद्रा-यन्त्र का एक पक्ष सार्वजनिक वित्त के इतना समीप है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, अर्थात् वह भाग जो उधार-नीति और लोक-ऋण के व्यवस्थापन से सम्बन्ध रखता है। प्रथम विश्वयुद्ध के विशाल ऋण के निर्माण के बाद (जब कि राष्ट्रीय ऋण का मूल धन दस गुना बढ़ गया) सार्वजनिक वित्त और साख नियन्त्रण में एक अटूट कड़ी बन गई है। इतने बड़े पैमाने पर उधार और ऋण-व्यवस्थापन देश की सारी आर्थिक पृष्ठभूमि पर प्रभाव डालता है। ऋण-व्यवस्थापन एक सार्वजनिक उत्तरदायित्व है जिससे मुँह नहीं छिपाया जा सकता, क्योंकि (ऋण की रचना के कारण) थोड़ी-थोड़ी देर के बाद बार-बार वित्त के दोबारा प्रबन्ध (refinancing) के विशिष्ट निर्णयों की आवश्यकता पड़ती है।

किन्तु यह सार्वजनिक उत्तरदायित्व एक सार्वजनिक अवसर भी है; वास्तव में इससे नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण नवीन यन्त्र उपलब्ध हो गया है। इसका आधार यह है कि प्रथम विश्वयुद्ध के उधार से (ब्रिटेन में; संयुक्त-राज्य में यह स्थिति द्वितीय महायुद्ध के समय आई), लोक ऋण वित्तीय बाजारों में छाया रहा है। कोषागार हुंडियाँ कर्ज के अन्य किसी भी छोटे साधन से इतनी अधिक रही हैं कि उनके ब्याज दर (अथवा, अधिक परिशुद्ध

रूप में कहना हो तो, वहाँ बट्टा—डिस्काउन्ट ने मुद्रा-बाजार में ब्याज की चाल तय की है, जब कि दीर्घकालीन सरकारी ऋण (युद्ध-ऋण आदि) उसी प्रकार पूँजी बाजार में छाया रहा। यद्यपि ब्रिटेन में यह क्रान्ति १९२० तक, जब युद्ध की ऋण प्रक्रिया पूर्ण हुई प्राप्त हो चुकी थी, एक दशाब्दी से अधिक बीत चुकने के बाद ही सार्वजनिक प्राधिकारी इस उत्तरदायित्व को एक अवसर में परिवर्तित कर सके।

किन्तु १९३० की दशाब्दी के मध्य तक कोषागार को, ऋण-व्यवस्थापन के द्वारा प्रयुक्त मुद्रा-नीति का विवाचक (arbiter) अनधिकृत रूप में स्वीकार कर लिया गया। १९४६ में अपना विधिवत् राष्ट्रीयकरण होने के १० वर्ष पहले ही बैंक आफ् इंगलैण्ड अपने आप स्वयं को कोषागार के निर्देशन के अधीन मानने लग पड़ा। अतः राष्ट्रीयकरण की क्रिया ने नियन्त्रण यन्त्र के कार्य-करण में व्यवहार में आश्चर्यजनक रूप से कम वृद्धि की। यह ब्रिटिश वित्तीय संस्थाओं में बैंक के अद्वितीय स्थान द्वारा और विशेषतया व्यवसायी बैंकों के साथ इसके निकट भौतिक और वैयक्तिक सम्पर्क के द्वारा पहले ही तय था, और फिर १९२० की दशाब्दी के पूर्व भाग में कुछ बैंकों के मिल जाने (amalgamations) की महत्त्वपूर्ण क्रिया ने "पांच बड़ों" की प्रभुता को जन्म दिया था। कोषागार द्वारा विधिवत् प्रेरित होने के बहुत पहले, उनके क्रिया-कलापों में "केन्द्र का संकेत" प्रभावी होने लग पड़ा था। फिर भी राष्ट्रीयकरण ने नियन्त्रण के यन्त्रों के प्रयोग में प्राधिकारियों के हाथों को निस्सन्देह बल दिया है, इसने क्रयावक्रय की शर्तों (hire purchase terms) के नियन्त्रण उपाय में उनके शस्त्रागार को कुछ बढ़ाया है और बैंकों के पास रखे गए कुछ डिपाजिटों के ब्योरे के रहस्योद्घाटन को बढ़ाया है जो नीति को प्रभावी बनाने में काफ़ी कारगर हो सकता है।

वर्तमान अध्याय में हमारा कार्य इसकी चर्चा करना है कि किस प्रकार इस पीढ़ी में एक बड़े लोक ऋण की (एक अर्थ में संयोगवश) विद्यमानता ने शासन के हाथ में नियन्त्रण का एक नया साधन पकड़ा दिया है जो एक ओर अधिक परिशुद्ध रूप वाले राजकोषीय यन्त्र के साथ और दूसरी ओर परम्परा-

गत मुद्रा-यन्त्र के साथ एकीकृत किया जा सकता है। नई परिस्थिति कई दृष्टियों से मुद्रा-सम्बन्धी पूर्व की उस ब्रिटिश क्रान्ति का एक विचित्र ढंग से संस्मरण कराती है जो सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में बैंक आफ़् इंगलैण्ड की स्थापना से अंकित हुई और जिसने लुई चौदहवें के विरुद्ध ब्रिटिश भुजबल को विजय प्राप्त करवाई। कितनी मात्रा में ऋण-व्यवस्थापन को नियन्त्रण के एक सक्रिय साधन के रूप में प्रयोग करने की इच्छा की जाएगी यह अनुमान का विषय है; स्थिति पिछले कुछ वर्षों में तेजी से बदलती जा रही है। और भी, ऋण नीति का और उसके साथ कुछ सीमा तक इस यन्त्र की प्रभाविता का महत्त्व बहुत उधार लेने के उस काल के पश्चात् की दशाब्दी में संभवतः अधिकतम होता है क्योंकि उस समय दोबारा वित्तप्रबन्ध (refinancing) की प्रक्रिया अधिकतम अवसर प्रदान करती है। तथापि अधिकांश में, राष्ट्र के मुद्रा-सम्बन्धी कार्यों के नियन्त्रण से केन्द्र में जो परिवर्तन आया है उसे समय वापिस लौटा नहीं सकता।

२. ऋण की रचना (The Structure of the Debt)—एक बड़े लोक ऋण के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण यह रहा है कि जिस क्षण नए उधार की आवश्यकता समाप्त होती है, उसी क्षण से जितना संभव है उतना चुका देने के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इस दृष्टिकोण का कुछ कारण तो निजी ऋण का सादृश्य है, इस विचार से कि "मृत भार" (dead weight) ऋण एक निजी उपभोग ऋण के समान ही है जिसके बदले में कोई परिसंपत् नहीं होंगे। कुछ यह इस भय के कारण भी था—जो आन्तरिक उधार के सम्बन्ध में सम्भवतः बहुत कुछ काल्पनिक था—कि एक बड़े ऋण की विद्यमानता भावी उधार के मार्ग में बाधा उपस्थित कर सकती है और कुछ इस भय के कारण जो किसी प्रकार भी काल्पनिक नहीं है—कि द्रव्य रूप में व्याज देने का वास्तविक भार असहनीय सीमा तक बढ़ जाएगा यदि कहीं मूल्यों में सामान्य कमी (अर्थात् मुद्रा के मूल्य में वृद्धि) हो गई।

आधुनिक स्थिति में राष्ट्रीय ऋण का मूलधन तो उपेक्ष्य आर्थिक महत्त्व रखता है; महत्त्व वाले कारक है—एक ओर ऋण की आन्तरिक रचना और

दूसरी ओर ऋण ब्याज का देयक (bill), अथवा अधिक परिशुद्ध रूप में कहना हो तो उसे चुकाने के लिए जो अतिरिक्त कर लगाने होंगे। इनका हम नीचे परीक्षण करेंगे। किन्तु इसका अर्थ यह निकलता है कि ऋण के मूलधन में कमी करने का अब कोई आर्थिक महत्त्व नहीं रहा। ऋण लौटाने (repayment) का क्रम लगभग पूर्णतया अपस्फायी होता है, बजट आधिक्यों का प्रभाव, जिन में से ही यह किया जा सकता है, इतना अधिक होता है कि दूसरे प्रकार की प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिए जो धन मुक्त हो जाता है उसके प्रसारी प्रभाव से कहीं बढ़ जाता है। अतः ऋण लौटाने की क्रिया को ऐसे उपाय के रूप में स्थान प्राप्त होता है जिससे, जब कभी सामान्य अर्थ नीति के आधार पर आवश्यक हो, एक अतिरिक्त अपस्फायी धक्का लगाया जा सकता है।

परिमाण की दृष्टि से गौण अपवादों को छोड़ कर (और नोट प्रचलन को छोड़ कर जो प्रभाव के विचार से बिना ब्याज का ऋण है) आधुनिक स्थिति में उसके परिपक्व और प्रतिदेय होने के लिए आवश्यक अवधि के अनुसार लोक-ऋण तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है: अल्पकालीन अथवा प्लवमान (floating), मध्यकालीन और दीर्घकालीन। अल्पकालीन ऋण का विशिष्ट उदाहरण है कोषागार-विपत्रों (treasury bills) का निर्गमन जो इस समय लगभग ४५० करोड़ पौड के कुल प्लवमान ऋण में से ३४० करोड़ पौड के लगभग है। कोषागार हुंडी का जीवन-काल केवल तीन महीने है, किन्तु अल्पकालीन ऋणों की इसी श्रेणी में कोषागार समय-समय पर अपने बैंक (बैंक आफ़ इंगलैण्ड) से अथवा शासन के जिन विभागों के पास नियोजनार्थ अतिरिक्त द्रव्य हो उन से जो अग्रिम लेता है वे भी सम्मिलित करने चाहिएं। ये उधार अर्थोपाय अग्रिम (Ways and Means Advances) कहलाते है क्योंकि कर राजस्व (जिस पर, यह स्मरण किया जाएगा, अर्थोपाय समिति (Committee of Ways and Means) में बहस होती है) के समान वे चालू खर्च को झेलने के लिए साधन प्रस्तुत करते है। ये अग्रिम एक स्वतन्त्र वर्ग बनाते हैं क्योंकि वे पूर्णतया आन्तरिक सौदे होते हैं और उनकी

शर्तें प्रकट नहीं की जातीं। अतः वे बाजार स्थिति पर केवल परोक्ष प्रभाव डालते है। इनके साथ ही अल्पकालीन ऋण की उसी श्रेणी में ऐसे बन्ध (bonds) भी सम्मिलित करने की प्रथा चल पड़ी है, जो या तो थोड़े समय के लिए जारी किए जाने के कारण या क्योंकि उनकी अवधि पूर्ण हो चुकी है इस कारण परिपक्वता (maturity) प्राप्त कर रहे होते है। युद्धोत्तर व्यापार में ये बहुलता से रहे है क्योंकि १९३९ और १९४५ के मध्य में उधार का अधिकांश ३ से ४ अथवा ५ से ७ वर्षो तक का था। तथापि इन दूसरी अल्पकालीन प्रतिभूतियों के रहते हुए भी मुद्रा बाजार अब भी कोषागार के विशाल विपत्र निर्गमन (bill issue) के प्रभुत्व में है।

ये अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ सब एक ही श्रेणी में आती है क्योंकि उधार दाताओं के समान वर्गो को ही वे जॅचती है : उनको जिन्हें कुछ अनुपात में तरल अथवा "शीघ्र" परिसंपत् अपने पास रखने पड़ते है जिन्हें वे "लगभग मुद्रा" मानते है, अर्थात् ऐसे वर्ग जिनकी तरलता की आवश्यकता आकस्मिक और अनपेक्षित हो सकती है। इनमें है व्यवसायी बैंक, विदेशी व राष्ट्रमंडलीय शासन (Commonwealth Governments), बैंक व मुद्रा बोर्ड और कुछ फ़र्में। किन्तु बाकियों से बहुत अधिक महत्त्व वाले धारक (holders) है लंदन 'डिस्काउंट' गृह (London Discount Houses) जिन्हें प्रायः "मुद्रा-बाजार" का सामूहिक नाम दिया जाता है, जिसका कार्य है शीघ्र परिसंपत् में व्यापार करना। अतः बट्टा गृहों को अल्पकालीन ब्याज दरों में एक अनुपम रुचि होती है। ब्रिटिश व्यवसायी बक भी इस दृष्टि से एक विशेष स्थिति में हैं क्योंकि वे जमा (deposits) सम्बन्धी दायित्वों का एक लगभग स्थिर (मोटे तौर पर ३० प्रतिशत) अनुपात शीघ्र परिसंपत् के रूप में रखने का लक्ष्य रखते है। अन्त में, सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत कुछ शासकीय संस्थाएँ होती है जिनको भी ऐसे अल्पकालीन नियोजनों की जो अर्थोपाय अग्रिमों से कम क्षणभंगुर हों, आवश्यकता होती है। इनमें से विशेष महत्त्व वाले हैं (१) विनिमय समकारी निधि—जो स्वर्ण और विदेशी विनिमय के बदले में पौंड पत्रकों (sterling bills) का व्यापार करती है (२) राष्ट्रीय ऋण आयुक्त

(National Debt Commissioners) जो बचत बैंकों के विभाग (Portfolio) रखते हैं और (३) राष्ट्रीय बीमा निधि—जिसके पास पूर्ण रोजगार के दिनों में नियोजन के लिए विशाल राशि होती है।

मुद्रा बाजार प्रतिभूतियों (securities) से विपरीत पैमाने के दूसरे सिरे पर दीर्घकालीन ऋण है जिसकी अवधि कुछ वर्ष (समझो दस या अधिक) होती है और कई बार जो शोध्य (redeemable) होता ही नहीं या शासन की इच्छा पर ही होता है। इस प्रकार की प्रतिभूति की माँग पर्याप्त भिन्न है। दीर्घकालीन ऋण अल्पकालीन से अनिवार्यतः कम तरल होता है क्यों कि जब परिपक्वता तिथि दूर भविष्य में होती है तो ब्याज दरों के बढ़ने से पूँजी की हानि की संभावना सदा रहती है यदि प्रतिभूतियों को अल्पकाल सूचना पर बेचने की नौबत आ जाए। इस दीर्घकालीन बाजार का माँग पक्ष बीमा कम्पनियों और अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा बनता है, जिनमें निर्माण संस्थाएँ और व्यवसायी बैंक भी सम्मिलित हैं (एक बार शीघ्र परिसंपत् की उनकी मांग पूरी हो जाने के बाद, और विशेषकर यदि लोगों की उधार की मांग ढीली हो), और "ट्रस्टी"—निजी और निगमित (जैसे कार्मिक संघ) दोनों द्वारा। फिर, कुछ शासकीय संस्थाएँ हैं जिनकी दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के लिए कुछ स्थायी माँग रहती है यद्यपि अधिकांश में वे उन्हें अपेक्षाकृत थोड़े-थोड़े समय के लिए रखते दिखाई देते हैं।

मुद्रा बाज़ार और दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के बाजार के मध्य में मध्यम कालीन सरकारी प्रतिभूतियों के लिए जिनके ब्याज दर भी मध्यम होते हैं, एक कम स्पष्टांकित माँग होती है। यहाँ माँग पक्ष लगभग पूरा ही उन वित्तीय संस्थाओं द्वारा बनता है जिनको उनके विभागों (portfolios) की परिपक्वता (maturity) में अन्यथा जो अन्तर रहेगा, उसे भर देना सुविधाजनक अनुभव होता है। किन्तु, युद्धकाल में जब इस मध्यम कालीन ऋण का अधिकांश उत्पन्न हुआ, यह व्यक्तिगत नियोजकों को बहुत पसन्द था जो कुछ सालों के लिए अपनी युद्ध-आय को बाँध रखने के लिए तैयार थे यदि पर्याप्त लाभदायक दर मिलते हों तो।

यदि इन सब प्रकार की प्रतिभूतियों के बाज़ार मुक्त हों तो प्रत्येक का मूल्य (अथवा प्राप्ति दर) किसी भी समय सापेक्ष पूर्ति और माँग को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करेगा। जब बाज़ार सार्वजनिक प्राधिकारियों के प्रभाव में आते हों तो ये "स्वाभाविक" मूल्य केवल प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होंगे जिन्हें प्राधिकारी बढ़ाने की इच्छा कर सकते हैं या दबाने की या (यद्यपि कुछ कठिनाई के साथ) उलटाने तक की। ऐसे काल में जो पर्याप्त शान्त हो, कोषागार हुँडियों की कम प्राप्ति से लेकर "दीर्घों" की अधिकतम प्राप्ति तक व्याज दरों की प्रायः सुस्पष्ट रचना अथवा श्रेणी रहने की प्रवृत्ति होती है; किन्तु विभिन्न परिपक्वताओं की सापेक्ष स्थितियों का ब्योरा कदापि स्थायी नहीं होता। पूर्ति पक्ष में जो कुछ अन्तर हो सकता है, उस के अतिरिक्त, विभिन्न परिपक्वताओं की सापेक्ष माँग निरन्तर घटती बढ़ती रहती है; परिणाम यह होता है कि एक प्रतिभूति बार-बार सारी रचना के साथ बेमेल (out of line) होती रहती है। साधारणतया यह उन वित्तीय संस्थाओं के कार्य के कारण शीघ्र ही ठीक हो जाएगा जिनके हित बाज़ार-व्यापी होते हैं और जो प्राप्ति में तनिक भी अन्तर दिखाई देने पर उसका लाभ उठाने में लेशमात्र भी देर नहीं करते। प्राधिकारी भी, जब कभी नई प्रतिभूतियाँ जारी करने की आवश्यकता होती है, माँग में इन अस्थायी परिवर्त्तनों का लाभ उठा सकते हैं। इस बात के लिए खोज करना कि माँग सब से तीव्र कहाँ है शासकीय उधार की एक कला है।

पूर्ति पक्ष की ओर भी, और प्राधिकारियों के किसी विधायक कार्य के अतिरिक्त भी, काल का प्रवाह जैसे-जैसे दीर्घकालीन ऋणों को मध्यम, मध्यमकालीन को अल्प और अल्पकालीन को परिपक्व बनाता जाता है, वैसे-वैसे ऋण की रचना निरन्तर बदलती जाती है। अतः युद्धकाल के समान उधार के लम्बे समय के पश्चात् ऐसा समय आता है जब दोबारा वित्त-प्रबन्ध (refinancing) की आवश्यकता बार-बार और शीघ्रता से उठती है। काल-गति मध्यम व दीर्घकालीन ऋणों को अधिक तरल बनाती है, अर्थात् धन के अधिक समान और इसलिए अधिक प्रसारी प्रभाव वाले। दोबारा वित्त-प्रबन्ध

का क्रम इस प्रवृत्ति को चलाए रखने अथवा पुनः समायोजन करने का अवसर देता है—जैसा भी सामान्य अर्थ-नीति के अनुसार आवश्यक प्रतीत हो।

३. नीति के लक्ष्य (The Aims of Policy)—ऋण के तीव्र प्रसार वाले काल में नीति का परम्परागत लक्ष्य इस बात की पक्की व्यवस्था करना था कि प्लवमान ऋण जितना अनिवार्य हो उससे अधिक न बढ़े, जिसका कारण था यह भय कि इतने "लगभग द्रव्य" का निर्माण एक ऐसे स्फायी संभाव्य (inflationary potential) को जन्म देगा जो संभाला नहीं जा सकेगा और इसलिए जो शासन के भावी उधार को संकटापन्न बना देगा। प्रथम विश्वयुद्ध के उधार पर इस नीति का प्रभाव रहा। किन्तु १९३० की दशाब्दी में साख नियन्त्रण में जो प्रवीणता प्राप्त कर ली गई थीं और जो कुछ अतिरिक्त साधन (जैसे बैंक उधारों पर नियन्त्रण) दूसरे महायुद्ध में प्रयुक्त हुए उनके कारण इस भय के सम्बन्ध में अब विशेष चिन्ता होने का कोई कारण नहीं है, कम से काम युद्ध की स्थिति में। परिणामतः १९३९ और १९४५ के मध्य में नीति के दो बिल्कुल भिन्न लक्ष्य थे: एक ओर ऋण सेवा का बजटीय प्रभार न्यूनतम करना और दूसरी ओर परिपक्वताओं को ऐसे सुविधाजनक अन्तरों पर रखना कि युद्धोपरान्त दोबारा वित्त-प्रबन्ध के कार्य में आसानी रहे। इन दोनों लक्ष्यों में नीति अत्यन्त सफल रही; किन्तु उसी में अन्तर्निहित यह भी था कि प्लवमान ऋण का सापेक्ष परिमाण भयंकर रूप से बढ़ गया।

युद्ध के लिए उधार समाप्त हो जाने पर, ऋण-व्यवस्थापन दोबारा वित्त-प्रबन्ध की प्रक्रिया बन जाती है; तब कुछ अन्य बातों को भी विचार में लेना पड़ता है। एक ओर शासन की राजस्व के प्रवाह में आने वाले अवकाशों को भरने के लिए अल्पकालीन उधार की चिरकालिक (यद्यपि बहुत घटने बढ़ने वाली) आवश्यकता जो वित्तीय वर्ष के अन्तिम चतुर्थांश में जमा हो जाने की प्रवृत्ति रखती है। सामान्य नियन्त्रण के आधार पर जो एक गति वांछनीय होगी उसको यह आवश्यकता काट सकती है। दूसरी ओर जबकि कोषागार की अपनी कोई ऐसी विशेष आवश्यकता नहीं जिसके लिए दीर्घकालीन उधार की जरूरत पड़े, कई सार्वजनिक प्राधिकारियों को दीर्घकालीन

वित्त की आवश्यकता पड़ती है : स्थानीय प्राधिकारियों को विशेषतया गृह-व्यवस्था के लिए, लोक कार्य ऋण बोर्ड (Public Works Loans Board) जो अधिकतर उनका वित्त-प्रबन्ध करता है, और राष्ट्रीयकृत उद्योगों को उनके नियोजन कार्यक्रमों के लिए। कभी-कभी ये आवश्यकताएँ वांछनीय गतिविधियों के साथ भी सामान्य आर्थिक नीति के आधार पर टकरा सकती हैं (यह वृहद् राष्ट्रीयकरणों के काल में विशेष रूप से सत्य था)। इन कार्यों के लिए लिये गए ऋण का आर्थिक महत्त्व युद्ध के मृतभार उधार (deadweight borrowing) से पर्याप्त भिन्न है किन्तु उधार देने वाली जनता के दृष्टिकोण से एक परम (Giltedged) प्रतिभूति समान परिपक्वता की दूसरी परम प्रतिभूति के बिलकुल बराबर होती है इसलिए माँग पक्ष में दो प्रकार के दीर्घकालीन उधार एक-दूसरे के पथ के रोड़े बन सकते है।

अधिकांश में सामान्य अर्थनीति के अनुसार ऋण-व्यवस्थापन कार्य के संचालन के लिए प्राधिकारियों की स्वतन्त्रता पर जो ये रोकें हैं वे भारी नहीं इसलिए परिणामतः ऋण-व्यवस्थापन को नियन्त्रण के साधन के रूप में प्रयोग करने में उन्हें लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता ही है। किन्तु उनके सामने तीन लक्ष्य है, जिनमें से प्रत्येक अपने पृथक् रूप में योग्य है पर जिनकी परस्पर संगति बिठानी पड़ती है। पहली बात तो है ऋण के बजटीय प्रभार को न्यूनतम करने की वांछनीयता; दूसरी यह कि निम्न ब्याज दर पूँजी निर्माण के उच्च दर के लिए अनुकूल होते हैं जो कि वृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है; और तीसरी, संपूरक (Compensatory) वित्त की प्रक्रिया में राजकोषीय नीति के समर्थन में मुद्रा यन्त्र को प्रयुक्त करने की वांछनीयता। ये लक्ष्य अनिवार्य रूपेण एक ही प्रकार की नीति की ओर संकेत करेंगे ऐसा कदापि नहीं है, अतः उन्हें सापेक्ष महत्त्व क्या देना चाहिए इसका विचार आवश्यक है। सम्भावित रूप से वह विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर होगा किन्तु कुछ सामान्य विचार भी ध्यान देने योग्य हैं।

जब उधार का एक बड़ा कार्यक्रम सामने हो जैसा कि किसी युद्ध की वित्तव्यवस्था के लिए ज़रूरी होगा, उस समय प्रथम महत्त्व की बात यह है

कि ब्याज दर यथासंभव कम रख कर ऋण के भावी व्यय को न्यूनतम किया जाए। इस प्रकार की नीति के स्फायी प्रभाव होने का भय नहीं होना चाहिए क्योंकि एक ओर प्रत्यक्ष नियन्त्रण (उदाहरणार्थ बैंक डिपाज़िटों के) है और दूसरी ओर, शासन को उधार देने के अतिरिक्त अपनी आयों को खर्च करने के अवसर ही लोगों के पास बहुत सीमित होते हैं इस कारण।

इसके विपरीत, जो ऋण प्राप्त किया जा चुका है उस की परिचर्या (servicing) का व्यय न्यूनतम करने का लक्ष्य महत्त्वपूर्ण होते हुए भी निर्णायक नहीं है। यदि ऋण देश के भीतर से ही लिया गया है और कराधान के अधीन है (ब्याज आय व उपरि करों के, मूल धन, मृत्यु शुल्कों और अन्य पूँजी करों के), तो ऋण की परिचर्या के व्यय का पर्याप्त भाग ऋणधारियों के धारण के आधार पर उनके कराधान द्वारा पूरा हो जाएगा। वास्तव में स्थिति इतनी अच्छी नहीं है क्योंकि जैसा मांग पक्ष के विषय में हमारी चर्चा से प्रकट है, ऋण का बड़ा भाग संस्थाओं द्वारा धारण किया जाता है जो आय कर केवल स्टैंडर्ड-दर पर देती है। किन्तु यह फिर भी सच है कि आधुनिक अवस्था में ऋण का शुद्ध बजटीय प्रभार बहुत अधिक नहीं होता; जिसका निष्कर्ष यह है कि मूलधन में पर्याप्त कमी करने से (जैसे पूँजी आरोपण के द्वारा) कर दरों में थोड़ी-सी ही कमी करना संभव होगा। शायद स्टैंडर्ड-दर में कुछ पैन्स से अधिक नहीं।[1] जब कर-दर ऊँचे हों तो इसका महत्त्व भी पर्याप्त हो सकता है। किन्तु सामान्यतया ऋण-व्यवस्थापन के कार्यक्रम में ऋण के बजटीय प्रभार को न्यूनतम करने के लक्ष्य पर अर्थ-व्यवस्था में स्थायित्व बनाए रखने के लक्ष्य को पूर्वता अवश्य मिलनी चाहिए।

पूँजी निर्माण की प्रक्रिया पर ब्याज दरों के स्तर के विषय में बहुत वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है जिसमें हम यहाँ प्रवेश नहीं कर सकते। किन्तु इसमें सामान्य मतैक्य है कि इसका वास्तविक महत्त्व अति दीर्घकालीन नियोजन, जिसमें भूमि और भवनों का सम्बन्ध आता है, तक ही सीमित है, और जैसे-जैसे

१. देखिए The Taxation of War Wealth, उ० ग्र०, अध्याय २२।

जिस परिसंपत् के लिए ऋण लिया जा रहा है उसकी आयु कम होती जाती है, वैसे-वैसे वह महत्त्व घटता जाता है। क्योंकि दीर्घकालीन नियोजन का उद्दीपक वृद्धि के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारक है इसलिए यही बात संभवतः इसके लिए पर्याप्त कारण है कि व्याज दर इतने कम रहें जितने अर्थ-व्यवस्था में स्थायित्व रखने के कार्य के साथ ठीक बैठ सकते हैं, किन्तु यह अपने आप नीति का एक मुख्य लक्ष्य नहीं बन सकता। दूसरी ओर कुछ यह भी अनुभव है कि बचत करने वाले दीर्घकालीन दरों के प्रति असहिष्णु होते हैं जिसके कारण, बचतों के प्रोत्साहन की दृष्टि से यह अवांछनीय है कि व्याज दर बहुत नीचे रखे जाएँ। यह विशेष रूप से तब होता है जब पूँजी निर्माण के अधिकांश भाग का वित्त-प्रबन्ध देश के भीतर से ही होने की संभावना हो।

व्यवस्थापन का नियन्त्रण (आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों) के साधन रूप में सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष, अल्पकालीन दरों के—विशेषतया कोषागार हुँडियों और बैंकों के उधारों से सम्बद्ध दरों के— उतार-चढ़ाव में है। परम्परा से, मुद्रा बाजार में स्थायित्व, विपत्रों के मूल्य पर प्राधिकारियों के प्रभाव के द्वारा रखा जाता था, जो या तो नकद धन से [खुले बाजार की क्रिया (Open Market Operations) के द्वारा बैंक आफ़ इंगलैण्ड में शासन के लेखे पर चैकों से] क्रय विक्रय के द्वारा मुद्रा बाजार को उपलब्ध पूर्त्ति बदल कर प्रत्यक्ष में डाला जाता है या बाजार में एक बार तंगी लाई जाने के बाद 'डिस्काउण्ट' गृहों को दाण्डिक बैंक-दर (penal bank rate) पर अपनी तरलता पुनः स्थापित करने के लिए विवश करके अप्रत्यक्ष रूप से। बैंकों के उधार देने की शर्तें भी इसी उपाय से (यद्यपि परोक्ष, और सदा समाधान कारक ढंग से नहीं) प्रभावित की जा सकती है, उस रूढ़िगत सम्बन्ध के द्वारा जो दर और अपने डिपाज़िट तथा उधार की शर्तों के मध्य में बैंक रखते हैं। दीर्घकालीन परम प्रत्याभूति-दरों (gilt-edged rates) के भी मुद्रा बाजार के साथ सहानुभूति में कुछ सीमा तक बदलने की रीति थी। अतः व्याज दरों के सारे समूह के साथ, बैंक दर की वृद्धि की एक सफल मात्रा अपस्फायी होगी। किन्तु, यदि प्रारम्भ में मुद्रा बाजार में स्थिति बहुत सुविधा

की थी और नए उधार को टालने में स्वयं शासन को कठिनाई थी, तो सफलता प्राप्त करने के लिए संकोचीय (contractionary) गतिविधि को इतना निरन्तर चलना पड़ेगा कि वाँछित संकर्षण प्रभाव (tightening effect) डालने से पहले एक बड़े अपस्फायी सम्भाव्य का भय उपस्थित हो जाए। १९२० की दशाब्दी के पिछले वर्षों में यह स्थिति बहुत कष्टदायक थी।[1]

४. ऋण-व्यवस्थापन के द्वारा नियन्त्रण की प्रविधि (The Technique of Control through Debt Management)—१९३० की दशाब्दी में साख-नीति की आवश्यकता पूर्णतया प्रसारी (expansionary) थी। सम्पूरक वित्त और पूँजी निर्माण की दृष्टि से भी और १९२० की दशाब्दी के पिछले वर्षों में मूल्यों के निरन्तर ह्रास के कारण ऋण सेवा के बढ़े हुए व्यय की दृष्टि से भी, व्याज दरों के सम्पूर्ण स्तर को घटाना अपरिहार्य था। १९२० की दशाब्दी में प्रथम महायुद्ध के भद्दे उधार से उत्पन्न उच्च व्याज दरों के कारण फर्मों और सार्वजनिक प्राधिकारियों के वित्त में एक जैसी बाधा आ रही थी। वास्तव में १९३० की दशाब्दी में ऋण-व्यवस्थापन की एक प्रविधि बनाई गई (या शायद यह कहना अधिक ठीक होगा कि अन्धेरे में उससे टकरा कर उसे पा गए) जो व्याज दरों को कम करने और कम रखने में अत्यन्त सफल थी। मूलतः यही प्रविधि थी जो नए प्रत्यक्ष नियन्त्रणों द्वारा विशद और समर्थित होकर द्वितीय महायुद्ध में उधार नीति का आधार थी। उधार के काल में बजटीय प्रभार को न्यूनतम करने के लक्ष्य की प्राप्ति का यह एक उज्ज्वल उदाहरण था। क्योंकि भविष्य में जब कभी मुद्रा-यन्त्र प्रसार के लिए आवश्यक होगा तभी यह प्रविधि उपलब्ध होगी ऐसा दीखता है, इसलिए उसका संक्षिप्त विवेचन कर लेना उचित है।

---

१. मुख्यतः इस तथ्य के कारण कि परिपक्वताओं के बेढब प्रबन्ध के परिणामस्वरूप मुद्रा बाजार में २०० करोड़ पौंड के युद्ध-ऋण की बाढ़ आगई जो साथ ही अल्प बन्ध अवस्था (Short-bond stage) में पहुंच गया। (देखिए U. K. Hicks, The Finance of British Government, उ० ग्र० अध्याय २२.)

ऐसा दिखाई देता है कि यह प्रविधि पहले पहल १९३० की दशाब्दी के पिछले वर्षों में विकसित हुई जब बाजार की अवस्था दरों को जितना प्राधिकारी चाहते थे उससे अधिक ऊँचा धकेलने की प्रवृत्ति रखती थी। ऐसी स्थिति का सामना करने का स्पष्ट मार्ग होगा बैंक ग्राफ़ इंगलैण्ड से कोषागार के उधार के द्वारा नोट निर्गमन को बढ़ाना। इस उपाय से व्यवसायी बैंक यह देखेंगे कि उक्त बैंक में उनके नकद धारण बढ़ गए हैं और वे अधिक कोषागार हुंडियाँ या बन्ध भी (जो उनकी तरलता की अवस्था पर निर्भर है) खरीदने के लिए प्रेरित होंगे, जिस कारण दर कम हो जाएँगे। मूल में यही नीति थी जिसपर आचरण करने से १९३२ में ५-प्रतिशत युद्ध ऋण के बड़े पुञ्ज (block) को बदल कर ३½ प्रतिशत के आधार पर सफलतापूर्वक लाया जा सका; इसी का पालन युद्ध-काल में और पुनर्निर्माण काल के पूर्वभाग में पर्याप्त पैमाने पर किया गया।

किन्तु ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमें विनिमयों की स्थिति इस प्रकार के सीधे प्रसार की आज्ञा न दे; यह उस अवस्था में था कि "विभागीय हस्तक्षेप" की नई प्रविधि लाभदायक सिद्ध हुई। मूल सिद्धान्त यह है कि प्राधिकारी एक विशिष्ट प्रकार की प्रतिभूति की, (विशेषतया कोषागार पत्रकों की जिस में साप्ताहिक टैंडर का बहुत परिशुद्धता के साथ पूर्वानुमान किया जा सकता है, माँग का अनुमान करते हैं और बाजार को उसकी ठीक उतनी मात्रा देते हैं जितनी पूर्त्ति माँग का उस दर पर संतुलन करेगी जिसको लक्ष्य बनाया गया है। प्रविधि की सफलता प्राधिकारियों के वित्त की शेष आवश्यकता को आन्तरिक स्रोतों से पूर्ण कर सकने पर निर्भर है, उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय ऋण आयुक्तों (National Debt Commissioners) को जो बचत बैंकों के धन की व्यवस्था सम्भालते हैं, नई बचतों का एक प्रवाह प्राप्त हो रहा हो जिसे वे नियोजन में लगाने के लिए उत्सुक होंगे, यह सम्भव है। जिस प्रकार की भी प्रतिभूति पर क्रिया करनी हो उसके लिए वे प्राधिकारियों को उपलब्ध कर दिए जाते हैं। वर्द्धमान रोजगार की स्थिति में बीमा निधि को भी एक प्रकार की बलात् संचिति (forced saving) का निरन्तर प्रवाह प्राप्त

होगा; शासन के अन्य विभाग भी जिनके पास नियोजनार्थ धन हो, काम में लिये जा सकते है। इस प्रकार किए गए नियोजन ऋण-व्यवस्थापन के हित में होते हैं, न कि सम्बन्धित संस्थाओं के जो अपने विभागों (portfolios) में भिन्न सन्तुलन को भी पसन्द कर सकते हैं।

१९३० की दशाब्दी के पिछले वर्षों में विभागीय हस्तक्षेप की सहायता से कोषागार विपत्र १ प्रतिशत के भी अंश के अभूतपूर्व निम्न स्तर पर दबाए रखा गया। इसके परिणाम ऐसे थे जिन्होंने ब्याज दरों की सम्पूर्ण रचना को प्रभावित किया क्योंकि डिस्काउण्ट गृहों और बैंकों दोनों के लिए पर्याप्त कारण था कि (एक बार शीघ्र परिसंपत्—quick assets) के लिए उनकी इच्छा पूर्ण हो जाने के बाद) बन्धों के अपने धारणों को जो दुर्भाग्य से बहुत कम दरों ने घटा दिए थे, बढ़ाएँ। "विभागीय हस्तक्षेप" (departmental intervention) के इस परिणाम के महत्त्वपूर्ण होने की विशेष सम्भावना है जब, १९३० की दशाब्दी के समान, निजी क्षेत्र की, बैंक उधारों के लिए' माँग ढीली हो।

इस प्रकार की स्थिति में ब्याज दरों का, विशेषतया हुँडी-दर का वांछित स्तर अधिक साख के निर्माण के बिना ही प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में, हो केवल यह रहा होता है कि निजी क्षेत्र में जो बचत उपलब्ध हो रही है वह प्राधिकारियों द्वारा चुनी हुई विशिष्ट दिशाओं को निर्देशित की जा रही है। किन्तु सम्भव है कि यह स्थिति सदा प्राप्त न हो। उस अवस्था में ब्याज दर केवल साख प्रसार के किसी ढंग द्वारा ही नीचे दबाए जा सकते हैं। किन्तु अधिकांश में नियन्त्रण की कठोरता और उपाय की सफलता इस तथ्य में प्रकट है कि १९३० की दशाब्दी के पहले वर्षों से लेकर १९५४ तक कोषागार हुँडी दर सब व्यावहारिक दृष्टियों से एक "बँधा हुआ" ("managed") दर था—अर्थात् जबतक दर के निर्णय करने में मूल्य-यन्त्र का उपयोग करने की स्थिति को दोबारा पाने का क्रमशः निश्चय नहीं किया गया तब तक। यह निर्णय इसलिए किया गया कि माँग के उतार-चढ़ाव जो नीति के लिए मार्गदर्शक हो सकते हैं, शीघ्रता से इसमें दिखाई दें। नीति के कार्य (operation) का एक और संकेत यह है कि बन्धे हुए दर के पूरे काल में बाजार में दर और काम सुगमता

से नियन्त्रित होने वाले दीर्घतर दरों के मध्य का अन्तर असाधारण रूप से बड़ा था ।

युद्ध के काल में न केवल विभागीय हस्तक्षेप की दोनों शर्त्तें विशेष रूप से अनुकूल थी, बल्कि अतिरिक्त नियन्त्रण भी उपलब्ध थे । बैंकों के उधार निर्देश द्वारा सीमित थे और बैंकों की आवर्तक (recurring) अतिरिक्त तरलता, (तथाकथित) कोषागार 'डिपाज़िट' प्राप्तियों के द्वारा अनिवार्य उधार की बार-बार माँग से एक-एक बार छः छः महीने के लिए बाँध दी जाती थी । फिर, दीर्घकालीन दरों को प्रत्यक्ष प्रभावित करने का एक नवीन साधन विकसित किया गया : एक विशिष्ट दलाल (जो "विशेष क्रेता"—"Special Buyer" कहलाता था) अनौपचारिक रूप से धारकों से सरकारी ऋण वापिस खरीदने के लिए सदा तैयार रहता था, जिस से वे कभी भी अपने आप को असुविधा-जनक सीमा तक अतरल नही अनुभव कर सकते थे । इस नीति का परि-णाम यह हुआ कि क्योंकि मूलधन की हानि का भय दूर हो गया, दीर्घकालीन ऋण भी अल्पकालीन के बराबर तरल हो गया, उसकी माँग (उसकी अधिक प्राप्ति के कारण) बढ़ने लगी और दीर्घकालीन दर अल्पकालीन से भी अधिक तेज़ी से गिरने लगे । यह मुख्य साधन था जिसके द्वारा ऋण के बजटीय प्रभार को न्यूनतम करने का लक्ष्य इतने प्रतिभाशाली ढंग से प्राप्त किया गया । इसके अतिरिक्त, "विशेष क्रेता" की सहायता के लिए विभागों के पास जो अतिरिक्त द्रव्य था वह केवल अल्पकालीन आवश्यकताओं के प्रबन्ध के लिए ही नहीं प्रयुक्त किया गया बल्कि नए निर्गमनों के लिए "अभिगोपक" "underwriters" के रूप में प्रभावी ढंग से भी [वास्तव में लंदन के वित्तीय केन्द्र (the city) ने सार्वजनिक ऋण आयुक्तों का उपनाम ही "लोक मृग" (the public stag) रख दिया ।] यह उपाय था जिस से प्राधिकारी विभिन्न अवधियों की परिपक्वताओं की माँग में होने वाले परिवर्त्तनों का पूरा लाभ उठा सके । और, जैसा हमने देखा ऐसी भिन्न-भिन्न अवधियों वाली परिपक्वताएँ साधारणतया विद्यमान अवश्य रहती हैं ।

ऋण व्यवस्थापन के लिए युद्ध स्थिति, पुनर्निर्माण के पहले महीनों में भी कम से कम १९४६ के अन्त तक सफलतापूर्वक बनी रही। यद्यपि लड़ाई बन्द होने के तुरन्त बाद ही जनता द्वारा बचत का अनुपात कम होने लग पड़ा था, जब तक न्यूनताएँ—उपभोग की वस्तुओं और उत्पादक वस्तुओं दोनों की, तीव्र रहीं, बचत का परिमाण विभागों को तरल रखने के लिए पर्याप्त रहा। यह स्थिति चांसलर (डाल्टन) द्वारा युद्धकालीन उपायों के अधिक गहन होने से व्याज दरों को और नीचे दबाने के काम में लाई गई, जब तक कि दीर्घकालीन प्रतिभूतियों का दर युद्ध काल के ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की तुलना में २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत पर लगभग स्थापित नहीं हो गया।

किन्तु इस नीति का विरोध बढ़ता गया और भुगतान शेष की कठिनाइयाँ बढ़ती गई। १९४७ के पहले कुछ महीनों के बाद दरों में एक तय कमी लाने के लिए साख का, सदा बढ़ती हुई मात्रा में सृजन ज़रूरी था जिसे बहुत बड़े और सम्भवतः काबू से बाहिर हो जाने वाले आकार का स्फायी सम्भाव्य समझा जाने लगा था, इस कारण उससे नियोजकों का, शासन की उस नीति को चलाते रहने की योग्यता में विश्वास हिलने में सहायता हुई। अतः एक ओर जो शक्तिशाली नियन्त्रण प्राधिकारी अब भी काम में ले सकते थे उनके होने पर भी, और दूसरी ओर उच्च पूँजी मूल्यों और न्यून व्याज दरों के पक्ष में जो सामर्थ्यशाली विहित स्वार्थ बन चुका था उसके पश्चात् भी नीति क्रमशः और मौन रूप में, त्याग दी गई।

यह काल जिसमें मुद्रा-यन्त्र संपूरक वित्त की उपेक्षा करते हुए मुख्यतः ब्याज दरों को कम करने के लिए प्रयुक्त हुआ, लगभग उसी समय हुआ जब १९४७ के शरत्काल में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने श्री डाल्टन से कार्यभार संभाला यद्यपि मुद्रा-सम्बन्धी नीति में परिवर्त्तन सुव्यक्त नहीं था। "विशेष क्रेता" ने अपनी गतिविधियों को परिवर्तित पैमाने पर जारी रखा और १९५१ तक मुद्रा-यन्त्र को संपूरक वित्त के साधन के रूप में प्रयुक्त करने का कोई विधायक प्रयत्न नहीं हुआ। दूसरी ओर, १९४७ के पश्चात् अतिरिक्त साख के जान-बूझ कर किए गए सृजन से व्याज दरों को नीचे नहीं दबाया गया। उसके विपरीत,

नए चांसलर ने वित्तीय साधन के द्वारा विस्फीति के सोचे समझे पथ को पकड़ा,' और युद्धकाल के अतिरिक्त प्रथम बार "स्फायी अन्तर" को मापने और उसे अपनी बजटीय नीति के द्वारा भरने का प्रयास किया।

नियन्त्रण के मुद्रा-यन्त्र का राजकोषीय नीति के सहायक के रूप में अस्थायी पुनर्जीवन १९५१ के शरत्काल में हुआ जब बीस वर्षों में पहली बार (महायुद्ध के पहले महीनों में एक, थोड़े समय की, सावधानी की व्यवस्था के अपवाद को छोड़ कर), बैंक दर बढ़ाया गया, और उसी समय बाज़ार की अतिरिक्त तरलता को, दीर्घतरकालीन पूँजी जारी करके, दृढ़तापूर्वक कम कर दिया गया। तत्पश्चात् "विशेष क्रेता" को सामान्य उपलब्धि से हटा लिया गया और बाज़ार पूर्त्तियों के ऐसे विशिष्ट कुब्जों (Kinks) को ठीक करने के लिए ही रखा गया, जैसे होना अनिवार्य होता है। जब लोक-खाते में भारी संकेन्द्रण (concentration) और संवितरण (disbursements) करने हों [उदाहरणार्थ, दुग्ध विपणन बोर्ड (Milk Marketing Board) के समय समय पर (periodic) होने वाले संवितरण की तैयारी और भुगतान]। इस संकर्षण का प्रभाव, १९४० की दशाब्दी में उत्पन्न अतिरिक्त तरलता पर चलने वाली कोरियाई माँग के कारण अतिशय फुलाव में आए हुए वस्तुओं के 'स्टाक्स' की कमी में तुरन्त दिखाई दिया।

किन्तु यह क्रमशः (gradually) और अस्थायी रूप में (tentatively) ही था कि पुनर्जीवित मुद्रा-यन्त्र ब्रिटेन में प्रयोग में लाया गया। बीस वर्षों में यह इतना कुँठित हो चुका था और स्थिति इतनी बदल चुकी थी कि विश्वास-पूर्वक कोई नहीं कह सकता था कि अब वह कैसा कार्य करेगा। और भी, १९५१ में उपभोग और वस्तुओं के कई, बल्कि अधिकांश नियन्त्रण अभी भी लागू थे। इस स्थिति में यह सर्वथा असंभव था कि मुद्रा का मूल्य (अल्पकालीन ब्याज दर के रूप में), नियन्त्रण के साधन का अथवा प्रवृत्तियों के संकेतक का अपना परम्परागत कार्य पूर्णतया फिर से करने लग पड़ता। किन्तु धीरे-धीरे जब अपनियन्त्रण (decontrol) का क्रम गति में आया, यह संभव भी हो गया और वांछनीय भी कि मुद्रा-यन्त्र के अधिक पूर्ण पुनःस्थापन की ओर बढ़ा जाए,

जिसमें बैंक दर नीति का सक्रिय उपयोग भी सम्मिलित है। किन्तु इसे व्यवहार्थ बनाने के लिए, बाजार राशनिंग के द्वारा कोषागार हुंडी दरों को कृत्रिमता से कम रखने की नीति को त्यागना होगा, जिससे बैंक दर और बाजार दर के मध्य का २० वर्ष पुराना अन्तर इतना कम किया जा सके कि बैंक दर को प्रभावी बनाना संभव हो।

१९५४ के अन्त तक, लगभग पूर्णतया नियन्त्रित व्याजदरों के क्रमशः प्राप्त शिखर से उतर कर वह स्थान प्राप्त किया जा चुका था जिस पर सिद्धान्त रूप में वे उतनी ही स्वतन्त्रता से बदल सकती थीं जितनी १९२० की दशाब्दी में अथवा १९१४ से पहले भी। यह स्वतन्त्रता बनाए रखना कहाँ तक सम्भव अथवा वाँछनीय होगा यह भविष्य के गर्भ में है।

किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि इस क्रम के पालन में ब्रिटेन कोई अनोखा नहीं रहा है, प्रथमतः, '३० की दशाब्दी के पहले सालों की मन्दी से पुनरुद्धार को उद्दीप्त करने की आशा में ब्याज दरों को बलपूर्वक दबा देने की शिक्षा लेना, द्वितीयतः युद्ध-वित्त के लिए इन उपायों को गहनतर करना, और तृतीयतः धीरे-धीरे और पर्याप्त कठिनाई सहित, जो कृत्रिम स्थिति बन चुकी थी उससे हाथ पैर छुड़ाना ताकि फिर से एक लोचदार मुद्रा-यन्त्र को प्राप्त कर सकें। प्रबन्ध में रखी जा सकने वाली, विकसित मुद्रा-सम्बन्धी संस्थाओं वाले अधिकांश देशों में न केवल क्रम ही बल्कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की समयावलि भी समान ही रही है; केवल जो प्रत्यक्ष साधन थे, वे बैंकिंग व्यवस्था और मुद्रा बाजार के स्थानीय संगठन के अनुसार देश-देश में भिन्न थे। (उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य में, अनौपचारिक "विशेष क्रेता" के स्थान पर फैडरल रिज़र्व बैंक एक औपचारिक वचन देते थे कि वे शासकीय ऋण निश्चित मूल्यों पर सदा वापिस खरीदेंगे।)

इस प्रक्रिया के कारण युद्ध-सम्बन्धी उधार के विशाल कार्यक्रम सभी जगह आश्चर्यजनक सीमा तक कम बजटीय प्रभार पर चला लिये गए, किन्तु फिर से सर्वत्र, अतिरिक्त मुद्रा-सुविधा ने जो सुदीर्घ साख सृजन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई थी, कोरियाई अभिवृद्धि (boom) के लिए जलती आग में

ईंधन का काम किया। सभी देशों को असाधारण रूप से कम हुए दीर्घकालीन दरों से पीछे हटकर ऐसी स्थिति में पहुँचने में पर्याप्त कठिनाई आई जिसमें सभी दर फिर से लोचदार बन जाएँ और यह भी मूल धन की अप्रबन्ध्य हानि न होने देते हुए। सब मिला कर, १९५४ तक समस्या लगभग पूरी तरह सुलझाई जा चुकी थी, परन्तु स्वतन्त्रता की ओर संक्रमण (transition) को सरल बनाने के लिए कुछ और स्फीति के रूप में कीमत चुका कर।

यद्यपि यंत्र का एक बड़ा भाग अब ध्वस्त (dismantled) किया जा चुका है, १९३० और १९४० की दशाब्दियों में ऋण-व्यवस्थापन के द्वारा ब्याज दर नियन्त्रण के जो उपाय विकसित हुए वे नियन्त्रण के मुद्रा यन्त्रों की प्रभाविता में एक अत्यन्त उपयोगी स्थायी वृद्धि बन गए प्रतीत होते है, जिनसे उसमें बैंक दर और खुले बाजार की क्रिया (Open Market Operations) के सरल युग में जितनी सम्भव थी उससे कहीं अधिक लोच आ गई है। अधिक परिशुद्ध राजकोषीय यन्त्र का विकास हो जाने से, जैसा उन्नीसवी शताब्दी के इंगलैण्ड में हुआ उस प्रकार साख नियन्त्रण के अब एक मुख्य यन्त्र के रूप में कभी भी प्रयुक्त होने की संभावना नहीं है। किन्तु यह अवश्य अनुभव करना चाहिए कि सुतथ्यता की कमी के बाद भी उसमें कुछ नैसर्गिक गुण है जो राजकोषीय नीति में नहीं पाए जाते। यह उसके बाह्य परिस्थिति पर जो संभव प्रभाव हैं, जिनसे हमारा यहाँ सम्बन्ध नहीं है, उनके अतिरिक्त है।

प्रथम, साख-नीति लगभग निरन्तर कार्य कर सकती है और यदि वॉछित हों तो छोटे और धीमे पगों से भी, जब कि राजकोषीय यन्त्र के बारे में यह भय सदा रहता है कि जिस लोच के लिए यत्न किया जा रहा है वह व्यय के प्रभावी नियन्त्रण को खो कर प्राप्त होगी। द्वितीय, बाजार दरों में हलचल आर्थिक प्रक्रिया के एक भाग पर, जो इस विशिष्ट मूल्य के प्रति विशेष रूप से असहिष्णु है क्योंकि वह स्टॉक धारण का एक महत्त्वपूर्ण कारक है, तत्काल और प्रत्यक्ष चोट करता है। यह उन्नीसवीं शताब्दी में भली-भांति समझा जाता था और १९५१-५२ में पुनः सिद्ध हुआ। अर्थ-व्यवस्था के

इस क्षेत्र पर कोई संभव राजकोषीय परिवर्तन इतना प्रभावी हो इस की संभावना दिखाई नहीं देती ।

किन्तु वास्तव में मुद्रा-यन्त्र का प्रभावी उपयोग केवल उन्नत देशों को उपलब्ध है जहाँ बैंकिंग स्वभाव व्यापक और सुस्थापित है और जहाँ स्वायत्त वित्तीय संस्थाएँ विद्यमान हैं । यह होने पर इसका पूरा लाभ वही देश उठा सकते है जो वित्तीय दृष्टि से अपने बड़े पड़ोसियों पर निर्भर नहीं हैं । (यह निर्भरता आकार और आर्थिक रचना का प्रश्न है; इसका राजनैतिक निर्भरता से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है । [१]) इसलिए विकास के मार्ग पर जो देश इस समय चले ही है उनमें से अधिकतर आज मुद्रा-यन्त्र का विशेष उपयोग करने में समर्थ नहीं है; उनमें से कई तो कभी भी नहीं कर सकेंगे । भारत इस सामान्यकरण का एक स्पष्ट अपवाद है ?

किन्तु, बैंकिंग स्वभाव के विकास के साथ-साथ और जैसे-जैसे विनिमय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के साथ अमौद्रिक क्षेत्र (non-monetory sectors) पीछे हटते जाते है इस प्रकार के देशों के लिए स्थानीय साख नियन्त्रण का कुछ उपयोग संभव होना चाहिए । जैसा अधिराज्यों (और विशेष रूप से कनाडा) का अनुभव प्रकट करता है, इससे एक स्वतन्त्र रिजर्व बैंक की स्थपना की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती । इससे अधिक आवश्यक शर्तें हैं : एक, व्यापारी बैंकों की विद्यमानता जो कुछ मात्रा में स्वतन्त्र स्थानीय नीति का पालन करेंगे (जिससे स्थानीय बैंक द्रव्य का लचीलापन निश्चित हो जाएगा), और दूसरी संभवतः मुद्रा की पूर्त्ति की कुछ लचक । स्थानीय जनता को सरकारी प्रतिभूतियों के निर्गमनों से भी महत्त्वपूर्ण सहायता मिल सकती है ।

विकास के क्रम के लिए पूँजी की भारी राशि की आवश्यकता होती है और जहाँ उसका अधिकांश भाग संभवतः बाहिर से प्राप्त करना अनिवार्य

---

१. तुलना कीजिए न्यूज़ीलैण्ड की आस्ट्रेलिया और ब्रिटेन पर दोहरी निर्भरता से जो C.G.F. Simkin ने Fluctuations in a Dependent Economy में प्रदर्शित की है ।

होगा, वहाँ विकासशील देश का आर्थिक, राजकोषीय (और मुद्रा सम्बन्धी) भी बहुत बड़ा हित इसमें है कि जितनी मात्रा में संभव हो उसे घर में ही प्राप्त करें। इससे ऋण की सेवा (servicing the debt) के लिए बाहरी हस्तान्तरण की आवश्यकता नहीं होगी और साथ ही यह अतिरिक्त आयों के लिए जो अन्यथा उपयोग में प्रवेश करने की प्रवृत्ति रखतीं, एक द्वार प्राप्त करवा देता है। यह वाँछनीय है कि नागरिक जैसे-जैसे निर्धनता की स्थिति से ऊपर उठते हैं, वे बचाने की आदत डालें और शासन को ऋण देने के भी आदी हो जाएँ। यदि अतिरिक्त आयें बचा ली जाती है किन्तु शासन को उधार देने की अपेक्षा बैंकों में जमा करवा दी जाती हैं तो भी यह लाभप्रद है क्योंकि साधन उपभोग की ओर आकृष्ट नहीं होंगे और इसकी बहुत संभावना है कि बैंक स्थानीय तौर पर शासन को ऋण दें (जब तक उन्हें उसकी सच्चाई में विश्वास है) बजाय इसके कि विश्व के मुद्रा-केन्द्रों में से किसी को अर्थात् विदेश में अपना द्रव्य भेजें।

किन्तु कुछ ऐसे भी बचत करने वाले हो सकते है जो अपनी बचत को केवल "गाड़" कर रख छोड़ें। शासन को इन की और अन्य संभावित बचाने वालों की बचतों को अपने कोप में खींच लेने के लिए हर संभव उपाय काम में लाना चाहिए, छोटी बचतों को आकर्षित करने के लिए उपयुक्त साधनों के द्वारा और बड़ी बचतों को पकड़ने के लिए आकर्षक उपायों के द्वारा। महायुद्ध के दिनों में युद्धरत देशों ने जनता को शासकीय प्रतिभूतियाँ "बेचने", विशेषतया बचत सर्टिफिकेट बेचने के विषय में जो डाक के टिकटों के द्वारा क्रमशः क्रय किए जा सकते थे, बहुत कुछ सीखा। इस क्षेत्र में भारत का अनुभव यह बताता है कि जहाँ बचत के लिए अवकाश बहुत थोड़ा भी हो, द्रव्य की पर्याप्त संभाव्य मात्रा इस प्रकार से जमा की जा सकती है, विशेषतया यदि कारखानों, खानों, कार्यालयों, और संभवतः सम्पदाओं, बागानों में (स्वेच्छा पूर्वक) श्रमिकों, कार्य-कर्त्ताओं के बचत वर्ग (savings groups) संगठित किए जा सकें।

बन्धों की खरीद के द्वारा बड़ी राशियों के लगाने के सम्बन्ध में, बहुत से देशों में यदि शासन काफी आकर्षक पूर्त्ति प्रस्तुत कर सके तो पर्याप्त संभाव्य

बाज़ार अनुभव होता है। क्या कुछ प्रस्तुत करना होगा, यह प्रायः इस पर निर्भर होगा कि बचतों के अन्य अवसरों की जैसे स्थावर संपदा बंधकों की आकर्षकता को राजकोषीय व अन्य नियन्त्रणों द्वारा कहाँ तक कम किया जा चुका है। अतः राजकोषीय और मुद्रा नीति को अपेक्षाकृत अल्पविकसित परिस्थितियों में भी एक दूसरे के समर्थन के लिए उपयुक्त किया जा सकता है। शासन के लिए यह लाभदायक हो सकता है कि लोगों में शासन को ऋण देने का स्वभाव बनाने के लिए पर्याप्त आकर्षक शर्तें प्रस्तुत करे।

इस प्रकार की नीति की सफलता के लिए सब से पहले दो वस्तुएँ आवश्यक हैं। प्रथम, स्थानीय बन्ध-निर्गमनों की, बैंकों, वकीलों, स्थानीय पत्रों अथवा जो कुछ अन्य साधन उपलब्ध हों उनके द्वारा अच्छी तरह प्रसिद्धि की जाए। इस दिशा में भी विकासशील देश उन्नत देशों से बहुत कुछ सीख सकते हैं। द्वितीय, और कहीं अधिक मौलिक बात यह कि स्थानीय संपत्ति के स्वामी न केवल शासन में राजनैतिक विश्वास अनुभव करें बल्कि विकास के लिए उत्साह भी रखते हों और शासन के उसको सफल करने के सामर्थ्य पर भी उन्हें भरोसा हो। इस प्रकार की धारणा को बढ़ाने के लिए कई युक्तियाँ उपलब्ध हैं, जैसे विशिष्ट ऋण विशिष्ट परियोजना के साथ टाँक देना (जिस प्रकार ब्रिटिश युद्ध ऋण आन्दोलन (drives) युद्धपोतों, "अग्निवर्षियों" (Spitfires) के क्रय आदि के साथ नाम के लिए जोड़ दिए गए थे)। इसमें, विकास के कई अन्य पक्षों के समान, सफलता की कुंजी सार्वजनिक प्राधिकारियों की निरन्तर जागरूकता में है।

अध्याय २०

बजट—नीति के यन्त्र के रूप में

(The Budget As an Instrument of Policy)

१. बजट और आयोजन (The Budget and Planning)—पिछले वर्षों में, सामान्य लोगों की चर्चाओं में, शायद ही किसी शब्द के सम्बन्ध में इतनी ले दे हुई है जितनी "आयोजन" शब्द के विषय में। इसमें भाँति-भाँति के पाप कर्म, उपाय और कपोलकल्पनाएँ भी स्थान पा गई हैं। इस अवस्था में इसके उपयोग से यथासंभव बचना ही उचित मालूम देता है। किन्तु आगे की चर्चा में स्पष्टता रहेगी यदि हम प्रारम्भ में उन मुख्य अर्थों में संक्षिप्त विभेद कर लें जो आयोजन के लिए लगाए गए हैं ताकि वे पृथक् किए जा सकें जो राजकोषीय नीति से सम्बन्ध रखते हैं।

आयोजन शब्द का सरलतम प्रयोग भूमि उपयोग के सम्बन्ध में होता है, अर्थात् "नगर व देहात आयोजन अधिनियमों" (Town and Country Planning Acts) के अर्थ में भौतिक आयोजन। यह इस शब्द का पूर्णतया उचित और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है किन्तु इसका राजकोषीय महत्त्व कुछ नहीं है या लगभग कुछ नहीं है, इस कारण इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। तत्पश्चात् आती है समेकित, व्यापक अवधि-योजना जो सर्वप्रथम रूसी पञ्चवर्षीय योजनाओं द्वारा प्रसिद्ध हुई। यह भी मूलत: भौतिक अर्थ में ही आयोजन है। यह विशिष्ट आर्थिक व राजनैतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साधनों के अभिन्यास (lay out) से सम्बन्ध रखता है, किन्तु योजनाओं की अति व्यापकता के कारण, प्रत्यक्ष स्रोत बॅटवारे के ढंग से सर्वश: बढ़ना संभव है, जो कि राजकोषीय हस्तक्षेप के लगभग बिना ही होता है।

ब्रिटेन और कुछ अन्य देशों की नियन्त्रित व निर्देशित युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था का आयोजन, आयोजन के व्यापक प्रकार के साथ कुछ समानता रखता है; वह मुख्यतया राजनैतिक लक्ष्य के लाभ के लिए साधनों के अभिन्यास

से भी सम्बद्ध है यद्यपि साथ ही साथ वह (विशेष रूप से ब्रिटेन में) कुछ सामाजिक उद्दिष्टों को भी, (जैसे अधिक अच्छे पोषण और निर्वर्त्य (disposable) आयों की अधिक समानता को एक उपोत्पादन के रूप में आगे बढ़ाने के लिए काम में लाया गया। किन्तु युद्धकालीन आयोजन किसी अर्थ में भी दीर्घकालीन नहीं था। प्रतिरक्षा की आपातिक आवश्यकताओं ने यह अनिवार्य कर दिया कि उत्पादन लोचदार (flexible) हो जिस के कारण आयोजन क्रिया में एक बड़ा अस्थायी तत्त्व ध्वनित था। बहुत अधिक मौलिक बात यह है कि एक स्वतन्त्र समाज में कार्य करने वाली निर्देशित अर्थव्यवस्था का आयोजन जो तब भी मूलतः एक निजी उद्यम संगठन थी, अपरिहार्य रूप से एक प्राधिकारवादी (authoritarian) देश की व्यापक योजना से भिन्न था। यद्यपि यह आवश्यक था कि नीति समूचे राष्ट्रीय लेखा के सन्तुलन के लिए प्रयत्न करे, वास्तविक निर्देशन युद्ध-प्रयास और उसके लिए सहायक सेवाओं तक सीमित था।

युद्ध-काल की निर्देशित अर्थ-व्यवस्था में से ब्रिटेन में और पश्चिमी यूरोप के कुछ अन्य देशों में (सब से बढ़ कर नार्वे और नीदरलैण्ड्स में), पुनर्निर्माण काल की अर्द्ध-नियंत्रित (किन्तु निर्देशित नहीं) अर्थ-व्यवस्था ने जन्म लिया। पहले इसकी आयोजित अर्थ-व्यवस्था के रूप में कल्पना की गई और युद्ध-काल में प्रयुक्त हुए उपायों को अधिक स्थायी उपयोग के लिए विकसित करने के लिए सतत प्रयत्न किए गए। किन्तु यह इस आयोजन का अर्थ कुछ नया ही था। यद्यपि विशिष्ट क्षेत्रों में प्रत्यक्ष नियन्त्रण और बँटवारे रखे गए, साधनों का व्यापक भौतिक बँटवारा छोड़ दिया गया। लगातार चलने वाली दुर्लभताओं ने उनका जारी रहना कम से कम कुछ देर के लिए तो अनिवार्य कर दिया। ब्रिटेन में कल्याणकारी राज्य की स्थापना से सम्बद्ध नीति के विशिष्ट उद्देश्यों को पाने के लिए जान-बूझ कर नियन्त्रणों का प्रयोग किया गया।

अन्य देश, विशेष रूप से संयुक्त राज्य और कैनेडा, जिनकी अर्थ-व्यवस्थाएँ भी, महायुद्ध के चलते बहुत कुछ नियन्त्रित और निर्देशित हो गई थीं, उसके समाप्त होने पर अधिक शीघ्रतापूर्वक मुक्त उद्यम (free enterprise) को लौट

आए। (उन्हें वैसे भी, युद्ध की क्षति और दुर्लभताओं ने बहुत कम बाधा डाली।) किन्तु एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में आयोजन की प्रविधि छोड़ी नहीं गई क्योंकि उन्होंने युद्ध-अर्थ-व्यवस्था के संतुलन के लिए खड़े किए गए राष्ट्रीय लेखांकन के विशद सांख्यिकीय यन्त्र का उपयोग जारी रखा, और दो कार्यों के लिए उसे काम में लेते रहे—पूर्ण रोज़गार की दृष्टि से उचित दिशा में निजी क्षेत्र को ले जाने के लिए और सार्वजनिक क्षेत्र को ऐसा रूप देने के लिए कि संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था की कोई ढिलाई हो तो उसे दूर कर सके और कड़ाई हो तो उसकी क्षतिपूर्ति कर सके। यह दिशा है जिसमें ब्रिटेन गत वर्षों में गतिशील रहा है। नियन्त्रण और आवण्टन (allocations) क्रमशः त्यागे गए है, अंशतः नीति के रूप में और अंशतः दुर्लभता के स्थान पर धीरे-धीरे अपेक्षाकृत बहुलता के आने से।

यह पूछा जा सकता है कि एक मूलतः निजी उद्यम अर्थ-व्यवस्था के इस प्रकार चालन को आयोजन मानना चाहिए अथवा नहीं, सार्वजनिक क्षेत्र कितना भी बड़ा क्यों न हो (और जैसा हमने देखा है ब्रिटेन में सार्वजनिक नियोजन इस समय निजी नियोजन से कुछ अधिक है)। तथापि, नाम कुछ भी दिया जाए, एक सामान्य अर्थ-नीति की तैयारी और अभिपूर्त्ति, इस प्रकार के आर्थिक संगठन और बीते युगों की असंगठित अर्थ-व्यवस्थाओं के मध्य में एक बड़ी खाई स्थापित कर देती है। इसमें वे देश भी अपवाद नहीं है जिन्होंने १९३० की दशाब्दी में, खेदपूर्ण सीमा तक अपर्याप्त यन्त्रों के साथ प्रति-चक्रीय (Counter-cyclical) नीति कार्यान्वित करने का प्रयास किया। संयुक्त राज्य में, १९४० के बाद संघ-राज्य क्षेत्र की वृद्धि, और एक ओर सामाजिक व्यय और अन्वेषण के द्वारा तथा दूसरी ओर प्रत्यक्ष करों के द्वारा हुआ, सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में उसके प्रभाव का विस्तार चकित से कम नहीं करता। नई परिस्थिति के नीति-ध्वनितार्थ अभी तक पूरी तरह समझे भी नहीं जा सके।

आयोजन का एक और अन्तिम प्रकार है जिसका विभेद वर्गीकरण के विषय को छोड़ने से पहले कर देना चाहिए: नियतकालिक (periodic)

विकास योजना जिस का एक अथवा अधिक विशिष्ट दिशाओं में उत्पादिता बढ़ाने की दृष्टि से रूपांकन किया जाता है। फ्रांस में मॉनेट योजना इसी प्रकार की थी और ब्रिटिश राष्ट्रीयकृत उद्योगों की विकास योजनाएँ ऐसी ही है। विकासशील देशों की पञ्च (अथवा दश) वर्षीय योजनाओं का प्रकार भी यही है यद्यपि सामान्यतया उनकी परिसीमा (range) अधिक विस्तीर्ण होती है। इन अनुभाग-योजनाओं को सावधानतापूर्वक सामान्य अर्थ-नीति में विठाना होगा यदि उनके कारण अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलन को नष्ट होने से बचाना है। जहाँ संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था की तुलना में वे छोटी होंगी (जैसा ब्रिटिश राष्ट्रीयकृत उद्योगों के विपय में है) वहाँ नियोजन का सामान्य सन्तुलन प्राप्त करने के कार्य का वे एक पक्ष ही बन जाएंगी और नियन्त्रण की कोई विशिष्ट समस्याएँ नहीं खड़ी करेंगी। किन्तु जहाँ वे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से अपेक्षाकृत बड़ी हों वहाँ (जैसा हमने देखा) इस प्रकार की योजनाओं के अति प्रसारी प्रभावों का प्रतिकार करने के लिए विशेष राजकोषीय पगों की आवश्यकता होगी। उनके कारण जैसा हम आगे देखेंगे सामान्य बजटीय प्रविधि के संशोधन की भी आवश्यकता होती है।

ब्रिटेन में जो यंत्र युद्ध अर्थव्यवस्था के आयोजन के लिए खड़ा किया गया वह बहुत सरल था, मानो कामचलाऊ हो। उन नियन्त्रणों (जो उस परिस्थिति में प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिये गए) की मात्रा ही इतनी थी कि किसी जटिल आयोजन संघटना की आवश्यकता नहीं थी, यदि उसके निर्माण के लिए समय होता भी और फिर जो आवश्यक आंकड़े थे उनका बड़ा भाग भी नियन्त्रणों के उपोत्पादन के रूप में प्राप्त हुआ। अतः जो कुछ आयोजक जानना चाहते थे वह सुगमता से उपलब्ध था किन्तु नीति की दृष्टि से, युद्धकालीन आयोजन का एक पक्ष है जिस पर बल देना जरूरी है: यन्त्र (युद्ध की स्थिति में स्वाभाविकतया) मन्त्रिमंडल के चारों ओर संगठित हुआ था और इस कारण कोषागार के बाहिर था। लार्ड प्रेसिडेन्ट आफ़् दि कौंसिल, केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय और आर्थिक अनुभाग के लिए उतर-दायी मंत्री बन गया।

महायुद्ध के दिनों में जिस ढाँचे पर आर्थिक नीति की रचना की गई वह स्पष्ट है कि प्रकट नहीं किया गया किन्तु वह १६४७ में प्रकाशित होने वाले आर्थिक सर्वेक्षण में दी गई आयोजन पद्धति में निकटतापूर्वक प्रतिबिंबित था पूर्ण रोज़गार—संभव हो तो स्थायी मूल्यों पर—के मुख्य (overriding) उद्दिष्ट के अन्तर्गत, बजटों के कुलक ('sets') होने थे : (i) मुख्य उद्योगों के लिए, जिसमें जनबल और उत्पादन के लक्ष्य सम्मिलित थे, युद्धकाल के विमानों अथवा टैंकों के लक्ष्यों के समान, (ii) मुख्य आर्थिक कारकों : उपभोग, नियोजन, निर्यात व आयात, जो राष्ट्रीय आय व व्यय लेखा में समेकित थे और जिनके साथ जनबल बजट था, उनके लिए, और (iii) पूर्ति के महत्त्वपूर्ण अवरोधों के साथ विशेषतया इस्पात, ईंधन तथा शक्ति और विदेशी विनिमय की पूर्ति के साथ सम्बद्ध गणनाओं का एक विशेष समूह केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय और आर्थिक अनुमान द्वारा जैसे ये बनाए जाते है, उनके आधार पर मंत्रीगण तब शासन की नीति के अनुसार अन्तिम निर्णय करते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि सारी आयोजन प्रक्रिया कुछ अन्य यूरोपीय देशों विशेषतया नीदरलैण्ड्स की यन्त्र-रचना के शासन के लिए आन्तरिक थी।

१६४७ के कष्टों ने अर्थात् वसन्त के ईंधन संकट और ग्रीष्म के भुगतान शेष संकट ने शीघ्र ही यह प्रकट कर दिया कि एक बार युद्धकालीन नियन्त्रणों का केन्द्र भाग (core), सब से बढ़ कर श्रम का निर्देशन हट जाने के बाद अधिक बाकायदा (formal) आयोजन यंत्र आवश्यक होगा। जब नियोजन को काटना (to cut back) अपरिहार्य हो गया तब उसकी आवश्यकता प्रकट हुई। उस समय यह अनुभव में आया कि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न भागों में नियोजन की योजनाओं और प्रगति के बारे में लगभग कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह भी तत्काल ही स्पष्ट हो गया कि श्रम के निर्देशन अथवा वेतन उद्दीपकों (wage incentives) के (जो स्थायित्व के हित में स्वीकार किए गए वेतन निश्चलीकरण (wage freeze) के साथ विसंगत थे) बिना जनबल लक्ष्यों (manpower targets) अथवा परिणामस्वरूप उत्पादन लक्ष्यों को प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है।

इस गतिरोध जैसी स्थिति में से आयोजन संगठन के कुछ प्रयोग निकले जो साधनों के अधिक बड़े बँटवारे और इस प्रकार नियोजन की सारी परि-सीमा पर अधिक अच्छे नियन्त्रण के लिए विशेषरूप से रूपांकित किए गए थे। केन्द्रीय आर्थिक आयोजन सचिवालय, पूर्त्ति मन्त्रालय और व्यापार बोर्ड के द्वारा, और यदि नवीन द्रव्य की आवश्यकता हो तो, कोषागार के निर्देशों के अधीन कार्य करती हुई पूँजी निर्गमन समिति (Capital Issues Committee) के द्वारा भी परमिट देने वाले अभिकरणों की एक उच्चोच्च परंपरा (hierarchy) उठ खड़ी हुई। इस अवस्था में नया यंत्र अभी कोषागार के बाहिर विकसित हो रहा था, और जहाँ तक संभव था कोषागार के विभागों पर परम्परागत नियन्त्रण को पुराने ढंग से चलने दे रहा था। यह स्पष्टतया ऐसी स्थिति थी जो संतोपजनक ढंग से बनी नहीं रह सकती थी। या तो शासकीय नीति का नया पक्ष अधिकाधिक निगलता जाता और कोषागार का सार्वजनिक क्षेत्र पर नियन्त्रण घटता जाता और या नया यंत्र कोषागार को दे कर पुराने यंत्र में मिला देना पड़ता। यह ब्रिटिश परम्परा में संभवतः अन्तर्निहित था कि दूसरा विकल्प ही अन्त में विजयी हो।

जब १९४७ के शरत्काल में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स चांसलर बने तो वे आर्थिक प्रश्नों के प्रमुख मन्त्री पहले ही थे; यह स्वभाविक ही था कि वे चांसलर पद के साथ अपना कार्य दोहरा कर देते किन्तु इस आकस्मिक घटना ने शीघ्र ही प्रश्न का निर्णय कर डाला। यद्यपि १९४८ और १९५३ के मध्य के बारंबार परिवर्तन यह दिखाते है कि प्रक्रिया अभी तक प्रयोगात्मक थी, कोपागार अपने आप को उत्तरोत्तर इस प्रकार ढाल रहा था कि शासन के नए आर्थिक दायित्वों को अपने भीतर समा ले। एक ओर गृह वित्त के विस्तार ने [एक नियोजन कार्यक्रम समिति (Investment Programmes Committee) के सहयोग से] इस प्रकार की बजट क्रिया सम्भव बना दी जो आर्थिक परिस्थिति और प्रवृत्तियों का ऐसा विचार कर सकती थी जिस का महायुद्ध के पहले कोई दृष्टान्त न था। (वास्तव में, युद्ध के पहले कोई यह भी ठीक प्रकार नहीं कह सकता था कि कोपागार के किस अन्धेरे कोने में से असल

में बजट निकलता है)। दूसरी ओर विदेशी वित्त के विस्तार ने ऐसे संगठन के लिए स्थान बना दिया जिसका विशेष कार्य यह था कि भुगतान शेष और उसके पीछे जो आंकड़े हैं उनका ध्यान रखे। इस विकास-क्रम पर १९२३ में आर्थिक सेक्शन के मन्त्रिमंडल कार्यालय से कोषागार को हस्तान्तरण के द्वारा मोहर लग गई। सेक्शन के प्रमुख को (जैसा हमने देखा है) "शासन का मुख्य आर्थिक सलाहकार" यह उपाधि दी गई।

अतः आर्थिक आंकड़ों की जो आकार और परिशुद्धता में निरन्तर बढ़ रहे हैं—केन्द्रीय व्याख्या अब कोषागार के अन्तर्गत ही होती है। अनुभव के फल एक ओर "आर्थिक सर्वेक्षण" (Economic Survey) और दूसरी ओर "राष्ट्रीय आय व व्यय नील पुस्तक" (National Income & Expenditure Blue Book) की परिवर्तित विषय-वस्तु में देखे जा सकते हैं। देर से, सर्वेक्षण अब मुख्यतया कपोल-कल्पनाओं पर आधारित लक्ष्यों के विषय में चर्चा नहीं करता; वह समय के आर्थिक इतिहास का एक अभिलेख (document) बन गया है किन्तु जिस इतिहास को वह अभिलिखित करता है वह कहीं अधिक विस्तृत और परिशुद्ध आंकड़ों पर आधारित होता है। इस तथ्य के कारण कि आर्थिक सर्वेक्षण बजट के पहले प्रकाशित होता है उसमें स्वाभाविक है कि कोई स्पष्ट पूर्वानुमान विस्तृत रूप में नहीं हो सकते; किन्तु ऐसा प्रतीत होगा कि आन्तरिक उपयोग के लिए वह नीति रचना का एक वास्तविक आधार बन गया है। नील पुस्तकों में न केकल पुराने श्वेत-पत्र में जितनी जानकारी कभी थी, उससे बहुत अधिक मिलती है, किन्तु वह संगठित भी ऐसे ढंग से की होती है, जो पूर्वानुमान के लिए बहुत अधिक अर्थपूर्ण है।

राष्ट्रीय आय लेखांकन के द्वारा सामान्य अर्थनीति की प्रथम कल्पना जो कीन्स ने १९३९ में प्रस्तुत की और जो पुनर्निर्माण काल में मूलतः अपरिवर्तित चलती आई वह, जैसा हमने देखा है, एक ओर साधनों की समग्र पूर्त्तियों और दूसरी ओर उनके लिए समग्र माँगों के रूप में थी। इन दो समग्रों को परस्पर आमने-सामने रखने पर एक स्फायी (अपस्फायी)अन्तर प्रकट होता जिसे भरना

नीति का प्रथम लक्ष्य था। यह ढंग (approach) प्रथम प्रयास के रूप में उपयोगी होते हुए भी, इतना अधिक गतिहीन (static) और समूही था कि उससे पूर्वानुमान के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं होता था। एक-एक क्षेत्र का जब पृथक् लेकर विभंग किया जाता है (कार्यात्मक दृष्टि से जैसे उपभोग और बचत में, और संगठनात्मक दृष्टि से भी—जैसे साधनों के लिए माँगों में), तब ही निकटतम भूतकाल की प्रवृत्तियों को इतने समीप से देखना संभव होता है कि भावी गति के सम्बन्ध में निर्णय किया जा सके। अन्तर-क्षेत्र विश्लेषण की तालिकाओं में और विशेषतया नवीन प्रदा / आदा तालिका (input/output table) में अब यही प्रयत्न किया जा रहा है।

इसके साथ ही राशनिंग का अन्त और क्रमशः अधिक मुक्त अर्थ-व्यवस्था की पुनःस्थापना, नियन्त्रण के मुद्रा यन्त्र के पुनर्जीवन तथा नए आंकड़ों द्वारा प्रदत्त अधिक ज्ञान के सहित, केन्द्रीय आयोजन यंत्र (planning machinery) को सरल बनाने में सहायक हो सकती है। आज के पर्याप्त बहुलता वाले संसार में, जिसमें मूल्य-यन्त्र (price mechanism) कार्य कर सकता है, कच्चे माल के बँटवारे युक्तियुक्त नहीं रहे। दूसरी ओर नवीन स्वतन्त्रता के लिए अधिक विशाल दृष्टिकोण और वर्द्धमान जागरूकता की आवश्यकता है। युद्धोत्तर संसार में बारबार जो भुगतान शेष के संकट उपस्थित होते रहे उनके कारण अधिकतर ब्रिटेन के वश में नहीं थे; किन्तु यह ध्यान में आए बिना नहीं रह सकता कि हमारे आर्थिक सर्वेक्षण एक विचित्र ढंग से विदेशी परिस्थिति के साथ असम्बद्ध थे। फिर, यह भी भली प्रकार तर्क किया जा सकता है कि १९५१ का संकट बलात् सुलभ मुद्रा (forced cheap money) के युग के बाद की स्थिति द्वारा उग्र बनाया गया; आर्थिक परिस्थिति का यह पक्ष नीति के साथ समेकित नहीं किया गया था।

नई परिस्थिति में जो आवश्यक प्रतीत होता है वह सीमित परिसीमा वाली विशिष्ट आयोजन समितियाँ नहीं, अपितु कोषागार की छत्रछाया में राष्ट्रीय आय व व्यय का निर्णय करने वाले कारकों से सम्बन्धित सभी विभागों और अभिकरणों का घनिष्ठ और निरन्तर सहयोग है। किन्तु इस सब में आगे अर्थ-

व्यवस्था में बजट का जो स्थान है उसमें पर्याप्त परिवर्त्तन ध्वनित है । अतः अब हमें बजट के नए कार्यों के लिए उस को लगाने की समस्याओं की ओर घूमना चाहिए ।

२. बजट के कार्य (The Functions of the Budget)—बजट उन द्रव्यों का लेखा होता है जिन के लिए विधान-मण्डल उत्तरदायी है । ब्रिटेन में जैसा हमने देखा है, उसमें सार्वजनिक व्यय का वह भाग आता है जिसके विषय में पूर्त्ति समिति के द्वारा लोक-सदन का शब्द अन्तिम होता है, और प्राक्कलन समिति तथा लोक लेखा समिति के द्वारा उसकी आलोचना अन्तिम होती है । परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र के नए दायित्वों के आने से परम्परागत रोकड़ अभिलेखा (cash record) जो आर्थिक महत्त्व आवश्यक है उसे प्रकट करने के लिए पर्याप्त नहीं रह गया है । एक अर्थ में यह नई आवश्यकता, नील पुस्तक (Blue Book) में प्रस्तुत किए जाने वाले, सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक भागों के लेखाओं द्वारा पूरी होती है । ये लेखा उन अन्यों के सहित जिनका केवल आन्तरिक चलन (internal circulation) है, शासकीय आयोजकों के लिए सन्तोषजनक हो सकते हैं; किन्तु संसद् और बाहरी जनता की दृष्टि में अब भी जिसका महत्त्व है वह बजट ही है, विशेषतया इसलिए कि केवल बजट ही किसी परिशुद्ध ढंग से स्पष्टतया, आगे व पीछे दोनों ओर देख सकता है । इस लिए अन्ततः यह आवश्यक है कि उसके पुराने कार्यों को न छोड़ते हुए, बजट को ठीक प्रकार समायोजित कर के अपने नए स्थान में बिठाया जाए ।

परम्परा से बजट का मुख्य महत्त्व संसद् को उत्तरदायित्व-नियन्त्रण (accountability control) का विश्वास दिलाना था । अपने पृष्ठदर्शी (backward-looking) पक्ष में इसी ने सर्वप्रथम यह दिखाया कि अनेक सार्वजनिक सेवाओं के लिए वोट किए गए द्रव्य बंटवारे में उन्हें ही दिए गए, और दूसरा कि नियत द्रव्य या तो उन सेवाओं पर व्यय किए गए या समेकित निधि (Consolidated Fund) को लौटा दिए गए । अपने अग्रदर्शी पक्ष में बजट विभिन्न सेवाओं पर जो व्यय होनी हैं उन आयोजित राशियों का और उसके लिए आवश्यक राजस्व का अभिलेख है । सारी प्रक्रिया प्राक्कलनों,

वित्त अधिनियम (Finance Act) और अन्तिम रूप में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor-General) की रिपोर्ट सहित विनियोग अधिनियम (Appropriation Act) में संपूर्ण होती थी। लेखा ब्योरे (detail) में भी महत्त्वपूर्ण था जहाँ वह कोषागार नियन्त्रक महालेखा परीक्षक तथा लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) का कार्य था, और समस्त (aggregate) में भी जहाँ वह चांसलर, मन्त्रि-मण्डल और सम्पूर्ण सदन की समितियों का कार्य था।

सदस्यों की सुविधा मात्र के लिए, और बिना कानूनी (statutory) प्राधिकार के, "वित्तीय वक्तव्य" (Financial Statement) में व्यय और राजस्व के परिणामों तथा प्राक्कलनों को संक्षिप्त रूप में देने की प्रथा चल पड़ी, जो पहले समय में किसी को विदित न थी। यह प्रलेख (document) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होना चाहिए क्योंकि यह पृथक् वस्तुओं की अपेक्षा संपूर्ण दृश्य को देखने का एक मात्र अवसर है जो वित्तीय वर्ष से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है और जो प्रभावी ढंग से अग्रदर्शी है। अतः यह अति वांछनीय है कि अपने परम्परागत कार्य के अतिरिक्त वह शासन के काम और नीतियों के आर्थिक महत्त्व को जितना निकट से संभव हो प्रकट करे।

प्रभावी उत्तरदायित्व नियन्त्रण के लिए बजटीय पद्धति की दो सब से महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ ये है कि प्रथम, लेखा वास्तव में व्यापक होना चाहिए और द्वितीय कि विभागों और समेकित निधि में लेखांकन के अर्थ में वार्षिक "सफ़ाई" (clearing of the decks) क्रिया होनी चाहिए। ये दो शर्तें हैं जिन का पक्का प्रबन्ध करने के लिए ब्रिटिश बजटीय प्रविधि विशेष रूप से बनाई गई। कोई भी द्रव्य जिनका उत्तरदायित्व संसद् पर था न बाहिर छोड़े जा सकते थे न "एजेन्सी" अथवा "असाधारण" बजटों में छिपाए ही जा सकते थे। किन्तु जिस धन व्यय का वित्तप्रबन्ध संसद् ऋण में से उपयुक्त समझे उसे "रेखा के नीचे" (Below the Line) पृथक् कर दिया जाता है—जैसा किसी भी वित्तीय वक्तव्य में देखा जा सकता है। वास्तव में, युद्धकालों को

छोड़ कर कुछ ही मदें जैसे टेलीफ़ोन के विस्तार का व्यय समय-समय पर रेखा के नीचे स्थान पाती रहीं ।.

वार्षिकता (Annuality) की विशेष ध्यानपूर्वक चिन्ता की गई। विनियोग एक लेखांकन अवधि के लिए ही होते थे, और कोई द्रव्य जो खर्च होने से बच जाता, विभाग की बाह्य प्राप्तियों (साहाय्यी विनियोजन) (Appropriations in Aid) के सहित अवधि के अन्त में लौटा देना पड़ता था। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आय-कर केवल वर्ष भर के लिए स्वीकार किया जाता था। यद्यपि स्वाभाविकतया व्यय और कर-संग्रह निरन्तर चलने वाली प्रक्रियाएँ थीं, प्रतिवर्ष बजट पारित होने के समय तक के लिए उन्हें नियमित करने के लिए विशेष अधिकार लिये जाते थे। ये बचाव के प्रबन्ध और प्रथाएँ स्थूल रूप में आज भी कायम हैं यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र की गतिविधि के विस्तार के साथ-साथ परिणाम कुछ कम परिशुद्ध होता जाता है। प्रत्यक्ष व्यवहार में कई विभागों को, विशेषतया व्यापार अथवा उत्पादन की गतिविधि वाले विभागों को, यदि उनका कार्य शान्त गति से व बेरोकटोक चलना हो तो, कार्यवाहक शेष (working balances) रखने की अनुज्ञा अवश्य होनी चाहिए।

बजटीय आचार की निर्मायी (formative) अवस्था में (उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में) संसद् ने बजटीय संगठन की एक और दिशा में भी जिसे हम *कार्यात्मक* (functional) कह सकते है, उपयुक्त रुचि प्रकट की। यह न केवल व्यय का समस्त रूप दिखाने का प्रयत्न करती है अपितु सेवाओं के भिन्न-भिन्न प्रकारों में, उसका विभंजन (breakdown) भी। लोक सदन द्वारा सापेक्ष योगों (relative totals) में विशेषतया प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में, बहुत रुचि दिखाई गई। कार्यात्मक वर्गीकरण का यद्यपि बड़े स्थूल रूप में, प्राक्कलनों की व्यवस्था में ध्यान रखा गया, जो विभागीय आधार पर क्रमानुसार प्रकाशित किए जाने थे और किए जाते थे। इसमें एक प्रकार के कार्य वाले विभागों को एकत्र कर दिया जाता है। जब वित्तीय वक्तव्य के अन्तिम "सन्तुलन पत्र" में सब प्राक्कलन एकत्र किए जाते हैं तब यह

व्यवस्था बनी रहती है। और भी, वित्तीय वक्तव्य में अर्थव्यय-तालिकाओं की एक माला (series) होती है जिसमें विभिन्न दिशाओं में प्रस्तावित व्यय का कुछ ब्योरे सहित संक्षिप्त वृत्त दिया होता है : अर्थात् स्थानीय प्राधिकारियों को अनुदान, सामाजिक सेवाओं के लिए केन्द्रीय अंशदान और कुछ अन्य शीर्षक जिनमें उपनिवेशीय, राष्ट्र-मण्डलीय और विदेशी सेवाएँ सम्मिलित हैं।

इन तालिकाओं में दी जाने वाली जानकारी पिछले वर्षों में अधिक ज्ञान-वर्द्धक और अच्छी प्रकार संगठित होती गई है। किन्तु अब भी यह बताने का कोई ढंग नहीं है—विस्तृत प्राक्कलनों से भी, कि किसी विशिष्ट सेवा पर, जो अनेक विभागों पर फैली हुई है या दूसरी सेवाओं के साथ मिलाकर जिसकी व्यवस्था होती है, कितना खर्च होता है। यह सम्भव बनाने के लिए लेखाओं के और लेखाँकन पद्धति तक के कहीं अधिक व्यापक पुनर्व्यवस्थापन की आवश्यकता होगी। फिर भी, कार्यात्मक दक्षता की दृष्टि से वे खर्चे ठीक ऐसे हैं जो सुलभ पड़ताल और तुलना के योग्य होने चाहिएँ। इस पद की ओर हमें बाद में फिर लौटना होगा।

बजटीय पद्धति के एक और वर्गीकरण का विचार शेष है : आर्थिक वर्गों के अनुसार। १९३० की दशाब्दी में सम्पूरक वित्त के प्रारम्भ से बजट का मुख्य आर्थिक श्रेणियों में विभाजन, कम से कम जहाँ तक चालू / पूँजी, और वस्तुओं व सेवाओं / हस्तान्तरणों का सम्बन्ध है, आवश्यकप्राय हो गया। इनके बिना सार्वजनिक नीति का धनव्यय प्रभाव का निर्णय नहीं किया जा सकता था। बजट के आर्थिक वर्गीकरण में रुचि दिखाने वाला पहला देश स्वीडन था, जिस ने १९३८ में बजटीय रचना का चालू / पूँजी आधार पर पर्याप्त व्यापक पुनस्संगठन स्थापित किया। यह अत्यन्त रोचक प्रयोग था यद्यपि बाद की आवश्यकताओं की दृष्टि से यह अपर्याप्त था।

राष्ट्रीय लेखाँकन के कलेवर के अन्दर मात्रात्मक रूप में सम्पूरक वित्त के प्रारम्भ से (ब्रिटेन में कुछ ही वर्ष पश्चात्) न केवल स्वीडिश सुधार जैसा कुछ वाँछनीय था, बल्कि और अधिक आर्थिक विभंजन भी आवश्यक थे जिससे

चालू बजट के शुद्ध आधिक्य का पृथक्करण हो सके, क्योंकि नियन्त्रण की प्रणाली मूलतः उसी पर आश्रित रहती है। ब्रिटेन में यह अधिक विस्तृत आर्थिक विभंजन का प्रबन्ध करने की व्यवस्था, वित्तीय वक्तव्य के चौखट के पूरी तरह बाहिर ही विकसित हुई, वैसे ही जैसे नीति-सम्बन्धी निर्णयों के लिए साँख्यिकीय और आर्थिक आधार उपलब्ध कराने वाले संगठन कोषागार के बाहिर विकसित हुए। परिणामस्वरूप चाँसलर का बजट सुधार, और उस आर्थिक वर्गीकरण के साथ विधिवत् (formal) सम्बन्ध के बिना ही रहा, जो केन्द्रीय साँख्यिकीय कार्यालय द्वारा उपलब्ध किया जाता है। आगामी सेक्शन में हमें इस अन्तर को भरने की सम्भावना का विचार करना होगा, जो इस प्रकार नीति की नींव के और जिसमें उसकी प्रतिष्ठापना होती है उस बजट-लेखा के मध्य में उत्पन्न हो जाता है।

३. **बजट और राष्ट्रीय लेखा** (The Budget and the National Accounts)—हमने देखा है कि ब्रिटिश बजट की परम्परागत व्यवस्था और सरल रोकड़ लेखाँकन जिस पर वह आधारित थी, युद्ध उत्तरदायित्व नियन्त्रण की दृष्टि से बनाया गया था। जहाँ तक साधारण प्रशासी विभागों का सम्बन्ध है जिनमें परिसम्पत् को बनाए रखने अथवा बढ़ाने का कोई प्रश्न नहीं तथा स्वतन्त्र साहाय्यी-विनियोजन (उदाहरण के लिए शुल्क और जुर्माने) उपेक्षणीय होते हैं, इस पद्धति की अपने कार्य के लिए उपयुक्तता स्तुत्य है। कोषागार का इसके लिए अत्यन्त आग्रह कि ऐसा कुछ न किया जाए जो इसके विघटन का कारण हो, समझना बहुत सुगम है। किन्तु जिन अधिक उद्देश्यों के साथ अब नीति का सम्बन्ध आता है, उनकी दृष्टि से यह पर्याप्त से बहुत कम है।

जहाँ विभागों को (सेवाओं का प्रशासन करने से पृथक्) कार्यों की पूर्ति करनी होती है, एक सीधा रोकड़ अभिलेख वही महत्त्व नहीं रखता। और भी ऐसे विभागों के लिए यह बहुत वाँछनीय है कि लेखे का ऐसा स्वरूप रहे जिससे दक्षता पर और परिशुद्धता पर जाँच रखी जा सके। इस श्रेणी में न केवल वास्तविक व्यापारी विभाग आते हैं जिनके लिए इसकी आवश्यकता स्पष्ट है और प्रायः स्वीकार की जाती है, अपितु विविध प्रकार के अर्द्ध अथवा

चालू बजट के शुद्ध आधिक्य का पृथक्करण हो सके, क्योंकि नियन्त्रण की प्रणाली मूलतः उसी पर आश्रित रहती है। ब्रिटेन में यह अधिक विस्तृत आर्थिक विभंजन का प्रबन्ध करने की व्यवस्था, वित्तीय वक्तव्य के चौखट के पूरी तरह बाहिर ही विकसित हुई, वैसे ही जैसे नीति-सम्बन्धी निर्णयों के लिए साँख्यिकीय और आर्थिक आधार उपलब्ध कराने वाले संगठन कोषागार के बाहिर विकसित हुए। परिणामस्वरूप चाँसलर का बजट सुधार, और उस आर्थिक वर्गीकरण के साथ विधिवत् (formal) सम्बन्ध के बिना ही रहा, जो केन्द्रीय साँख्यिकीय कार्यालय द्वारा उपलब्ध किया जाता है। आगामी सेक्शन में हमें इस अन्तर को भरने की सम्भावना का विचार करना होगा, जो इस प्रकार नीति की नींव के और जिसमें उसकी प्रतिष्ठापना होती है उस बजट-लेखा के मध्य में उत्पन्न हो जाता है।

३. बजट और राष्ट्रीय लेखा (The Budget and the National Accounts)—हमने देखा है कि ब्रिटिश बजट की परम्परागत व्यवस्था और सरल रोकड़ लेखाँकन जिस पर वह आधारित थी, युद्ध उत्तरदायित्व नियन्त्रण की दृष्टि से बनाया गया था। जहाँ तक साधारण प्रशासी विभागों का सम्बन्ध है जिनमें परिसम्पत् को बनाए रखने अथवा बढ़ाने का कोई प्रश्न नहीं तथा स्वतन्त्र साहाय्यी-विनियोजन (उदाहरण के लिए शुल्क और जुर्माने) उपेक्षणीय होते हैं, इस पद्धति की अपने कार्य के लिए उपयुक्तता स्तुत्य है। कोषागार का इसके लिए अत्यन्त आग्रह कि ऐसा कुछ न किया जाए जो इसके विघटन का कारण हो, समझना बहुत सुगम है। किन्तु जिन अधिक उद्देश्यों के साथ अब नीति का सम्बन्ध आता है, उनकी दृष्टि से यह पर्याप्त से बहुत कम है।

जहाँ विभागों को (सेवाओं का प्रशासन करने से पृथक्) कार्यों की पूर्ति करनी होती है, एक सीधा रोकड़ अभिलेख वही महत्त्व नहीं रखता। और भी ऐसे विभागों के लिए यह बहुत वाँछनीय है कि लेखे का ऐसा स्वरूप रहे जिससे दक्षता पर और परिशुद्धता पर जाँच रखी जा सके। इस श्रेणी में न केवल वास्तविक व्यापारी विभाग आते हैं जिनके लिए इसकी आवश्यकता स्पष्ट है और प्रायः स्वीकार की जाती है, अपितु विविध प्रकार के अर्द्ध अथवा

आभासी व्यापारी (pseudo trading) विभाग भी, जैसे राजकीय आर्डनैंस फैक्टरीज़, और डॉकयार्ड्ज़, सड़कों के विकास व कार्यो से सम्बद्ध विभाग। द्वितीयत:, और अधिक महत्त्वपूर्ण, राजकोषीय नीति के लिए चाहे स्थायित्व से सम्बन्धित हो अथवा वृद्धि से, एक लेखाँकन पद्धति की आवश्यकता होती है जो राजस्व और व्यय का एक पूर्णतया आर्थिक वर्गीकरण सम्भव बना दे जिससे केन्द्रीय शासन क्षेत्र शेष राष्ट्रीय लेखा के साथ समेकित किया जा सके। बजटीय सुधार की समस्या है ऐसी पद्धति की खोज जो उत्तरदायित्व नियन्त्रण के अतिरिक्त इन वाद की वस्तुओं को भी, भार दे।

सर्वप्रथम, विशालतम अर्थ में राजकोषीय-नीति के साथ बजट का मेल बिठाने की (gearing) समस्या लें। यहाँ पहली और सबसे मौलिक आवश्यकता इस बात की है कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य भागों में बचतों की परिभाषाओं से संगत (consistent), चालू लेखा में शुद्ध आधिक्य अथवा हानि को स्पष्ट और परिशुद्ध रूप में प्रकट किया जाए, क्योंकि इसका परिमाण अर्थ-व्यवस्था में बचत अथवा अपसंचय (dissaving) के प्रति केन्द्रीय शासन के अंशदान को, और परिणामत: (विद्यमान आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार) उसके प्रसारी संकोचीय अथवा स्थायिकारी प्रभाव को मापता है। चालू आधिक्य (current surplus) केन्द्रीय शासन के बजट में विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि अन्ततोगत्वा राजस्व और व्यय के विषय में शासन की नीति को राष्ट्रीय लेखा में संतुलनकारी कारक (balancing factor) का कार्य करना होता है। समस्याओं के इस केन्द्रीय समूह का हमें नीचे कुछ विस्तार से परीक्षण करना होगा। उसके पूर्व अभी कुछ गौण समस्याएँ भी विचारणीय हैं।

संपूरक वित्त का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, वित्तीय वर्ष में उठने वाले आर्थिक परिस्थितियों के, परिवर्त्तन का सामना करने के लिए बजटीय लोच से सम्बन्ध रखता है। यह वार्षिकता को काटता है। स्वीडन की बजटीय सुधार योजना के इस समस्या को सुलझाने का यह ढंग सोचा कि वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में वैकल्पिक (alternative) बजट योजनाओं को अस्थायी रूप में मतदान द्वारा स्वीकार कर लिया जाए, एक विद्यमान परिस्थिति के लिए और एक अवस्था

बिगड़ जाने की स्थिति के लिए । किन्तु इस प्रकार की योजना भी एक बजट की अपेक्षा कोई कम लोचहीन नहीं होगी । यह स्पष्ट प्रतीत होता है उत्तर-दायित्व नियन्त्रण को तोड़े बिना आनम्यता के लिए जो प्रबन्ध सम्भव है वह बजट के सामान्य चौखटे के अन्दर ही करना होगा । आनम्यता की दिशा में कहाँ तक जाना संभव है यह (विरोधाभास होते हुए भी) वार्षिक नियन्त्रण की कठोरता के साथ उलट दिशा में बदलता है; वह जितना अच्छा होगा उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता इसमें बेखटके ली जा सकेगी, और उतना ही इस बात का अधिक विश्वास होगा कि वह स्वतन्त्रता केवल वास्तविक आवश्यकता उपस्थित होने पर ही ली जाएगी ।

ब्रिटेन में अभी अभी इस प्रकार की लोच के कुछ छोटे-छोटे सफल उदा-हरण हुए है । १६४६ की वस्त्र-मन्दी को रोकने के लिए सैनिक कपड़ों के निर्देशों में गतिवृद्धि का उल्लेख किया जा चुका है । प्राक्कलनों के साथ इसी प्रकार की स्वतन्त्रता एक से अधिक बार उपनिवेशों में आकस्मिक आपातों (emergencies) में सहायतार्थ ली गई है । इस प्रकार के व्यय का वित्तप्रबन्ध प्रथम तो नागरिक आकस्मिकता निधि (Civil Contingencies Fund) में से किया जा सकता है (जो प्राक्कलनों में सामान्य "वोट" प्राप्त होने तक नई सेवाओ की प्रारंभिक अवस्थाओं का भी वित्त-प्रबन्ध करती है) । बाद में इस प्रकार के आपातिक व्यय को अनुपूरक प्राक्कलन (Supplementary Estimate) के रूप में आना होगा जब उसकी आवश्यकता का पूरी तरह विचार किया जाएगा । राजस्व पक्ष की ओर क्रय कर के दर वर्ष के भिन्न-भिन्न समय पर भी बदले जा सकते हैं । इन अवसरों के रहते भी, जहाँ तक राजकोषीय साधनों का सम्बन्ध है मुख्य सहारा स्वचालित स्थायिकारों (automatic stabilizers) का ही लेना पड़ेगा । यह फिर से निरन्तर लोच वाले मुद्रा यन्त्र के पूर्ण उपयोग की आवश्यकता की ओर संकेत करता है ।

कुछ इसी प्रकार की समस्या और भी है जो वार्षिकता को काटती है । वह आधुनिक अवस्था में ऐसी परियोजनाओं के लिए बजट-प्रबन्ध करने की आवश्यकता से उत्पन्न होती है जो अनेक वर्षो तक फैल सकते है । संयुक्त-

राज्य में इनसे बहुत कठिनाई पैदा हुई है (उदाहरणार्थ विदेशी सहायता अथवा 'फार्म'—साहाय्य के वित्त के सम्बन्ध में)। यह जरूरी प्रतीत होता है कि कार्यक्रम के प्रारम्भ में ही काँग्रेस का संपूर्ण विनियोग पर मतदान ले लिया जाए, अतः इस वर्ष में विनियोग व्यय से बहुत अधिक बढ़ जाता है जिससे बजट-संतुलन की स्पष्टता अव्यवस्थित हो जाती है, और तब भी इसका कोई विश्वास नहीं होता कि बाद के सालों में, काँग्रेस ने सिद्धान्त रूप में जिन विनियोगों को स्वीकार कर लिया है उनसे, वह फिर नहीं जाएगी। ऐसा लगता है कि ब्रिटिश प्रकार का मन्त्रिमंडलीय शासन इस समस्या को कम दुर्गम बना देता है। एक बार संसद् एक कार्यक्रम को स्वीकार कर ले, सामान्यतया वह प्रतिवर्ष उस पर अपेक्षित व्यय के प्राक्कलन को स्वीकार करने के लिए सन्तुष्ट रहती है। प्रकट है कि इस प्रकार के प्राक्कलनों में परिशुद्धता की मात्रा उतनी नहीं रह सकती, इस कारण वे प्रशासी प्राक्कलनों की जो रोकें हैं उनके अधीन नहीं रह सकते।

निरन्तर चलने वाले कार्यक्रम गत वर्षों में संख्या तथा महत्त्व में बहुत बढ़ गए हैं, उदाहरणार्थ सड़कों का विकास-कार्यक्रम, स्वास्थ्य सेवाओं में पूँजी विकास और टेलीफ़ोन सेवा का विस्तार। प्रतिरक्षा उत्पादन कार्यक्रम में भी कई अतिदीर्घकालीन वचन बन्धन (commitments) ध्वनित होते हैं, विशेषतया विकास के क्षेत्र में। तथापि जिन सतत कार्यक्रमों के साथ ब्रिटिश शासन का सम्बन्ध आता है, वे सम्पूर्ण की दृष्टि से अभी भी साधारण महत्त्व रखते हैं। उपनिवेशों और अन्य विकासी देशों में प्रायः ऐसी बात नहीं है, और ऐसा प्रतीत होगा कि बजट संगठन का इस तथ्य को ध्यान मे लेकर समायोजन किया जाए, जैसे कि पूर्ण होने तक प्रतिवर्ष सम्बद्ध योजनाओं में हुई प्रगति को, मूल तथा पुनरीक्षित प्राक्कलनों सहित अभिलिखित कर के। विकास के राजकोषीय ध्वनितार्थों को विधान मंडल अनुभव कर सकें इसके लिए योग्य होगा कि प्रत्येक योजना के साथ, सामने उसके पूर्ण संचालन के लिए आवश्यक, सहकारी श्रम और सामग्री सम्बन्धी आवर्तक (recurrent) व्यय भी दिखाया जाए।

जहाँ इन विशिष्ट समस्याओं का समाधान राजकोषीय नीति की वर्द्धमान आवश्यकता है, केन्द्रीय समस्या अब भी वही है—चालू लेखे के आधिक्य हानि को यथासंभव ठीक अभिलिखित करना । इसे पर्याप्त परिशुद्ध बनाने के लिए दो बातें आवश्यक हैं : (i) लेखे में वास्तविक रोकड़ सौदों के साथ जो आकस्मिक और लेखावधियों में परिवर्त्य हो सकते हैं, देय और प्राप्य राशियाँ भी अभिलिखित रहें; (ii) चालू व पूँजी मदों में प्रभावी पृथकता हो । उत्तरोक्त में नियोजन के लिए उपलब्ध द्रव्य, नियोजन व्यय, ऋण व उधार के सौदे, पूँजी लेखे में हस्तान्तरण और अन्य अनावर्तक प्राप्तियाँ और भुगतान रहें ।

यह स्वीकार किया जाता है कि इन सब शीर्षकों के अन्तर्गत परिभाषा के कठिन प्रश्न खड़े होते है । रोकड़ सौदे निश्चत और परिशुद्ध रोक के नीचे आ सकते है, जैसे ही प्राप्य देय (receivable/payable अथवा प्रोद्भूति accrual) आधार माना जाए, व्यक्तिगत राय (judgment) का एक तत्त्व प्रवेश कर जाता है और नियन्त्रण में परिशुद्धता की उतनी मात्रा नहीं रह सकती । फिर कई मदें चालू और पूँजी के सीमान्त पर रहती हैं जिनके वर्गीकरण में पुनः व्यक्तिगत राय प्रविष्ट हो जाती है । यह विशेष रूप से व्यय पक्ष में सत्य होता है, और उसमें भी असामान्यतया जब अन्तिम व्यय उस विभाग द्वारा न होते हुए जिसके लिए विनियोग किया गया है, किसी अन्य प्राधिकारी अथवा प्रतिनिधि (agency) द्वारा किया जाता है । तो भी, जहाँ यह अपरिहार्य है कि वर्गीकरण के कुछ किनारे अस्वच्छ रहें, लेखांकन का एक रूप बनाया गया है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार कर लिया गया है जो उक्त विभेदों को प्रायः सन्तोषजनक ढंग से प्रकट करता है । किन्तु इसका परीक्षण करने से पहले वर्गीकरण के दो और विषय हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक है ।

यदि हमें बजट आधिक्य / हानि के केवल अपरिष्कृत परिमाण (crude magnitude) में ही रुचि नहीं बल्कि (जैसा अवश्यमेव होगा) उसके गहनतर

आर्थिक महत्त्व में भी है, तो आवश्यक है कि मदें, विशेषतया व्यय पक्ष की इस प्रकार पृथक् पृथक् की जाएँ—जो निजी क्षेत्र से वस्तुओं अथवा सेवाओं के क्रय की ओर इंगित करती है अथवा दूसरी तरफ, हस्तान्तरणों की ओर, और इनमें से वे जो राष्ट्रीय ऋण ब्याज के शोधन में से सामाजिक लेखे में हैं। द्वितीयतः, यह कहना संभव होना चाहिए कि व्यय, पहले स्थान पर घर में ही आघात करता है या विदेश में। ये दो विभेद—जिनमें से पूर्वोक्त का महत्त्व सामान्यतया सर्वाधिक होता है—खर्च, बचत और भुगतान शेष पर व्ययों के प्रभाव को मापने के लिए आवश्यक है।

अब हम संक्षिप्त रूप में लेखे के ऐसे रूप का परीक्षण कर सकते है जो प्रोद्भूति के आधार पर बना होने के अतिरिक्त, किसी सार्वजनिक प्राधिकारी के बजट के लिए उपयुक्त है और जो इन सब विभेदों का यौग्य ध्यान भी रखता है। वास्तव में वह ठीक वैसा ही है जैसा सार्वजनिक प्राधिकारियों के लेखाओं के लिए नील पुस्तक में केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय द्वारा प्रयुक्त होता है।

१. राजस्व (आय, चालू) लेखा

आगम (Incomings)	**बहिर्गामी** (Outgoings)
१. कर राजस्व	१. वस्तुओं तथा सेवाओं पर व्यय
२. संपत्ति (व्यापारिक आधिक्यों सहित)	२. चालू अनुदान व साहाय्य
३. विदेशों से चालू अनुदान	३. विदेशों से चालू अनुदान

सन्तुलन-मद (Balancing item) : चालू आधिक्य/हानि

२. पूंजी (नियोजन) लेखा

१. चालू आधिक्य हानि	१. सकल स्थिर नियोजन (gross fixed investment)
२. पूँजी हस्तान्तरण (बाहिर से मिले उपहारों सहित)	२. स्टॉक समायोजन
३. नया उधार	३. पूँजी हस्तान्तरण व उपहार

४. प्राधिकारी को ऋणों की वापिसी ४. नया ऋण

५. प्राधिकारी द्वारा ऋणों की वापिसी

संतुलन-मद : तरल परिसम्पत् (liquid assets) में परिवर्त्तन

इस लेखे के प्रथम भाग में चालू लेखे के सब सौदे आ जाते हैं। इस कारण संतुलन सम्बद्ध प्राधिकारी का अर्थ-व्यवस्था की बचत अथवा अपसंचय में वास्तविक अंशदान दिखाता है; तदनुसार वह नियोजन लेखे में स्टाक्स और स्थिर पूँजी के प्रतिस्थापन में ऋण में और तरल साधनों की वृद्धि में निर्वर्तन (disposal) के लिए ले जाया जाता है। पूँजी लेखा के सभी सौदे दूसरे भाग में आते हैं, किन्तु यह अनुभव किया जाएगा, कि—उपहारों व हस्तान्तरणों को छोड़ कर (जो पूँजी लेखा में गौण महत्त्व रखते हैं)—लेखा दो भागों में बँट जाता है, एक जिसमें वास्तविक नियोजन आता है और दूसरा जिसमें वित्तीय सौदे आते हैं। लेखा को इस प्रकार विभक्त करना बहुत बार लाभदायक होता है; यदि "वास्तविक" सौदे पहले रखे जाएँ तो आगे ले जाई जाने वाली सन्तुलन-मद "ऋण देने के लिए उपलब्ध द्रव्य" (अथवा उधार लेने के लिए आवश्यक द्रव्य) इस रूप में आती है; और यदि वित्तीय वक्तव्य पहले रखा जाए तो "नियोजन के लिए उपलब्ध द्रव्य" इस रूप में। किसी भी अवस्था में; अन्तिम सन्तुलन-मद तरलता में परिवर्त्तन को ही प्रकट करती है, जो राष्ट्रीय शासन का प्रश्न हो तो केन्द्रीय बैंक में उसके शेष में वृद्धि का रूप लेगी, या यदि केन्द्रीय बैंक का लेखा शासन के लेखाओं से समेकित हो तो देश के पास जो सोना और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा है उसमें परिवर्त्तन अंकित करेगी।

ऊपर दिए हुए लेखा में जो नियोजन दिया गया है वह *सकल* है—अवमूल्यन सहित, और अवमूल्यन दिखाने वाली कोई मद नहीं दी गई है। इसलिए यह केवल उन विभागों के लिए उपयुक्त है जिनमें वाणिज्यिक अवमूल्यन नीति (commercial depreciation policy) पर आचरण नहीं होता और जिनमें परिसम्पत् (यदि हो तो) का प्रतिस्थापन कराधान अथवा अन्य बाह्य प्राप्तियों में से किया जाता है। यदि ऐसे वास्तविक परिसम्पत् हों भी जिनको बनाए रखने (maintenance) की जरूरत है तो यह इस कारण

से उठ सकती है कि (जैसे कार्य-मन्त्रालय ministry of works में) कोई प्राप्तियाँ नहीं है जिनमें से अवमूल्यन का प्रबन्ध हो सके, या इस कारण से कि एक व्यापारी अथवा अर्द्ध-व्यापारी विभाग का लेखा इस प्रकार रखा जा रहा है मानो एक प्रशासी विभाग हो।

जहाँ परिसम्पत् ऐसे विभागों के अन्तर्गत एक गौण वस्तु हो जो बजट में पूर्णतया लेखाँकित है, वहाँ चालू बजट में अवमूल्यन का विशिष्ट उपबन्ध (provision) सम्भवतः अनावश्यक झंझट ही होगा, विशेषतया यदि सामान्य अवस्था में व्यापारी व अर्द्ध-व्यापारी गतिविधियों को वजट के सम्पूर्ण क्षेत्र में से बाहिर निकाल लेने की रीति पर आचरण किया जाता है (जैसा नीचे स्पष्ट किया गया है)। किन्तु किसी विकासी देश में जब परिसम्पत् का निर्माण हो रहा हो, इस मद की सम्पूर्ण की तुलना मे बहुत छोटी होने की प्रवृत्ति नहीं रहेगी। उस स्थिति में योग्य वित्तीय पद्धति और स्थायित्व दोनों के हित में यह होगा कि परिसम्पत् के चालू बनाए रखने (maintenance) के साथ अवमूल्यन के लिए भी विशिष्ट उपबन्ध (specific provision) कराधान में से किया जाए। विकास कार्य को स्थायी बनाने के लिए उपयोगी होगा यदि नवीन नियोजन के लिए चालू बजट पर एक निश्चित प्रभार (fixed charge) लगाया जाए, जो या तो सीधा विकास बजट में या एक स्वतन्त्र विकास निधि में डाला जा सके।

कभी-कभी यह आपत्ति उठाई जाती है कि जिस परिसम्पत् का कोई निश्चित किया जा सकने वाला बाजार मूल्य न हो उन पर एक वाणिज्यिक अवमूल्यन नीति (commercial depreciation policy) नहीं लागू की जा सकती। किन्तु यह अतिशयोक्ति मालूम देती है। स्वीडन के बजट में स्थिर परिसम्पत् का नियमपूर्वक अवमूल्यन किया जाता है, इसके लिए परिसम्पत् को उनके अपेक्षित उपयोगी जीवन-काल के अनुसार वर्गो में बाँट लिया जाता है और तदनुसार ठीक अवमूल्यन काल व दर तय किए जाते है। यह तो स्पष्टतया उत्तरदायित्व नियन्त्रण के हित में आवश्यक है कि एक बार काल तय करके लागू किए जाने के बाद बदले न जाएँ। विधिवत् अवमूल्यन से

इसका पर्याप्त विश्वास हो जाता है कि परिसम्पत् बनाए रखने के आवश्यक प्रबन्ध के लिए पर्याप्त करारोपण किया जाएगा और कि परिसम्पत् के अपने स्तर से गिरने पर नवीकरण कर दिया जाएगा।

जिस बजट लेखा का हमने अभी परीक्षण किया है, वह मूलतः सौदों और वचन बन्धनों (transactions and commitments) का एक प्रशासी अभिलेख ही है। जहाँ तक केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है यह सीधा सम्राट् के वैयक्तिक लेखे में से ही विकसित हुआ है, वैसे ही जैसे प्रारम्भ का वाणिज्यिक लेखा उनके स्वामियों के निजी लेखा से पृथक् नहीं किया जा सकता था। किन्तु जब व्यवसायी उद्यम का विकासी हुआ तो यह अनुभव किया गया कि उस रूप में व्यवसाय की आर्थिक स्थिति प्रभावी ढंग से अभिलिखित नहीं होती। परिणामस्वरूप एक थोड़ी अधिक जटिल पद्धति बनाई गई है जो प्रशासी लेखा से इन बातों में भिन्न है कि वह दिखाती है कि (i) व्यापारी आय *अर्जित* कैसे होती है (मूलतः क्रयों और विक्रयों का अन्तर), (ii) वह संविदात्मक (contractual) भुगतानों (ब्याज आदि) और करों, पूँजी बनाए रखने और शुद्ध लाभ में *विभक्त* कैसे की जाती है और (iii) शुद्ध लाभ प्रयुक्त कैसे होते हैं : नियोजन में, (निजी उद्यम का प्रश्न हो तो) स्वामियों के पारिश्रमिक में, और रिजर्वों में। एक वर्ष की दूसरे से तुलना करते हुए व्यवसाय की पूँजी सम्बन्धी स्थिति में आया परिवर्त्तन एक दृष्टि में देखा जा सकता है। इस प्रकार का लेखा नीचे संक्षेप में दिया गया है :

१. चालन (उत्पादन व्यापारी) लेखा[1]

Operating (Production, Trading) Account

प्राप्तियाँ	भुगतान
१. बिक्री	१. भृतियाँ और वेतन

---

१. इस प्रकार का लेखा बनाने के लिए देखिए J. R. Hicks, the Social Framework, द्वितीय संस्करण, अध्याय १९।

२ साहाय्य व अन्य हस्तान्तरण	२. वस्तुओं व सेवाओं का क्रय
	३. किराया
	४. कर (आय-कर छोड़कर)
	५. *कम* स्टाक्स के मूल्य में वृद्धि और चालू काम
	६. अवमूल्यन के लिए उपबन्ध

संतुलन-मद : शुद्ध चालन आधिक्य
(Balancing item : Net Operating Surplus)

२. विनियोग (आय और व्यय) लेखा
Appropriation (Income and Expenditure) Account

१. शुद्ध चालन आधिक्य	१. ब्याज और लाभांश
२. अवमूल्यन व स्टॉक के समायोजन के लिए उपबन्ध (provision)	२. आय व लाभ कर
३. प्राप्य ब्याज व लाभांश	
४. अन्य देशों में अर्जित आय	

संतुलन-मद : अवमूल्यन और स्टॉक संधारण के लिए विनियोग के पूर्व अवितरित आय (= सकल बचत)

३. पूँजी (बचत/नियोजन) लेखा
Capital (Saving/Investment) Account

प्राप्तियां	भुगतान
१. सकल बचत	१. स्थिर परिसंपत् का प्रतिस्थापन
२. पूंजी हस्तांतरण (शुद्ध प्राप्तियाँ)	२. नवीन आन्तरिक पृंजी निर्माण (क) स्थिर (ख) स्टाक्स में वृद्धि और चालू काम
३. ऋण (शुद्ध परिवर्तन)	३. वित्तीय परिसंपत् का शुद्ध क्रय
४. कर व ब्याज रिज़र्वों में वृद्धियाँ	४. विदेश में शुद्ध नियोजन

संतुलन-मद : रोकड़ में परिवर्तन

यह लेखा मूलत : वही है जो नील पुस्तक में सार्वजनिक निगमों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यहाँ यह बात अविलम्ब सूझे बिना नहीं रहेगी कि यह शासकीय गतिविधि के अन्य प्रकारों के लिए भी लगभग उतना ही उपयुक्त होगा : खाद्य मन्त्रालय व अन्य मन्त्रालयों के व्यापारिक कार्य, डाकघर, और थोड़े समायोजन के साथ राजमार्ग कार्यक्रम [१] तथा कार्य व निर्माण मन्त्रालय [२] उसके आगे यदि यह राजकीय आर्डनैंस फ़ैक्टरियों और सबसे बढ़ कर अस्पतालों [३] के लिए भी प्रयुक्त किया जाए तो न केवल यह द्रव्य के संवितरण पर एक आज से अधिक प्रभावी जाँच होगी बल्कि स्थापनाओं की सापेक्ष दक्षता के निदान का प्रत्यक्ष मार्ग दिखाएगा। एक कार्य में कोई वाणिज्यिक लाभ कमाने की अपेक्षा नहीं है, इस तथ्य के कारण, जहाँ वाणिज्यिक पद्धति

---

१. इस प्रकार के समायोजन के लिए देखिए J. R. Hicks, the Problem of Budgetary Reform, पृ० २६।

२. इसका अर्थ है विभागों से, जिन भवनों का वे प्रयोग करते हैं उनके किराये लेना। उचित अवमूल्यन नीति के साथ इससे दो लाभ हो सकते हैं—भवनों [विशेष रूप से अधिगृहीत (requisition) किए गए भवनों] की अभिधारियों (Occupants) द्वारा अधिक चिन्ता और अधिक योग्य संधारण (maintenance)।

३. संभवतः कहीं भी सरल रोकड़ खाता इतना अपर्याप्त नहीं है जितना राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के लिए। (i) मुख्य कार्यालय में स्वास्थ्य मन्त्रालय के सामान्य कार्य के लिए और सेवा पर अधिकारियों की नियुक्ति में कोई विभेद नहीं किया जाता (ii) आय व पूँजी लेखा के मध्य में असन्तोषजनक वर्गीकरण होने के कारण वास्तविक नियोजन और अपनियोजन क्या है इस आधार पर कुल व्यय में आकस्मिक और पर्याप्त अन्तर आ सकता है : (iii) साहाय्यी विनियोजन, उदाहरणार्थ निर्देशों (Prescriptions) के लिए और अन्य प्रभार (charges) बहुत बड़े होते हैं (जो कि उत्तरदायित्व नियंत्रण को सीमित कर देते हैं), और इसके अतिरिक्त क्योंकि उनकी राशि का पता पहले नहीं लग सकता, वोट पर प्राक्कलन निशाने से बहुत दूर पड़ सकता है; (iv) अस्पताल कई व्यापारिक व अर्द्ध-व्यापारिक कार्य करते हैं जिनका वाणिज्यिक लेखांकन होना चाहिए : सशुल्क रोगी, कर्मचारी वर्ग की भोजन निवास व्यवस्था सब्जियों का उत्पादन व विक्री। इस परिस्थिति में रोकड़ पद्धति त्यागने से उत्तरदायित्व नियन्त्रण वर्तमान से बिगड़ नहीं सकता; अपितु लगभग निश्चित है कि वह बहुत सुधर जाएगा जब कि लेखा को तो कुछ आर्थिक महत्त्व प्राप्त हो ही जाएगा।

का लेखांकन संगत हो वहाँ उसकी स्वीकृति में कोई आपत्ति नहीं आती। बल्कि ध्वनित साहाय्यों के वास्तविक परिमाण को प्रकट करने का कार्य करती है।

जिन सार्वजनिक प्राधिकारियों को सेवाओं के प्रशासन के विपरीत कार्यों का पालन करना होता है उन पर भी वाणिज्यिक ढंग का लेखांकन लागू करना चाहिए यह व्यक्तिगत राय का विषय है; किन्तु क्योंकि सीमास्थित विषयों में रोकड़ आधार प्रभावी नही हो सकता इसलिए इसे बढ़ाकर उन तक लागू कर देने का पक्ष प्रबल है। जब कभी किसी प्राधिकारी को इस प्रकार वाणिज्यिक लेखा दिया जाता है; इसके शुद्ध परिणाम वे सब होते है जो बजट में सम्मिलित होने चाहिएँ; जब तक विस्तृत लेखा सुलभ है बजट की व्यापकता में कमी आने का कोई कारण नहीं।

अब इन विचारों के प्रकाश में बजट के वर्तमान प्रबन्ध की चर्चा की ओर लौटना होगा। १९४८ से १९५४ तक चांसलर का बजट (जैसा हमने देखा है) दो व्यवस्थाओं में प्रदर्शित होता था: "रूढ़" और "वैकल्पिक"। रूढ़ रूप दो भागों में विभाजित होता है "रेखा" के "ऊपर" और "नीचे"; इस में जैसा हमने देखा केवल कानूनी भेद है। रेखा के ऊपर व्यय, प्राक्कलनों में विभागों के संगठनात्मक वर्गीकरण से जुड़ जाता है; रेखा के नीचे जिन ऋण सम्बन्धी सौदों के लिए केन्द्रीय शासन उत्तरदायी है उनकी नाम मात्र राशियाँ क्रम से दर्ज की हुई होती है। मूलतः यही लेखा है जो कोषागार और लोक लेखा समिति उत्तरदायित्व नियन्त्रण के लिए प्रयुक्त करती है और इस में बदल तभी संभव है जब वे अपनी पद्धति को बहुत कुछ बदल दें।

वैकल्पिक वर्गीकरण आंकड़ों का पुर्नविन्यास (rearrangement) मात्र था। "समस्त" ("overall") योग वही थे; किन्तु रेखा के ऊपर (जो इस व्यवस्था में "राजस्व मदें" कहलाते थे) के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधिक्य में अन्तर होता था—कभी-कभी कई लाख पौंड का। यह इसलिए था कि वैकल्पिक वर्गीकरण रेखा के ऊपर से सब पूंजी मदों को हटाने के लिए तुला हुआ था। अब जैसे, प्राप्तियों के पक्ष में प्रकीर्ण (Sundry) उधारों

में पूँजी की वापिसी रेखा के नीचे कर दी गई, और "विविध" (Miscellaneous) का बड़ा भाग अनावर्तक (non-recurrent) प्राप्तियों से बना हुआ ही प्रकट हुआ; व्यय पक्ष एक नवीन और बहुत बार बड़ी मद दर्ज (entry) दिखाई देती थी : "नागरिक व्यय में पूँजी मदें।" किन्तु मूलतः दोनों लेखे उन्हीं आँकड़ों की खिलवाड़ ही थे। वैकल्पिक वर्गीकरण चालू आधिक्य, रूढ़ व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक सत्य के अनिवार्यतः बहुत अधिक समीप नहीं था।[1] संसद् और जनता के लिए एक ही बजट पर दो पूर्णतया भिन्न आधिक्यों का प्रस्तुत किया जाना अत्यन्त गड़बड़ा देने वाली बात थी। फिर, वैकल्पिक वर्गीकरण अब प्राक्कलनों के साथ कोई जुड़ा हुआ नहीं था। अन्ततः दोनों व्यवस्थाएँ स्पष्टतया रोकड़ खाते ही थे जिससे ये नील पुस्तक में सामाजिक लेखांकन के उद्देश्य से व्यवस्थित शासकीय लेखाओं के साथ समेकित नहीं किए जा सकते थे।

यह अनुमान किया जाएगा कि वैकल्पिक वर्गीकरण का न कोई विशेष कार्य था न अनुमति (sanction)। प्रत्यक्ष व्यवहार में चांसलरों को अपने बजट भाषण एक ओर रूढ़ (conventional) वर्गीकरण के इर्दगिर्द बुनने पड़ते थे—क्योंकि वह प्राक्कलनों से जुड़ा होता था, और दूसरी ओर राष्ट्रीय आय श्वेत-पत्र के चारों ओर, क्योंकि आर्थिक सत्य के निकटतम वह था। यद्यपि वह एक भिन्न लेखांकन अवधि से सम्बन्ध रखता था। प्रश्न उठता है कि क्या एक बड़े भूकंप के बिना यह सम्भव नहीं होगा कि दूसरे स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था लाई जाए जो चांसलर के बजट में एक वास्तविक अर्थपूर्णता (meaning fulness) का संचार करे। तीन विशिष्ट दिशाएँ हैं जिनमें वैकल्पिक वर्गीकरण में त्रुटि थी। प्रथम, व्यय पक्ष में चालू और पूँजी मदों में विभेद अपने आप में सन्तोषजनक नहीं था (संभवतः इस कारण कि वह लेखांकन प्रविधि में बहुत विलम्बित अवस्था में लगाया जाता है), और साथ

---

१. Committee on the Form of Government Accounts (*Cmd. 7969*) द्वारा "नागरिक व्यय में पूँजी मदें" इस नाम की मद विशेष रूप से इस आलोचना का विषय बनी कि उस में कई मदें हैं जो पूँजी स्वभाव की हैं या नहीं यह बहुत सन्देहास्पद है।

ही उसने वह कार्यात्मक वर्गीकरण छोड़ दिया जो रूढ़ रूप ने बनाए रखा है। द्वितीय, वस्तुओं, सेवाओं और हस्तान्तरणों में कोई विभञ्जन (breakdown) नहीं था (यह चालू और पूँजी लेखाओं दोनों के विषय में बराबर सच है)। अन्तिम प्रश्न है रोकड़ लेखांकन का।

जब सामाजिक लेखांकन शुरू हुआ, विभागों के लेखा स्वाभाविक रूप से पूर्णतया रोकड़ आधार और परम्परागत वर्गीकरण के अनुसार ही थे; यह भी उन कारणों में से था जिन्होंने सी. एस. ओ. के पहले पग इतने कठिन कर दिए थे। किन्तु अब ऐसी बात नहीं है, अपने कार्य के लिए ही सी. एस. ओ. को सामाजिक लेखांकन की आवश्यकताएँ लगातार विभागों के सामने रखे रहना पड़ता है। वे अब आद्योपान्त (all the way through) सामाजिक लेखांकन के अर्थ में विचार करना सीख रहे हैं, केवल अन्तिम अवस्था में ही नहीं। अतः समय एक नए वर्गीकरण के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है जिसमें वैसा ही विभञ्जन हो जैसा समान तालिकाओं का नील पुस्तक में है। रोकड़ लेखांकन का प्रश्न अधिक कठिन होगा, किन्तु यहाँ भी बिलकुल निराश होने का कोई कारण नहीं।

वित्तीय वक्तव्य लेखाओं और केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय के लेखाओं में, उन श्रेणिओं के अतिरिक्त जिनमें लेखा प्रस्तुत किए जाते हैं, सब से महत्त्वपूर्ण अन्तर निम्नलिखित हैं: व्यय पक्ष में राजकोष (exchequer) से दिए गए और वर्ष के अन्त तक विभागों द्वारा वास्तव में किए गए भुगतान में अन्तर, और राजस्व पक्ष में, वास्तव में प्राप्त हुए राजस्व और वर्ष के कार्य से उपार्जित हुए (accrued) के अनुमान में अन्तर। यह स्वीकार किया जाता है कि व्यापारिक कार्य किसी भी अवस्था में प्रशासी लेखाओं से पृथक् रखना ही अच्छा होगा और (जैसा हमने ऊपर तर्क किया है) अर्द्ध-व्यापारिक विभागों के लिए भी कई अवस्थाओं में उनका अनुकरण ही अच्छा है। ऐसे सुधार जो वित्तीय वक्तव्य को इन दृष्टियों से एक नए वैकल्पिक वर्गीकरण के समकक्ष ला सकें, कदापि असंभव नहीं हैं। वे सरकारी विभागों की गतिविधियों का विशेषतया जो उत्पादन से सम्बन्धित हैं उनका

संपूर्ण प्रोद्भवन (accruals) लेखा बना दें, यह तो नहीं होगा। अभी तक सरकारी लेखों में चल रहे कार्य का अनुमान लगाने का प्रत्यक्ष उपाय सी. एस. ओ. तक के पास नहीं है। तथापि इस प्रकार का लेखा एक बहुत बड़ा सुधार होगा और चालू लेखा आधिक्य का एक अनुमान उपलब्ध करेगा जिसका आर्थिक महत्त्व के रूप में एक ठोस आधार होगा। उसके पश्चात् यदि (सरकारी लेखाओं के स्वरूप सम्बन्धी समिति के अनुरोध के अनुसार) हमारे पास राष्ट्रीय आय और व्यय का एक त्रैमासिक वक्तव्य हो [चाहे कितना ही स्थूल (rough) क्यों न हो], जो श्वेत पत्र लेखाओं को वित्तीय वर्ष के समकक्ष ला सके, तो कम् से एक काम-चलाऊ पुल बन जाएगा जिस पर पग रख कर कोई बाहरी विशेषज्ञ सावधानी से किन्तु पर्याप्त बिना भय के शासन की नीति के आर्थिक ध्वनितार्थों को जनता के सामने इस प्रकार स्पष्ट कर सकेगा जैसा करना आज संभव ही नहीं है।

आर्थिक नीति के युक्तियुक्त संचालन के लिए, लगभग दो शताब्दियों के काल में बहुत धीमी गति से और परिश्रमपूर्वक एक व्यापक यंत्र बनाया गया है। उसके परिणाम किन्हीं अवस्थाओं में कितने भी अपरिशुद्ध क्यों न रहे हों, इस में सन्देह करने का कोई उचित कारण नहीं है कि उसके बिना हमारी स्थिति, जो है उससे कठिनतर होती। आज के तीव्र अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्पर्द्धा से भरे संसार में सामान्य रूप से इस यन्त्र के और विशेष रूप से बजट के श्रमिक परिष्कार (refinement) के लिए जोर देना अर्थशास्त्री का कार्य है। केवल इसी प्रकार राजकोषीय नीति स्थायित्व और वृद्धि के जुड़वाँ उद्देश्यों को सिद्ध करने के कार्य में अपना पूर्ण सम्भाव्य प्राप्त कर सकती है।